॥ श्री ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

११८

महामहोपाध्याय श्री फणिभूषण तर्कवागीश विरचित

न्याय-परिचय

(हिन्दी रूपान्तर)

रूपान्तरकार :

डॉ० श्री किशोरनाथ झा

एम० ए० पी-एच० डी०

(मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा)

सम्पादक :

डॉ० श्री दिनेशचन्द्र गुह

एम० ए० (द्वय), डी० लिट्०, काव्य-न्याय-तर्क (द्वय)-

वेदान्ताचार्य, न्यायालङ्कार, राष्ट्रभाषाकोविद

प्राध्यापक, संस्कृत विभाग : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६८

THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

118

११८

NYĀYA-PARICAYA

(A Handbook of Indian Logic)

OF

M M. PHANIBHŪṢAṆA TARKAVĀGĪŚA

Translated from the Original Bengali into Hindi

by

Dr. KIŚORANĀTHA JHĀ, M.A

Edited by

Dr DINEŚA CHANDRA GUHA,

M. A. (Double), D. Litt.,

Kāvya-Nyāya-Tarka (*Double*)—Vedānta-Tīrtha, Nyāyālankāra,

Rāṣṭrabhāṣākovida, Professor, Department of Sanskrit,

Banaras Hindu University, Varanasi

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1968

महामहोपाध्याय श्री फणिभूषण तर्कवागीश

महामहोपाध्याय श्री प० फणिभूषण तर्कवागीशजी का जन्म ई० १८७६ मे बंगाल के यशोहर जिलान्तर्गत तालखडि गांव मे माघशुक्ल चतुर्दशी (रटन्ती चतुर्दशी) को हुआ था । आपके पूज्य पिता का नाम श्री सृष्टिधरभट्टाचार्य था । भट्टाचार्य जी अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् एवं चरित्रवान् महापुरुष थे । पिता के उदात्त गुण, चरित्र-बल, तथा सनातनधर्म के प्रति *निष्ठा भी आप को उत्तराधिकार मे प्राप्त हुई थी ।*

बाल्यकाल से ही एक परिश्रमी एवं मेधावी छात्र होने के कारण अल्प अवस्था मे ही आप व्याकरण, काव्य, न्याय (नव्य, प्राचीन) तथा अन्य दर्शनो मे भी पारंगत हो गए। अध्ययन समय में आपने विद्यागुरु श्री पं० जानकीनाथ तर्करत्न, वेदान्तवागीश जी को अपने पाण्डित्य से मुग्ध कर उनके अत्यन्त प्रिय शिष्य बन गए । वृद्धावस्था के कारण गुरुजी अपने अन्य विद्यार्थियो को आप से ही अध्ययन करने को कहते तथा स्वयं रात दिन प्रायः साधन और भजन मे लगे रहते थे । आपने काव्यतीर्थ और सांख्यतीर्थ परीक्षा प्रथमश्रेणी मे तथा प्राचीन एव नव्य-न्याय की उस समय की मध्यमा परीक्षा विशेषयोग्यता के साथ उत्तीर्ण की। इस प्रकार आपका अध्ययन तथा अध्यापन दोनों साथ साथ ही चलता रहा ।

बाद मे पावना जिले तथा बगाल मे प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक के रूप मे—यश प्राप्त करते हुए पुण्यश्लोक आदरणीय पंडितप्रवर म० म० श्री लक्ष्मण शास्त्रीजी द्रविड तथा म० म० श्री वामाचरण न्यायाचार्यजी के आग्रह पर आप काशी पधारे । यहाँ आकर भी आपका अध्यापन व्रत कम न हुआ और काशी के प्रसिद्ध टीकमणि संस्कृत कालेज मे आपने अध्यापक पद स्वीकार किया ।

ई० १९२६ में आपको ब्रिटिश सरकार की ओर से सम्माननीय महा-महोपाध्याय उपाधि से विभूषित किया गया । उसी वर्ष आपको गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, कलकत्ता मे न्याय के प्रधानाध्यापक पद को स्वीकार करने का आग्रह आदरणीय म० म० हरप्रसाद शास्त्री जी द्वारा किया गया जिसे आपने सहर्ष स्वीकार किया । योग्यतापूर्वक अपने कार्यभार को सभालते हुए आपने ई० १९३१ मे उक्त पद से त्यागपत्र दे दिया और आप काशी वापस चले आए । किन्तु भारतविख्यात लोकनायक डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी के आग्रह पर आपको कलकत्ता विश्वविद्यालय के न्याय विषय का प्राध्यापक पद को स्वीकार कर पुनः कलकत्ता लौट जाना पड़ा ।

म० म० तर्कवागीशजी संस्कृत-वाङ्मय की विभिन्न शाखाओं के प्रसिद्ध विद्वानों में से एक थे। आपके प्रसिद्ध ग्रन्थों में प्रमुख न्यायदर्शन तथा वात्स्यायन *भाष्य जो ५ विशाल भागों में विभक्त है एवं प्रस्तुत न्यायपरिचय आपकी* प्रतिभाशालिता के ज्वलन्त प्रमाण हैं। आपकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर *तत्कालीन विद्वानों ने आपका जो अभिनन्दन किया था उसका एक अंश इस* प्रकार है —

> साहित्याम्भोधिमन्थोदितरसरसनैरात्तगीर्वाणगर्वं
> नास्तिक्येभेन्द्रकुम्भोद्दलनकृतमतिर्दृप्तपञ्चाननस्त्वम्।
> भाष्ये वात्स्यायनीये भृशमतिगहने व्याकृतिर्या त्वदीया
> सैवाकल्पं समन्ताद् बुधवर भवतः कीर्तिगीतिं विधात्री॥

आपके पाण्डित्य से प्रभावित उस समय के महाराजाधिराज काशिराज श्री प्रभुनारायण सिंह जी द्वारा आपकी निम्नलिखितरूप से प्रशंसा की गयी थी —

> न्याये वैशेषिके च स्फुरति मतिरिति श्रेयसी वाक्कोना
> व्याख्यानं न्यायभाष्ये किमपि रचितवान् वङ्गभाषामयं च।
> जानीते जैनशास्त्रं मतमपि सुमते सौगतं वैष्णवं च
> प्रौढिं धत्ते च मन्वादिभिरपि लपिते धर्मशास्त्रेऽपि बाढम्॥

आपके न्यायभाष्य की प्रशंसा डा० वेनिस, इटालियन विद्वान् डा० जी० तुच्ची, प्रोफेसर एच० एच० इन्गल्स, म० म० डा० गोपीनाथ कविराज जी, म० म० दंपानन तर्करत्न, पं० सुखलालजी आदि कितने ही विदेशी तथा भारतीय विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से की है।

आप विद्वच्छिरोमणि होने के साथ ही अप्रतिग्राही भी थे (अर्थात् प्रतिग्रह नहीं लेते थे)। आप अपने पठन पाठन में इतने तल्लीन रहा करते थे कि कभी-कभी तो आपको भोजन करने तक का ध्यान नहीं रहता था। आप उच्चकोटि के आस्तिक थे, साथ ही 'शास्त्ररक्षा समिति' के संस्थापक म० म० पं० लक्ष्मणशास्त्री जी द्रविड तथा म० म० वामाचरण न्यायाचार्य जी के अनन्य सहयोगियों में से अन्यतम थे। आप हरिनामप्रदायिनी सभा बङ्गीय साहित्यपरिषद्, कलकत्ता संस्कृतसाहित्यपरिषद् आदि कितनी ही संस्थाओं के अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष पद पर वर्षों तक बने रहे। विद्वन्मण्डली में आप न्याय वेदान्त, साहित्य के प्रमुख विद्वान् के रूप में प्रसिद्ध थे।

आपके अनेकों विद्वान् शिष्य काशी में तथा बाहर भी यश सम्पादन कर रहे हैं, जिनमें प्रोफेसर गोपीनाथ भट्टाचार्य (प्रो० प्रजेन्द्रशील) दर्शन विभागाध्यक्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय, डॉ० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य संस्कृत, विभागाध्यक्ष

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय डॉ० दिनेशचन्द्र गुह, प्राध्यापक, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, प० पचानन भट्टाचार्य कलकत्ता विश्वविद्यालय म० म० डॉ० उमेशमिश्र मिथिला, पण्डित बद्रीनाथशुक्ल वाराणसेय स० विश्व विद्यालय, डा० गौरीनाथ शास्त्री उपकुलपति वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, डा० गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय, वर्धमान विश्वविद्यालय, प० आनन्द झा न्यायाचार्य लखनऊ विश्वविद्यालय प्रोफेसर श्री अनन्त लाल ठाकुर मिथिला विद्यापीठ, दरभगा डा० नाथमल टाँटिया आदि के नाम प्रमुख हैं।

अन्त मे काशी मे ही वास करते हुए माघ शुक्ल एकादशी (भैमी एकादशी) को ई० १९४२ मे आपको शिवसान्निध्य प्राप्त हुआ।

१९६४ की माघशुक्ल चतुर्दशी को वाराणसी के सुप्रसिद्ध सागवेदविद्यालय मे काशिराज श्री विभूतिनारायण सिंह के द्वारा आपके तैलचित्र का अनावरण किया गया।

आप अपने पीछे दो सुयोग्य पुत्र भी छोड गए हैं। उनमे प्रथम श्री अहिभूषण भट्टाचार्य एम० ए० (अंग्रेजी तथा इतिहास) साहित्यशास्त्री, प्रिंसिपल, एग्लो बगाली कालेज, वाराणसी मे हैं तथा द्वितीय श्री सुधीभूषण भट्टाचार्य एम० ए० भाषातात्त्विक हैं, जो गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया के नृतत्त्व-विभाग म उच्चपद पर कार्य कर रहे हैं। आप दोना भाई पिता की ही तरह आस्तिक, विनम्र एव सस्कृतप्रेमी हैं। आप दोनो अपने अपने कार्यों द्वारा पिता की महनीयता को दिन प्रतिदिन बढाते हुए अपनी कार्यकुशलता एव उच्चता का परिचय द रहे हैं।

दिनेशचन्द्र गुह

आमुख

इस समय जीवन की वह मांगलिक वेला स्मरण आ रही है जब पूज्यपाद गुरुदेव *श्री अनन्त लाल ठाकुर ने मुझे 'न्यायपरिचय' का हिन्दी में अनुवाद करने* केलिये प्रेरित किया था और मैं उनकी इच्छा साकार करने के लिये यथाशक्य प्रयत्नशील हो गया था।

पूज्य गुरुदेव प्रो० ठाकुर (*मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा*) ने कलकत्ता में म० म० तर्कवागीश जी से न्यायदर्शन का अध्ययन किया था तथा पूज्य पिताजी प० श्रीकृष्णमाधव झा ने भी सन् १९२१ से १९२४ तक वाराणसी के टीकमणि विद्यालय में उन्हीं से न्यायदर्शन की शिक्षा प्राप्त की है। इस प्रकार श्री तर्कवागीश जी उभयथा मेरे परम गुरु सिद्ध होते हैं।

न्यायपरिचय के मूल लेखक म० म० तर्कवागीश जी ने अपनी भूमिका के अन्त में लिखा है— वगीय जातीय शिक्षापरिषद्' ने वसुमल्लिक वृत्ति' देकर मुझसे जो वक्तृताएँ निर्मित कराई थी उन्हीं का संग्रह यह न्यायपरिचय' ग्रन्थ है।

इस कृति के विषय से यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि म० म० तर्कवागीश जी ने न्यायदर्शन की वंगभाषामय विशद व्याख्या (जो पाँच विशाल भागों में प्रकाशित है) लिख कर दर्शन का विश्वकोष ही प्रस्तुत कर दिया है। इस कोटि की व्याख्या अमूचे संस्कृत साहित्य में भी सुलभ नहीं है।

जब मैं मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा में एम ए का छात्र था उस समय पूज्य गुरुदेव प्रो० ठाकुर प्रायः इस ग्रन्थ की चर्चा किया करते थे। घर पर पूज्य पिताजी से बातचीत के प्रसंग में अनायास विदित हुआ कि १२ नवम्बर *१९४० को जब पिताजी गणेशमहाल, वाराणसी के म० म० श्री तर्कवागीश* जी के दर्शनार्थ गए तो उन्होंने स्मृत्यर्थ इस पुस्तक की एक प्रति पिता जी को दी थी। जब मैंने वह प्रति देखी तो उसके मुखपृष्ठ पर बंगाक्षरों में लिखा दिखाई पड़ा—'मदीयप्रियशिष्यश्रीकृष्णमाधवझाख्याकरणीयाध्यायन्यायाचार्याय सादरमुपहृतम्, सततशीर्वादकश्रीफणिभूषणभट्टाचार्येण'। यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि पिताजी उनकी असीम कृपा के भाजन रहे हैं। मेरी दृढ़ धारणा है कि परम गुरुकृपा की वह अजस्र धारा इन्हीं दोनों महापुरुषों द्वारा अवान्तरित होकर अनजाने ही मुझे प्राप्त हो गई और उसी का यह

सुफल है कि आज मुझे इस हिन्दी अनुवाद द्वारा उनकी कृति के प्रचार-प्रसार में योगदान करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अत एव मैं दिवगत पूज्य-चरण परमगुरुदेव को ही कोटिनमनपुरस्सर यह अनुवाद रूप पुष्पाञ्जलि सादर सभक्ति समर्पित करता हूँ।

मिथिलाक्षर जानने के कारण यद्यपि बगाक्षर पढने मे मुझे विशेष कठिनाई नही हुई तथापि इस ग्रन्थ मे आलोचित न्यायदर्शन विषय मे पूज्य गुरुदेव तथा पिताजी के सामीप्यवश ही यत् किञ्चित परिचित हो सका हूँ। इसकी शैली ओजस्विनी होकर भी सरल है तथा भाषा सर्वथा सस्कृतमयी, अत' इसे पूरा पढ़ने तथा तत्वत. समझ लेने के पश्चात् ही मैं इसके अनुवाद कार्य मे प्रवृत्त हुआ और श्री जगदम्बा की कृपा एव गुरुजनों के आशीर्वाद से आज यह कार्य पूर्ण हो गया।

अनुवाद करते समय मैंने सावधानी से क्रियापदो का हेरफेर अवश्य किया है किन्तु कहीं कहीं कौशलपूर्वक विभक्तिरहित सस्कृत शब्द जैसे बगला मे थे वैसे ही हिन्दी मे भी ले लिए हैं। इस प्रकार ग्रन्थ के प्रति शब्द का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

इसे अनूदित करने मे मेरी भावना यही रही है कि प्रचार एव प्रसार के अभाव मे आज तक बगभाषा के अभिज्ञजन ही इसका समुचित उपयोग कर पाते थे, अब यदि टूटी-फूटी हिन्दी मे भी इसका रूपान्तर हो जायगा तो भी विषयवस्तु का उपयोग तो हिन्दी जाननेवाले भी कर सकेंगे, या यो कहा जाय कि राष्ट्रभाषा मे रूपान्तरित हो जाने के कारण प्रत्येक भारतीय इससे लाभान्वित हो सकेगा।

पाठकों को इस अनुवाद मे जो भी दोष दिखाई पड़ें उनका उत्तरदायित्व केवल मेरा है तथा सब प्रकार की उत्तमता का श्रेय परमगुरुदेव को। इसमे दोष अधिक होंगे, इस कल्पना से मुझे विशेष क्षोभ नही है क्योंकि एक तो यह मेरा प्रथम बाल प्रयास है; दूसरे, मीमासाचार्य कुमारिल भट्ट की यह उक्ति भी मेरे समाधान के लिये पर्याप्त है—

> गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
> हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥ (श्लोकवार्तिक)

पूरा अनुवाद लिपिबद्ध हो जाने पर पूज्य गुरुदेव प्रो० ठाकुर तथा गुरुवर महाप्रभुलाल गोस्वामी ने प्रकाशक से वार्तालाप कर इसे प्रकाशित कराया और मुझे पुरस्कृत भी किया। इन महानुभावों की अहेतुकी कृपा का ही फल है कि परमगुरुदेव की कृति के द्वारा विद्वत्समाज से परिचित होने का सौभाग्य मुझे

प्राप्त हुआ। एतदर्थ इन पूज्यचरणों के प्रति आजीवन साभारकृतज्ञताज्ञापन करता हूँ।

सोदरकल्प बन्धुवर श्री मुक्तिनाथ झा एम० ए० (अंगरेजी) ने पूर्ण तत्परता के साथ पूरी पाण्डुलिपि पढ़कर संशोधन का परामर्श दिया है अतः मैं उनके सम्मुख नतमस्तक हूँ।

चौखम्बा विद्याभवन तथा चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी के अध्यक्ष महोदय ने इसके प्रकाशन का भार लेकर मुझे निश्चिन्त कर दिया अतः उन्हें हृदय से धन्यवाद तथा ब्राह्मण होने के नाते आशीर्वाद भी प्रदान करता हूँ।

निर्जला एकादशी
वि० सं० २०२५

विनयावनत
—किशोरनाथ झा

भूमिका

(मं० म० श्री फणिभूषण तर्कवागीश)

(हिन्दीरूपान्तर)

'न्यायशास्त्र में बङ्गालियों की विजय

भक्ति से गदगद् होकर स्वदेश के गौरवगान मे—'वङ्ग आमार, जननी आमार',[1] कहते हुये इस बीसवी शती के प्रसिद्ध कवि द्विजेन्द्रलाल ने भी लिखा है—'न्यायेर विधान दिल रघुमणि'। वही रघुनाथ शिरोमणि अपनी दीधिति व्याख्या के आरम्भ मे लिखते हैं :

'न्यायमधीते सर्वस्तनुते कुतुकान्निबन्धमप्यत्र ।
अस्य तु किमपि रहस्य केचन विज्ञानुमीशते सुधियः ॥

अर्थात् बहुत व्यक्ति न्यायशास्त्र का अध्ययन करते हैं तथा इस शास्त्र के ग्रन्थों की रचना भी करते हैं किन्तु इसके अनिर्वचनीय रहस्य को कम ही विद्वान् समझ पाते हैं।

यद्यपि यह बात बहुतो को अप्रिय लगी होगी किन्तु जिसने यह बात कही है उसने मिथिला में विजय प्राप्त करके सम्पूर्ण भारत मे ही न्यायशास्त्र का एक नया युग निर्माण कर दिया। उसी की अभिनव तथा असाधारण प्रतिभा को लक्ष्य करके कहा गया है—'बङ्ग आमार जननी आमार' और इसीसे सम्पूर्ण भारत मे ही नव्यन्याय का गुरुस्थान बङ्गाल रहा है। प्रसिद्ध युवक कवि सत्येन्द्रनाथ बङ्गालियो का गौरव-गान करते हुए रघुनाथ शिरोमणि के लिये लिखते हैं—'किशोरवयसे पक्षधरेर, पक्ष शातन करि।

बाङ्गालीर छेले फिरे एल घरे यशेर मुकुट परि ॥

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि पहले पहल वासुदेव सार्वभौम ने नदिया से मिथिला जाकर नव्यन्याय की तत्त्वचिन्तामणि पढ़ी, और पुनः नदिया लौटकर इसका अध्यापन किया। रघुनाथ पहले इनसे पढ़कर पश्चात् उस समय के भारत के अप्रतिद्वन्द्वी नैयायिक, सरस्वती के वरदपुत्र पक्षधर मिश्र से पढ़ने के लिए मिथिला गये थे। उसने विचारपूर्वक अपने गुरु पक्ष-

---

[1] बङ्गाल मेरा, माँ मेरी।—अर्थात् बङ्गभूमि मेरी माँ है।

घर के ही मतो का खण्डन करके तत्वचिन्तामणि की अपूर्व व्याख्या दीधिति की रचना की, और नदिया मे एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की, सर्वत्र बङ्गाल मे यह प्रवाद प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध है। खृष्टीय सप्तदश शतक के प्रथम भाग मे गोष्ठीकथा के रचयिता राढीयब्राह्मण प्रसिद्ध विद्वान् पञ्चानन चट्टोपाध्याय (नूलो पञ्चानन) ने भी कहा है :

काणा छोडा बुद्धे दड नाम रघुनाथ।
मिथिलार पक्षधरे, ये करेछे मात ॥'

यह भी चिरप्रसिद्ध है कि रघुनाथ शिरोमणि काने थे अत एव काण भट्ट शिरोमणि नाम से भी उनकी प्रसिद्धि है। यह सर्वथा सत्य है कि रघुनाथ शिरोमणि ने ही नदिया मे नव्यन्याय के नवीन संप्रदाय की स्थापना की तथा भारत भर मे नव्यन्याय के गुरु होकर रहे।

ऐसी बात नहीं थी कि बङ्गाल मे वासुदेव सार्वभौम से पहले अन्य किसी ने न्यायशास्त्र नही पढ़ा था या न्यायशास्त्र का एक भी ग्रन्थ वहाँ प्राप्य नही था। प्राचीन न्याय तथा वैशेषिक दर्शन की विशेष चर्चा बहुत प्राचीनकाल मे ही बङ्गाल में होती आ रही है। खृ० दशम शतक में बङ्गाल के दक्षिण राढ प्रान्त के सुप्रसिद्ध मीमांसक श्रीधरभट्ट न्याय तथा वैशेषिक दर्शन के अद्वितीय विद्वान् हो गये है। उनकी न्यायकन्दली इसका प्रमाण है। प्रशस्तपाद भाष्य की सबसे प्रसिद्ध व्याख्या न्यायकन्दली उनकी अक्षुण्ण कीर्ति है। इन्होने अन्य ग्रन्थो की भी रचना की थी।[1]

श्रीधर भट्ट के बाद राढ़ प्रान्त में उनकी शिष्यपरम्परा भी अवश्य रही होगी। खण्डनखण्डखाद्य के रचयिता महानैयायिक श्रीहर्ष बङ्गाल के ही किसी स्थान मे उत्पन्न हुए थे—इसका प्रमाण मिलता है। महाकवि राजशेखर ने अपने प्रबन्धकोष के उत्तरभाग में श्रीहर्ष को गौड़देशीय कहा है। मिथिला के महाकवि विद्यापति ठाकुर ने भी पुरुषपरीक्षा मे यही बात दुहरायी है। श्रीहर्ष के नैषध चरित महाकाव्य के पद्यों मे किसी किसी स्थल पर यमक तथा अनुप्रास को इस दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि बङ्गदेशीय वर्णोच्चारण का ही उनको अभ्यास था।[2]

---

१ श्रीधर भट्ट ने न्यायकन्दली मे स्वरचित अद्वयसिद्धि, तत्त्वप्रबोध तथा तत्त्वसंवादिनी इन तीन ग्रन्थो का उल्लेख किया है। किन्तु इनमें से एक भी ग्रन्थ मुझे दृष्टिगोचर नहीं हुआ है।

२ नैषधचरित मे-'अमीतवस्तस्य विभूषित सितम्' (१।४७) प्रसून-सूत्रैस्तरगर्भगह्वरम्। (१।९४।) मनस्तु य नोज्झति जातु यातु' (१।३९)

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि कान्यकुब्ज से वङ्गाल में आए हुए भारद्वाज गोत्रीय श्रीहर्ष नैषधचरित के रचयिता नहीं हैं। नैषधचरितकार उनसे परवर्ती हैं। इनके पिता का नाम श्री हरि और माता का नाम मामल्लदेवी था। नैषधचरित के सर्गान्त में आत्मपरिचय देते हुए और भी कितनी बातें इन्होंने कही हैं। श्रीहर्ष के गौडदेशीय होने में भले ही विवाद रहा हो किन्तु इसमें विवाद नहीं है कि प्राचीन विद्वान् महादार्शनिक श्रीधर भट्ट जिनकी न्यायकन्दली व्याख्या है, गौडदेशीय ही थे।

न्यायकन्दली के अन्त में श्रीधरभट्ट की अपनी उक्ति से ही ज्ञात होता है कि गौड देश के दक्षिण राढ़ प्रान्त में पुण्यकर्मा ब्राह्मणों एवं श्रेष्ठियों का आवास भूरिसृष्टि नामक प्रसिद्ध गाँव में रहा है।[1] इस स्थान में इनके पिता मह का जन्म हुआ था। वे बृहस्पति के सदृश पण्डित थे। उनके पुत्र (श्रीधर के पिता) बलदेव परम विद्वान् एवं यशस्वी व्यक्ति थे। इनकी धर्मपत्नी अब्बोका देवी ने विशुद्ध कुल में जन्म लिया था। अत एव कुलीना तथा बहुत गुणवती थी। उस देश के तात्कालिक अधिपति कायस्थ कुलतिलक पाण्डुदास की प्रार्थना से श्रीधरभट्ट ने—'त्र्यधिकदशोत्तरनवशतशकाब्दे' अर्थात् ९१३ शकाब्द में, ई० सन् ९९१ में न्यायकन्दली की रचना की थी।[2]

जागति यागेश्वर.' (१२।३८) सख्य मीक्षते (१।३८) अबोधि तज्जागर दु.खसाक्षिणी (१।४९) नद्यैः किलाख्याथि विलिख्य पक्षिणा। (९।६६) और भी कितने स्थल द्रष्टव्य हैं। सख्यमीक्षते, दु खसाक्षिणी इत्यादि स्थलों में श्रीहर्ष ने खकार तथा क्षकार का बङ्गदेशीय एकरूप उच्चारण ही किया है—ऐसा प्रतीत होता है।

१ श्रीधरभट्ट भी लिखते हैं—'आसीद्दक्षिणराढाया द्विजानां भूरिकर्मणाम्। भूरिसृष्टिरिति ग्रामो भूरिश्रेष्ठिजनाश्रयः'। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में श्रीकृष्ण मिश्र भी लिखते हैं—'गौडराष्ट्रमनुत्तम निरुपमा तत्रापि राढा ततो भूरिश्रेष्ठिकनाम धाम परमं तत्रोत्तमो न. पिता'। इसमें सन्देह नहीं कि गौड राज्य में राढापुरी के अन्तर्गत श्रीधरभट्ट के 'भूरि सृष्टि' गाँव को ही श्रीकृष्णमिश्र ने उक्त श्लोक में 'भूरिश्रेष्ठिक' नाम से उल्लेख किया है। यहाँ व्याख्याकार का कहना है—'भूरिश्रेष्ठिग्रामस्य अधुना 'भुरसुट्' इति प्रसिद्धिः।' वस्तुतः वर्तमान हुगली जिला में भुरसुट अति प्रसिद्ध स्थान है जहाँ रायगुणाकर भारतचन्द्र ने भी जन्म लिया है।

२. ऐतिहासिकों का कहना है कि खृ० दशम शतक के अन्त या ग्यारहवाँ शतक के आदि में राढ़ा प्रान्त के अधिपति कायस्थराज पाण्डुदास बौद्ध धर्म के

श्रीधरभट्ट के बाद ग्यारहवीं शती में राढ़ देश के राजा हरिवर्म देव के *मन्त्री 'सिद्धल' गाँव के रहने वाले महामीमांसक भवदेव भट्ट ने अनेक ग्रन्थों* की रचना की तथा वे प्रसिद्ध पण्डित हुए। भुवनेश्वर में अनन्त वासुदेव के मन्दिर में खुदी हुई प्रशस्तियों में इनका सकल शास्त्रविषयक पाण्डित्य तथा इनकी विभिन्न कीर्तिगाथाएँ वर्णित हैं। न्यायशास्त्र में विशिष्ट पाण्डित्य के बिना भवदेव जैसा मीमांसक नहीं हो सकता। बारहवीं शताब्दी में महाराज लक्ष्मणसेन के राज्यकाल में बङ्गाल में हलायुध आदि मीमांसक विद्वान् तथा बहुत नैयायिक हो गये हैं। मैंने प्रवादरूप में वृद्धों से सुना है कि लक्ष्मणसेन की राजसभा में उनका यशोवर्णन करते हुए किसी कवि ने उपस्थित बङ्गाल के *नैयायिकों को लक्ष्य करके कहा है—*

"भावादभावाद्यदि नातिरिक्तः सबन्धिभिः स्वीक्रियते पदार्थः।
जन्याऽविनाशि प्रतियोगिशून्यं श्रीलक्ष्मणक्षौणिपतेर्यशः किम् ॥"

अभिप्राय यह है कि नैयायिक के मत में पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—भाव तथा अभाव। इससे भिन्न पदार्थ का तीसरा प्रकार नहीं माना जाता।

उपर्युक्त श्लोक के द्वारा कवि कहता है कि सम्बन्धीवृन्द (समवाय आदि *विभिन्न सम्बन्धों को जो कहता है अर्थात् नैयायिकगण) यदि भाव और* अभाव से भिन्न प्रकार का पदार्थ नहीं मानते हैं तो भूपति श्री लक्ष्मणसेन का यश कौन सा पदार्थ है? वह भावपदार्थ नहीं हो सकता। क्योंकि लक्ष्मणसेन का यश जन्य होने पर भी अविनाशी है। वह (यश) नानागुणों से युक्त होने पर भी अविनश्वर है। और जन्य भावपदार्थ नियमतः नश्वर ही होता है। इसी तरह वह *अभावपदार्थ में भी अन्तर्भूत नहीं हो सकता।* कारण, यह (यश) प्रतियोगिशून्य है (उस यश का कोई प्रतियोगी अर्थात् विरोधी नहीं है) और अभाव सप्रतियोगिक ही होता है अर्थात् उसका प्रतियोगी अवश्य होता है। प्रतियोगी से रहित कदापि अभाव नहीं होता। अत एव लक्ष्मणसेन का यश अभाव पदार्थ भी नहीं हो सकता है। अत एव सम्बन्धियों के मत में— *'श्रीलक्ष्मणक्षौणिपतेर्यशः किम्' ?*[1]

अवलम्बी थे। किन्तु न्यायकन्दली में बौद्ध मतों का जिस तरह से प्रतिवाद देखा जाता है उसमें तथा प्रसङ्गवश-'गुणरत्नाभरणः कायस्थकुलतिलकः पाण्डुदास' कहकर जो प्रशंसा की गई है उससे प्रमाणित होता है कि पाण्डुदास बौद्ध संप्रदाय का विरोधी रहा होगा। पश्चात् वहीं का कोई दूसरा राजा बौद्ध धर्म का अवलम्बी हुआ होगा।

१ यहाँ यह जानना आवश्यक है कि नैयायिकगण समवाय आदि विभिन्न

सेन राज्य के समाप्त हो जाने पर मुसलमान राज्य के आरम्भ मे बङ्गाल मे मीमांसक एवं नैयायिक प्रचुर मात्रा मे रहे हैं। उत्तर बङ्गाल के 'नन्दन-वासि' गाँव मे वारेन्द्र ब्राह्मण कुल के प्रदीप दिवाकर भट्ट के सुपुत्र प्रसिद्ध विद्वान् कुल्लूक भट्ट ने, जो पश्चात् काशी में रहने लगे थे, मनुसंहिता की व्याख्या की है। उसके प्रारम्भ में वे लिखते है— 'मीमांसे बहुसेवितासि सुहृत्तर्का समस्तास्य मे'। कुल्लूक भट्ट के बाद उसी प्रान्त मे राजा गणेश के सभापण्डित रायमुकुट बृहस्पति व्याकरण के असाधारण विद्वान् हो गये हैं। इन्होंने अमरकोष आदि की व्याख्या लिखा है। स्मृतिकण्ठहार नामक स्मृति निबन्ध भी इनका बहुत प्रसिद्ध है। बङ्गाल के प्राचीन स्मृति ग्रन्थ दायभाग के रचयिता जीमूतवाहन तथा शूलपाणि आदि विद्वान् न्यायशास्त्र को अच्छी तरह जानते थे। अन्यथा दायभाग आदि निबन्धो मे इस तरह का विचार सम्भव ही नही है।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन काल मे भी बङ्गदेश मे न्यायदर्शन की विशेष चर्चा रही है। बङ्गाल के कितने विद्वान् अन्य प्रान्तों मे बसकर मिथिला के नव्यन्याय का भी अध्ययन एव अध्यापन करते रहे है। उस समय नदिया मे नव्यन्याय सम्प्रदाय की स्थापना नही हुई थी। पश्चात् वासुदेव सार्वभौम तथा प्रधानत. उनके शिष्य रघुनाथ शिरोमणि ने नदिया में नव्य-न्याय सम्प्रदाय की स्थापना की। किसी समय मे वे लोग मिथिला भी गये थे— इत्यादि विषय भी विचार करने मे प्रतीत होता है। किन्तु इससे पूर्व इन लोगो का कुछ परिचय कहना आवश्यक है।

वासुदेव सार्वभौम तथा रघुनाथ शिरोमणि

नदिया के विशारद के पुत्र महानैयायिक वासुदेव सार्वभौम सार्व-भौम भट्टाचार्य नाम से प्रसिद्ध थे। ये उडीसा के स्वाधीन राजा गजपति प्रताप रुद्र के सभापण्डितरूप में पुरीधाम मे रहा करते थे। खृ० १५१० मे श्री चैतन्यदेव के पुरीधाम पधारने पर सार्वभौम इनके परम भक्त हो गये।

संबन्धों को मानते हैं अतएव उक्त श्लोक में इन्हीं लोगों को 'संबन्धी' शब्द से कवि कहता है। किन्तु इस शब्द मे जो उपहास व्यङ्ग्य होता है वह बङ्गाल के नैयायिकों को ही लक्ष्य कर किया गया है। बङ्गाल मे ही शाला को (पत्नी के भाई को) 'संबन्धी' कहने की प्रथा है। मिथिला आदि प्रान्तों में दामाद को भी संबन्धी कहा जा सकता है। अन्य देश के नैयायिकों को इस तरह संबन्धी कहा जाय तो वे उपहास नहीं समझ सकेंगे।

श्री चैतन्य चरितामृत के मध्यलीला के छठे परिच्छेद में कविराज गोस्वामी जी ने भी कहा है कि सार्वभौम भट्टाचार्य पुरीधाम में अपने बहनोई गोपीनाथ आचार्य के समक्ष श्री चैतन्यदेव को परिचय पूछने पर उन्होंने कहा था कि ये नदिया के जगन्नाथ मिश्र का पुत्र तथा नीलाम्बर चक्रवर्ती का दौहित्र हैं। इनका पूर्वाश्रम का (सन्यास से पहले का) नाम विश्वम्भर था। पश्चात् वासुदेव सार्वभौम ने कहा था कि नीलाम्बर चक्रवर्ती मेरे पिता विशारद के सहपाठी थे। जगन्नाथ मिश्र को भी ये (मेरे पिता) बहुत आदर करते थे। पितार संबन्धे दोहा पूज्य करि मानि'। एव—'नदीया सबन्धे सार्वभौम तुष्ट हइला। प्रीत हजा गोसाजिरे कहिते लागिला'। कविराज गोस्वामी के इस वर्णन से स्पष्ट ही विदित होता है कि ये भी सार्वभौम भट्टाचार्य को नदीया के विशारदपुत्र वासुदेव सार्वभौम के रूप में ही जानते थे। तो भी कितन व्यक्ति बिना किसी प्रमाण का ही सार्वभौम भट्टाचार्य को वेदान्ती वासुदेव सार्वभौम कहा करते हैं एव बहुतो की तो यह धारणा है कि इनके वासुदेव सार्वभौम नाम होने में भी सन्देह है।

वस्तुत लक्ष्मीधर के अद्वैतमकरन्द की व्याख्या में इस सार्वभौम भट्टाचार्य की अपनी उक्ति से ही प्रतीत होता है कि यही गौडदेशवासी आचार्य वासुदेव सार्वभौम थे। बङ्गला में लिखित यह व्याख्याग्रन्थ पुरीधाम के शङ्करमठ म विद्यमान है। इसका लिपिकाल १५५१ शकाब्द है। डॉ० राजेन्द्र-लाल मित्र महोदय ने भी इस ग्रन्थ का विवरण लिखा है। उक्त ग्रन्थ के मङ्गला-चरण के बाद व्याख्याकार लिखते हैं—'श्रीवासुदेवविदुषा गौडाचार्येण यत्नत। अद्वैतमकरन्दस्य क्रियते परिशोधनम्'।

किन्तु इस व्याख्या के अन्त में लिखित—'श्री वन्द्यान्वय' इत्यादि श्लोक से विदित होता है कि ये नरहरि विशारद के पुत्र हैं। नरहरि वन्द्यवंशरूप कुमुद के चन्द्रस्वरूप थे तथा वेदान्त के असाधारण विद्वान् थे।[1] विशारद

---

१ श्रीवन्द्यान्वयकैरवामृतरुचो वेदान्तविद्यामयाद्
भट्टाचार्यविशारदान्नरहरेर्य प्राप भागीरथी।
गौडाचार्यवरेण तेन रचिता लक्ष्मीधरोक्तेरियम्
शुद्धि काचन वासुदेवकृतिना विद्वज्जनप्रीतये ॥
[illegible]दिश्वरकृष्णरायन्नृपनेर्यद्वाग्निनिर्वापको
यत्र [illegible]धरोऽभवद्गजपति श्रीरुद्रभूमिपति।
तस्य [illegible]पादपद्मनस श्रीकूर्मविद्याधर-
स्यानन्दो मकरन्द[illegible]दिविधिना शान्तो मयामन्त्रित ॥

इनके पाण्डित्य की उपाधि थी। अतएव विशारद भट्टाचार्य नाम से भी इनकी प्रसिद्धि है। राढ़ीय कुलग्रन्थ से भी प्रतीत होता है की नरहरि विशारद बङ्गाल के सुप्रसिद्ध व्यक्ति आखण्डल वन्द्योपाध्याय का सन्तान थे और उनका बड़ा लड़का वासुदेव सार्वभौम नामक व्यक्ति था।

वासुदेव सार्वभौम की उक्त व्याख्या के अन्त मे जो 'कर्णाटेश्वर' इत्यादि पद्य है उससे ज्ञात होता है कि किसी समय मे कर्णाटदेश के अधिपति कृष्णदेवराय के साथ उड़ीसा के भूपति प्रतापरुद्र का प्रबल विरोध था। उसी समय मे कूर्मविद्याधर को राज्यभार देकर प्रतापरुद्र भय से निश्चिन्त हो गये तथा उन्होंने विजय के लिये यात्रा की। कूर्म विद्याधर अद्वैत वेदान्त मे विशेष अनुराग रखने थे एवं ब्रह्मविचार में इनका मनोयोग अधिक रहता था। सार्वभौम भट्टाचार्य ने उन्हीं के इच्छानुसार अद्वैतमकरन्द ग्रन्थ के प्रतिपाद-खण्डन के द्वारा समर्थन करके उनको अधिक प्रसन्न किया था। अन्तिम पद्य में ऐतिहासिको के लिये बहुत सी विचारणीय बातें हैं।

अद्वैतमकरन्द के व्याख्याकार वासुदेव सार्वभौम प्रतापरुद्र के सभापण्डितरूप मे पुरी मे रहते हुए अनेक कारणो से अद्वैत वेदान्त की विशेष चर्चा करते थे। उसी समय से उस देश मे उन्होंने अद्वैत वेदान्ती नाम से प्रसिद्धि पा ली। किन्तु इसी वासुदेव सार्वभौम ने मिथिला मे नव्यन्याय पढ़कर नदिया के विद्यानगर के विद्यालय मे पहले नव्यन्याय का अध्यापन किया था। इन्होंने भी अपने मत के अनुसार नव्यन्याय के अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। इनके

यहाँ उपर्युक्त प्रथम पद्य के द्वितीय चरण मे—नरहरेर्य प्राप भागीरथी, इस पाठ को मानकर–'भागीरथी - माता, नरहरे = शिशु यं प्राप' इस तरह से व्याख्या करने से प्रतीत होता है कि वासुदेव सार्वभौम के पिता नरहरि थे तथा माता भागीरथी थी। किन्तु चैतन्यचरितामृत में (मूल बगला पुस्तक से मिलान कीजिये) लिखते हैं— सार्वभौम पिता विशारद महेश्वर'। नदिया काहिनी मे एक पाद टीका मे लिखा है कि सार्वभौम के पितामह नरहरि विशारद थे। मैंने इसी मत के अनुसार प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम संस्करण में भूमिका भाग में नदिया काहिनी को ही आधार मानकर इस विषय में निर्णय किया था किन्तु बाद में विचार करने से पता चला कि नरहरि विशारद सार्वभौम के पिता थे। राढ़ीय कुलपञ्जिका में भी देखा गया है कि नरहरि के पुत्र वासु देव थे। सम्भवत इसी नरहरि को पश्चात् महेश्वर विशारद कहा जाने लगा। अथवा उनका दूसरा नाम महेश्वर रहा होगा। इसी को लेकर वृन्दावन दास ने उस तरह से लिखा है। बहुत विद्वानों ने भी इसी तरह का अपना निर्णय दिया है।

विशिष्ट सिद्धान्त 'सार्वभौममत' नाम से प्रसिद्ध हैं। किन्तु इनका पुत्र जनेश्वर उडीसा में रह कर तत्रत्य नरेश से 'वाहिनीपति महापात्र' की उपाधि प्राप्त की थी। ये भी अपने पिता से नव्यन्याय पढ़कर महानैयायिक हुए एवं इन्होंने नव्यन्याय के अनेक ग्रन्थों की रचना की। इन्होंने अपने उस ग्रन्थ में—'अस्माकं पैतृक पन्था.' शब्द से अपने पिता वासुदेव सार्वभौम के विशिष्ट मत का उल्लेख किया है। पक्षधर मिश्र के आलोक की व्याख्या इन्होंने जो की है उसकी एक प्रति काशी सरस्वती भवन में सुरक्षित है। उस ग्रन्थ का लिपिकाल १६४२ सवत् (वि० १५८५) है। इसके लिये देखिए—Saraswati Bhavan Studies Vol IV pp 69 70

वासुदेव सार्वभौम के छोटे भाई रत्नाकर विद्यावाचस्पति थे। ये विद्यावाचस्पति नाम से ही प्रसिद्ध थे। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की व्याख्या के अन्त में सनातन गोस्वामी अपने गुरु वर्गों का नाम कहते हुए पहले ही लिखते हैं—'भट्टाचार्यं सार्वभौमं विद्यावाचस्पतीन् गुरून्'। श्री चैतन्यदेव के जन्म से पहले सनातन गोस्वामी जब पढ़ने थे उसी समय सार्वभौम भट्टाचार्य नदिया में अध्यापन करते थे। इनके छोटे भाई विद्यावाचस्पति ही सनातन गोस्वामी के मुख्य गुरु रहे हैं। इसीसे इन्हो ने उक्त श्लोक में '-गुरून्'-यह बहुवचनान्त प्रयोग किया है। इस विद्यावाचस्पति के पुत्र काशीनाथ विद्यानिवास विविध शास्त्रों के मर्मज्ञ होते हुए न्यायशास्त्र के निष्णात विद्वान् थे। ये भी विद्यानिवास भट्टाचार्य नाम से ही प्रसिद्ध थे। इनका पुत्र रुद्रनाथ तथा विश्वनाथ न्यायशास्त्र के अनेक ग्रन्थों के रचयिता तथा ख्यातिलब्ध विद्वान् हुए। इसी विश्वनाथ की रचना भाषापरिच्छेद, मुक्तावली और न्यायसूत्रवृत्ति है। ये उन वासुदेव सार्वभौम के भतीजा विद्यानिवास भट्टाचार्य के पुत्र थे। विद्यानिवास तथा विश्वनाथ के विषय में पुन बाद में कहा जाएगा।

बङ्गाल के सुप्रसिद्ध एव पूज्य आखण्डल बन्द्योपाध्याय की सन्तान वासुदेव सार्वभौम का कुल परिचय राढ़ीय ब्राह्मण कुल ग्रन्थ में वर्णित है। किन्तु इनके शिष्य रघुनाथ शिरोमणि का कुलपरिचय किसी कुल ग्रन्थ में नहीं मिलता है। 'श्रीहट्टेर इतिवृत्त' नामक पुस्तक में ख्यातिलब्ध विद्वान् श्रीयुत अच्युतचरण चौधुरी तत्त्वनिधि महोदय ने श्रीहट्ट के वैदिक संवादिनी ग्रन्थ के अनुसार लिखा है कि श्रीहट्ट के 'पञ्चखण्डवासी' कात्यायन गोत्र वैदिक श्रेणी के ब्राह्मण गोविन्द चक्रवर्ती के छोटे पुत्र रघुनाथ ही प्रसिद्ध रघुनाथ शिरोमणि हैं'। इन्हीं के बड़े भाई रघुपति ने इस देश के राजा सुबिद नारायण की लड़की रत्नावती से विवाह किया। इस राजा के

कुल में दोष रहने से समाज मे इनकी बडी अप्रतिष्ठा हुई। क्रमिक यह कलङ्क अधिक दुःखद प्रतीत हुआ। इसी से इनकी विधवा माँ सीतादेवी कनिष्ठ पुत्र रघुनाथ को साथ लेकर नदिया आई और वासुदेव सार्वभौम के हाथ मे उस पुत्र को दे दिया। इस नवीन मत का विशेष विवरण बङ्गाब्द १३११ मे प्रकाशित साहित्य परिषत् पत्रिका में अच्युतचरण चौधुरी के प्रबन्ध मे देखिए। पश्चात् *विश्वकोष आदि प्रसिद्ध ग्रन्थो में यह मत बिना किसी सोच विचार* के रख दिया गया है। किन्तु श्रीहट्ट के वही रघुनाथ नदिया के रघुनाथ शिरोमणि थे–इसमें प्रबल प्रमाण नहीं देखकर विद्वानो ने इस मान्यता का खण्डन भी किया है। सन् १३२० साल में ढाका से प्रकाशित 'प्रतिभा' पत्रिका (संख्या ग्यारह) मे श्री उपेन्द्र चन्द्र गुह महोदय ने ऐतिहासिक विचार के द्वारा सिद्ध किया है कि श्रीहट्टदेश का राजा नारायण नदिया के रघुनाथ शिरोमणि का समसामयिक नही था। अतएव इस राजा का दामाद रघुपति का छोटा भाई रघुनाथ रघुनाथ शिरोमणि नही हो सकता। श्रीहट्ट के ख्यातिलब्ध विद्वान् पद्मनाथ विद्याविनोद एम. ए महोदय ने भी पश्चात् उपर्युक्त मत का विरोध ही किया है।[1]

मैं यह जानता हूँ कि श्रीहट्ट के वृद्ध विद्वानो का यह विश्वास रहा है कि रघुनाथ शिरोमणि ने श्रीहट्ट मे ही जन्म लिया था भले ही वे गोविन्द चक्रवर्ती के पुत्र नहीं हो। इस प्रान्त के भी कितने विद्वान् इसका समर्थन करते आए हैं। किन्तु प्रायः दस वर्ष पूर्व नदिया के कान्तिचन्द्र राढ़ी महोदय नदिया निवासी विद्वानों की दन्तकथा को आधार मानकर नवद्वीप महिमा में लिख गये हैं कि रघुनाथ शिरोमणि का जन्म नदिया में ही हुआ है। उक्त महोदय ने इस विषय में मतान्तर सुने भी नहीं थे।

---

१ शिलचर से प्रकाशित 'शिक्षासेवक' नामक त्रैमासिक पत्रिका में (१३३७ श्रावण संख्या) पद्मनाथ विद्याविनोद महाशय ने लिखा है—'किसी किसी का कहना है कि रघुनाथ का घर 'पञ्चखण्ड' मे था। यह कात्यायन गोत्र के ब्राह्मण थे तथा राजा सुविद नारायण के दामाद रघुपति के छोटे भाई थे। इत्यादि। मैंने इन्हीं लोगो के मत पर दृढ़ रहकर 'विजया' पत्रिका मे (१९१९ चैत्र संख्या) 'श्रीहट्टेर काणा छेले' शीर्षक निबन्ध मे इसी मान्यता का प्रतिपादन *किया था किन्तु अब लगता है कि इस मान्यता में कुछ भी तथ्य नहीं है।* रघुनाथ यदि श्रीचैतन्यदेव के समसामयिक रहते तो वे राजा सुविद नारायण के दामाद रघुपति के सहोदर भाई नहीं हो सकते हैं। विजया मे 'श्रीहट्टेर काणा छेले' शीर्षक निबन्ध में जो *बातें कही गई थीं वे किंवदन्तीमूलक ही रही* हैं, इतिहास उनका साक्ष्य नहीं देता।

सन् १३१८ बङ्गाब्द मे प्रकाशित 'नदिया काहिनी' मे राणाघाट के बाबू कुमुदनाथ मल्लिक ने लिखा है—'रघुनाथ ने ख़ृ० पञ्चदश शतक के अन्त भाग मे नदिया के एक दुःखी परिवार मे जन्म लिया था'—यह भी एक मत है—इत्यादि (पृ० ११२)

पश्चात् वीरभूम के प्रसिद्ध ऐतिहासिक कालीप्रसन्न बन्द्योपाध्याय महाशय *'मध्ययुगेर वाङ्गला'* मे (पृ० ६१) लिख गये हैं—'रघुनाथ शिरोमणि ने वर्धमान जिला के 'कोटामानकर' नामक स्थान में राढ़ीय ब्राह्मण कुल मे जन्म लिया था। बाल्यावस्था मे ही ये पितृहीन हो गये। इनकी माँ ने इनके भरण-पोषण के लिये नदिया जाकर किसी परिवार मे आश्रय ढूँढा। इस काना बालक रघुनाथ की बुद्धि के विषय पर भविष्य मे तरह तरह की बातें उठी हैं। कालीप्रसन्न बाबू अपने मत के समर्थन के लिये किसी-किसी पण्डित की दन्तकथा को भी कहते हैं[1]। किन्तु मतविशेष मे दुराग्रह छोड़ कर विचार के लिये विभिन्न विद्वानो की बातो को देखना चाहिए।

रघुनाथ शिरोमणि की जन्मभूमि तथा कुल परिचय के विषय में उपयुक्त प्रमाण उपलब्ध नही होने पर किसी की दन्तकथा या विभिन्न प्रवादों को आधार मानकर तथ्य निर्णय करना या विवाद निवृत्ति करना समुचित नहीं है। जो भी हो, रघुनाथ शिरोमणि जहाँ कहीं भी जिस किसी भी वंश में जन्म ग्रहण करें किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि यही नदिया के रघुनाथ शिरोमणि बङ्गाल के मस्तकमणि हुए। और इसमे भी विवाद नहीं है कि उसी रघुनाथ शिरोमणि ने नदिया से मिथिला जाकर पक्षधर मिश्र से पढ़ा था। किन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि ये किस समय मे मिथिला गये थे।

पहले ही कहा जा चुका है कि वासुदेव सार्वभौम ने पञ्चदश शताब्दी के अन्त मे नदिया मे श्रीचैतन्यदेव के आविर्भाव से (ख़ृ० १४८६) कुछ पहले या

---

१ ये टिप्पणी मे लिखते हैं—४५ वर्ष तक नदिया से सम्बन्ध रहने से मैं नदिया की अनेक दन्तकथाएँ तथा कहानियाँ जानता हूँ। रघुनाथ शिरोमणि को नदिया के ब्राह्मण अपना ही मानते हैं। कुछ दिन पहले तक भी इनके वंशज नदिया में रहते थे। पाँचवर्ष पूर्व म० म० अजितनाथ न्यायरत्न ने मुझे लिखा था कि नदिया के 'आम्पुलिया' मुहल्ले मे उनके (शिरोमणि के) वंशधर रामतनु न्यायालङ्कार रहते थे। मैंने उन्हें देखा है। इसमें सन्देह का लेश भी नहीं है कि रघुनाथ राढ़ीय ब्राह्मण थे। भट्टपल्ली निवासी म० म० *शिवचन्द्र सार्वभौम* महोदय ने भी मुझसे कहा था कि गुरुपरम्परा से भी प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि कोटामानकर शिरोमणि की पितृभूमि रही है।

बाद में उडीसा के लिये यात्रा की थी। नदिया मे जब ये रहते थे तब चैतन्यदेव का परिचय इन्हें नहीं था। इन्होंने पुरीधाम में श्री चैतन्यदेव का दर्शन किया और वहीं उनके बहनोई गोपीनाथ आचार्य के समीप में सन्यासी श्री चैतन्यदेव का गार्हस्थ्य आश्रम का परिचय पूछने पर ज्ञात हुआ। इसमे कुछ भी प्रमाण नहीं है कि रघुनाथ शिरोमणि अपने अध्ययन काल मे नदिया में श्री चैतन्यदेव से परिचय भी किया हो। **नवद्वीपमहिमा** मे लिखी गई कल्पित कथा को प्रमाण नहीं माना जा सकता है। **'अद्वैत-प्रकाश'** में भी **रघुनाथ शिरोमणि** का नाम नहीं है। इस तरह विभिन्न कारणों से विदित होता है कि वासुदेव सार्वभौम की उडीसा यात्रा के बाद ही रघुनाथ मिथिला जाकर **पक्षधर मिश्र** से पढे होंगे। पक्षधर मिश्र को यदि खृ० पञ्चदश शतक से पूर्ववर्ती कहा जाय तो यह सभव ही नहीं होगा। अतएव विचार के द्वारा इन दोनो असाधारण गुरु-शिष्य का समय निर्धारण करना आवश्यक जान पड़ता है।

'पक्षधर मिश्र तथा रघुनाथ शिरोमणि का काल-निर्णय'।

किसी के मत स **पक्षधर मिश्र** खृ० पञ्चदश शतक के पूर्ववर्ती हैं तथा मिथिला के यज्ञपति उपाध्याय के शिष्य रहे हैं। मिथिला के शङ्करमिश्र तथा निबन्धकार स्मार्त वाचस्पति मिश्र इनसे अर्वाचीन हैं। विभिन्न कारणो से यह मत हम लोगों को मान्य नहीं है। इसमे कितने कारण हैं—पक्षधर मिश्र का

---

१ **गङ्गेश उपाध्याय** की **तत्त्वचिन्तामणि** की **आलोक** व्याख्या मे **पक्षधर मिश्र** आरम्भ में ही लिखते हैं—'अधीत्य जयदेवेन हरिमिश्रात् पितृव्यत', इससे विदित होता है कि पक्षधर का प्रकृत नाम **जयदेव** था। इन्होंने अपने चाचा **हरिमिश्र** से ही शास्त्रों को पढ़ा था तथा इस व्याख्या की रचना की। विभिन्न ग्रन्थों के रचयिता मिथिला के प्रसिद्ध विद्वान् **रुचिदत्त** अपनी व्याख्या के आरम्भ मे लिखते हैं— अधीत्य रुचिदत्तेन जयदेवाद् जगद्-गुरो'। ये (रुचिदत्त) उक्त जयदेव के ही छात्र रहे हैं। जयदेव का पक्षधर नाम होना सकारण है। बाल्यावस्था मे ही अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल पर ये जिस पक्ष को पकड़ा करते थे उसका खण्डन करना किसी के भी सामर्थ्य की बात नहीं रहती थी। इसीसे इनकी प्रसिद्धि पक्षधर नाम से हुई। इनके भतीजा **वासुदेव मिश्र** स्वकृत व्याख्या के अन्त मे लिखते हैं—'इति न्यायसिद्धान्तसाराभिज्ञमिश्रवर्यपक्षधरमिश्रभ्रातुष्पुत्रवासुदेवमिश्रविरचितायां चिन्तामणिटीकायाम्'। नदिया के जगदीश तथा गदाधर प्रभृति विद्वान् इनके पक्षधर नाम का ही उल्लेख करते हैं।

स्वहस्तलिखित विष्णुपुराण दरभंगा जिला के 'योगियार' गाँव में नैयायिक केशव झा के घर मे विद्यमान है। ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता है कि पक्षधर नामक किसी अन्य व्यक्ति का लिखा हुआ यह पुराण ग्रन्थ है।[1] इस पुस्तक के अन्त में लिखित श्लोक से विदित होता है कि पक्षधर मिश्र ने ल० सं० ३४५ में अगहन की षष्ठी तिथि मे अमरावती नगर मे रहते हुए इस पुस्तक को लिखा था।

मिथिला की प्राचीन गाथा के अनुसार ११०८ खृ० में लक्ष्मण संवत् का आरम्भ होता है। किन्तु १११९ खृ० मे ल० सं० आरम्भ होता है—यह नई मान्यता है। इस नई मान्यता के अनुसार ज्ञात होता है कि पक्षधर ने खृ० १४६४ में यह पुस्तक लिखी है। क्योंकि १११९ संख्या के साथ ३४५ संख्या को जोड़ने से १४६४ होता है। वृद्धावस्था मे स्वयं पुस्तक लेखन का परिश्रम स्वीकार का अनुमान लगाना अनावश्यक है। संभव है कि पाठावस्था मे ही स्थानान्तर से लिखकर इस पुस्तक को लाये हो।

जब पक्षधर मिश्र युवक ही थे शङ्कर मिश्र तथा निबन्धकार स्मार्त वाचस्पति मिथिला के वृद्ध विद्वानों मे गिने जाते थे। मैथिल विद्वगण इसकी स्वीकृति के साथ एक प्राचीन पद्य भी पढ़ते हैं—

—'शङ्करवाचस्पत्यौ शङ्करवाचस्पतिसदृशौ। पक्षधरप्रतिपक्षी लक्ष्यीभूतो न कुत्रापि'।

किन्तु पक्षधर मिश्र के छात्र सोदरपुर निवासी मैथिल नैयायिक रुचिदत्त ने उदयनाचार्य की किरणावली मिथिलाक्षर मे लिखी थी जो पुस्तक काशी के सरस्वती भवन मे विद्यमान है। उसके अन्त में लिखे गये पद्यों से ज्ञात होता है कि रुचिदत्त ने ३८६ ल० सं० में (खृ० १५०५ मे) यह पुस्तक लिखी थी।[2]

---

१. उस पुस्तक के अन्त मे लिखा है—'बाणैर्वेदयुतैः शशम्मुनयनैः संख्योद्गते हायने। श्रीमद्गौडमहीभुजो गुरुदिने मार्गे च पक्षे सिते। षष्ठ्यां वाममरावतीमधिवसन् या भूमिदेवालयः। श्रीमत्पक्षधरः सुपुस्तकमिदं शुद्धं व्यलेखीद् द्रुतम्' शंमुनयन=३। वेद=४। बाण=५। ३४५ ल० सं०। इस विषय के विवरण के लिये देखिए सन् १९६० साल की भारतवर्ष पत्रिका (आश्विन संख्या)।

२. उक्त पुस्तक के अन्त में लिखा है—

'रसवसुदहनेने चैत्रके शुक्लपक्षे।
प्रतिपदि बुधवारे वासरे लक्ष्मणे च॥

मुझे ऐसा लगता है कि रघुनाथ शिरोमणि के गुरु आलोक व्याख्याकार पक्षधर मिश्र खृ० पञ्चदश शतक मे ही भारतभर मे प्रसिद्ध हो गये थे। मेरा इसमे लेशमात्र भी विश्वास नहीं है कि गङ्गेश उपाध्याय के पौत्र यज्ञपति उपाध्याय की शिष्य परम्परा म पक्षधर मिश्र भी आते हैं। यह कल्पना भी नहीं की जा सकती है कि इस पक्षधर से भिन्न व्यक्ति आलोक का रचयिता है। इस पक्षधर की अपेक्षा उक्त व्याख्याकार को पूर्ववर्ती होना चाहिये था' क्योंकि यह चिरप्रसिद्ध है कि रघुनाथ शिरोमणि के गुरु पक्षधर मिश्र ने ही तत्त्वचिन्तामणि की आलोक व्याख्या लिखी। पश्चात् नदिया के मथुरानाथ तर्कवागीश आदि विद्वानो ने उस आलोक की व्याख्या लिखी। सिद्धान्तलक्षण व्याप्ति के—'यो यदीय कल्प' की व्याख्या म जगदीश तर्कालङ्कार ने पक्षधर मिश्र के नाम का उल्लेख किया है और अपनी उक्ति के

विबुधबुधविनोद भावयन्तीं सुपुस्ती-
मलिखदलपाणि श्रीरुचि श्रीसमेताम् ॥

हरनेत्र = ३, वसु = ८ रस = ६, ३८६ ल० स० १५०५ खृ०। किसी विद्वान् ने दचिदत्त कृत किसी पुस्तक का लिपि काल १३७० खृ० माना है तथा पक्षधर मिश्र को इनका पूर्ववर्ती कहा है। किन्तु हरिमिश्र के भतीजा तथा छात्र पक्षधर मिश्र खृ० पञ्चदश शतक से पूर्ववर्ती रहे होंगे—इसमे मेरा विश्वास नही है।

१ मम पूज्यपाद चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार महाशय ने न्यायकुसुमाञ्जलि की भूमिका में इस तरह की कल्पना की है। क्योंकि सुप्रसिद्ध इतिहासकार राजेन्द्रलाल मित्र महाशय द्वारा सगृहीत पक्षधर मिश्र की प्रत्यक्षालोक व्याख्या की एक पुस्तक का लिपिकाल १५९ ल० स० है। किन्तु मैंने सुना है कि उपर्युक्त पुस्तक के अन्त भाग में लिखा है—'शुभमस्तु श्रीस्तु शकाब्दा। ल० स १५०९। ल० स० बाद में लिखे जाने से इस अश को असभव कहकर मित्र महोदय ने उस स्थान से शून्य हटा दिया है और निर्णय कर दिया है कि १५९ ल० स० ही उक्त पुस्तक का लिपिकाल है। किन्तु इस स्थिति मे प्रश्न होता है कि लेखक यहाँ पहले शकाब्द क्या लिखता है। यहाँ किसी ही अश में उनका भ्रम मानने पर यह भी कहना होगा कि सख्या अर्थ में ही उन्होंने ल० स० लिखा है। मुझ ऐसा लगता है कि लेखक ने शकाब्द लिखकर पश्चात् लक्ष्मण सवत् लिखने के लिये ल० स० लिखा होगा किन्तु इसका सख्याङ्क स्मरण नहीं होने से उक्त शकाब्द की सख्या ही लिख दी १५०९।

समर्थन के लिये आदरपूर्वक उनकी आलोक व्याख्या के सन्दर्भ विशेष का उद्धरण भी दिया है। आलोक व्याख्याकार पक्षधर ने अपने चाचा-हरि मिश्र से शास्त्रों का अध्ययन किया है—इसका प्रतिपादन उक्त व्याख्या के आरम्भ मे ही है। मिथिला के महाकवि विद्यापतिठाकुर ने आदि भाग मे हरि मिश्र से ही पढ़ा है—मिथिला मे यह प्रवाद चिरकाल से आ रहा है। यही पक्षधर जब युवक थे एकदिन वृद्ध विद्यापति के घर मे अतिथि रूप मे पहुँचे थे[1]। पक्षधर मिश्र जिस समय मे तत्वचिन्तामणि की आलोक व्याख्या करते थे उस समय मे भी उनको विभिन्न लेखको द्वारा लिखित होने से उस तत्व-चिन्तामणि के पाठ-भेद मिलते थे। इन्होंने प्रत्यक्ष खण्ड के कितने स्थलों मे पाठ-भेद का उल्लेख करके उन भेदो को कल्पित तथा असांप्रदायिक कहकर उपेक्षा की है।[2] किन्तु गङ्गेश के पौत्र यज्ञपति उपाध्याय के समय मे तत्व-चिन्तामणि की किसी भी पुस्तक में इस तरह पाठभेद नहीं रहा है। पक्षधर मिश्र व्याख्या लिखते समय यज्ञपति के घर मे यदि आदर्श पुस्तक पा सकते तो अन्य पुस्तको को नही देखते। और यज्ञपति यदि उनके गुरु रहते तो वे अवश्य ही इसका उल्लेख करते। किन्तु वे अपनी व्याख्या के आरम्भ में लिखते हैं—'अधीत्य जयदेवेन हरिमिश्रात् पितृव्यतः'। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि पक्षधर ने यज्ञपति के परवर्ती अपने चाचा हरिमिश्र से पढ़ा था तथा खृ० पञ्चदश शतक के चतुर्थ भाग में अध्यापन एवं ग्रन्थ निर्माण किया। मेरी धारणा भी ऐसी ही है। गङ्गेश उपाध्याय ने खृ०त्रयोदश शतक के अन्तिम

---

१ प्रवाद है कि एक दिन दुर्बल शरीर पक्षधर मिश्र घूमते-घामते विद्यापति के गाँव में उनकी विशाल अतिथिशाला मे एक कोने में चुपचाप बैठ गये। जब महाकवि विद्यापति अतिथियो को देखने के लिये आए, इनको देखकर कहते हैं—'प्राघुणो घुणवत् कोणे सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यसे'। कोने में घून की तरह स्थित इस अतिथि को बहुत सूक्ष्म रहने के कारण मैं देख नहीं पाता हूँ। इस पर पक्षधर मिश्र कहते हैं—'नहि स्थूलधियः पुंसः सूक्ष्मे दृष्टिः प्रजायते' स्थूलबुद्धि पुरुष को सूक्ष्म पदार्थ नहीं दीखता है। उसी क्षण में विद्यापति ने इनको पहचान लिया तथा आदरपूर्वक इनका आतिथ्य संपादित किया।

२ पक्षधर मिश्र आलोक व्याख्या मे किसी स्थल में लिखते हैं—क्वचित्तु (पुस्तके) आवश्यकत्वादित्यनन्तरम् अन्यथाऽनुगमकत्वे '''' ननु इति पर्यन्तं ग्रन्थ लिखनम्, अग्रे लघुत्वाच्च इत्यनन्तरम् 'न' शब्दलोपश्च दृश्यते। तत्तु कल्पितमसांप्रदायिकमित्युपेक्षितम्'।—तत्त्वचिन्तामणि प्रत्यक्ष खण्ड, मनोऽनुगमवाद को आलोक व्याख्या (सोसाइटी संस्करण ७६९ पृ०)

भाग मे तत्त्वचिन्तामणि की रचना की और इसके पचास साल बाद उनके पौत्र यज्ञपति उपाध्याय ने इसकी व्याख्या लिखी—ऐसा ही प्रतीत होता है।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि कितने व्यक्तियों ने वासुदेव सार्वभौम को पक्षधरमिश्र का शिष्य कहा है। किन्तु बहुत प्राचीन नैयायिक के मुख से सुना है कि वासुदेव पक्षधर के सहपाठी रहे हैं। यह समुचित एव संभव भी लगता है। वासुदेव सार्वभौम नदिया म श्री चैतन्यदेव के जन्म से पहले (१४८६ खृ० मे) अध्यापन करते थे। गौड़ाचार्य सार्वभौम प्रसिद्ध पण्डित होकर पश्चात् उड़ीसा के राजा गजपति प्रतापरुद्र के सभापण्डित हुए। इन्होंने पक्षधर की छात्रावस्था मे (खृ० पञ्चदश शतक के तृतीय भाग में) मिथिला मे अध्ययन किया होगा। नदिया मे जब ये अध्यापन कर रहे थे उस समय में स्मार्त रघुनन्दन का जन्म नही हुआ था। श्री चैतन्यदेव को भी इन्होंने नदिया मे नही देखा था। अतएव यह निष्प्रमाण है कि *श्रीचैतन्य, रघुनाथ तथा रघुनन्दन वासुदेव सार्वभौम* के विद्यालय में सहाध्यायी रहे हैं। यह मान्यता विद्वानो को ग्राह्य नहीं है।[1]

वासुदेव सार्वभौम ने मिथिला के नव्यन्याय के मुख्यग्रन्थ तत्त्व चिन्तामणि की व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या के किसी अश की खण्डित पुस्तक काशी के सरस्वतीभवन में सुरक्षित है।[2]

---

१ श्री चैतन्यदेव के सहाध्यायी मुरारिगुप्त भी अपनी करचा म श्री चैतन्यदेव के अध्यापकों का नाम कहते हुए वासुदेवसार्वभौम की चर्चा नहीं करते हैं। वे लिखते हैं—'तत पपाठ स पुन श्रीमान् विष्णुपण्डितात्। सुदर्शनात् पण्डिताच्च श्रीगङ्गादासपण्डितात्'। १।९।१। श्रीचैतन्यदेव ने बाद मे किसी अन्य से न्यायशास्त्र पढा एव इसकी व्याख्या भी लिखी—इसमें कुछ भी प्रमाण नहीं मिलता है। इस विषय मे रघुनन्दन तथा रघुनाथ के सम्बन्ध म पहले ही मैंने अन्य निबन्ध मे सविस्तर आलोचना की है। (भारतवर्ष १३४६ पौष, माघ तथा फाल्गुन सख्या देखिए।)

२ सरस्वती भवन की पुस्तक—सूची मे इस पुस्तक का नाम सारावली लिखा गया है। इस पुस्तक की वर्तमान सख्या न्यायवैशेषिक २८० है। इस पुस्तक के पत्र मे लिखा है—'सार्व० टी०' तथा 'चि० सा०' हुगली कालेज के सस्कृतविभाग के अध्यापक श्रीयुत दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य एम० ए० महाशय ने उसे स्वयं देखकर मुझसे कहा था कि सार्व० टी० को नहीं समझ कर किसी ने उसका नाम सारावली लिख दिया। किन्तु उसका यथार्थ अर्थ है सार्वभौमकृत

रघुनाथ शिरोमणि ने अपनी दीधिति व्याख्या में स्थलविशेष मे वासुदेव सार्वभौम की व्याख्याओ को तथा उनके सिद्धान्तों को उठाया है एवं सयुक्तिक खण्डन भी किया है। इसी से विदित होता है कि इन्होंने नदिया में पहले वासुदेव सार्वभौम से पढ़ा और पश्चात् दीधिति की रचना की। अतएव यह निर्णीत हुआ कि रघुनाथ सार्वभौम से पूर्ववर्ती नहीं हैं।

रघुनाथ शिरोमणि ने मैथिल विद्वान् शङ्करमिश्र आदि की व्याख्याओं का खण्डन किया है। वैशेषिक दर्शन के उपस्कार में अत्यन्ताभाव की स्वरूपव्याख्या में विभिन्न मतो का समर्थन करते हुए शङ्करमिश्र ने रघुनाथ शिरोमणि की किसी मान्यता को नहीं उठाया है न कुछ आलोचना ही की है। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि शङ्करमिश्र के बाद ही रघुनाथ शिरोमणि ने ग्रन्थों की रचना की। शङ्करमिश्र मिथिला के स्मृतिनिबन्धकार द्वितीय वाचस्पतिमिश्र के समसामयिक रहे हैं। इन्होंने खृ० पञ्चदश शतक के मध्यभाग में ग्रन्थों का निर्माण किया है। इनके भेदरत्नग्रन्थ का लिपिकाल १५१९ सवत् (खृ० १४६२) है। वह पुस्तक आज जम्बू प्रान्त मे विद्यमान है। स्मार्त वाचस्पतिमिश्र ने मिथिलानरेश भैरवेन्द्र देव की धर्म-पत्नी की आज्ञा से द्वैतनिर्णय नामक स्मृति निबन्ध का प्रणयन किया। इस ग्रन्थ के आरम्भ में लिखा है—'श्रीभैरवेन्द्रधरणीपतिधर्मपत्नी, राजाधिराजपुरुषोत्तमदेवमाता'। इस नरेश का राज्यकाल खृ० १४४० से १४७५ पर्यन्त था। इसके लिये देखिए १९१५ खृष्टाब्द में प्रकाशित बेङ्गाल एशियाटिक सोसाइटी' की पत्रिका, गवेषक विद्वान् रायबहादुर मनमोहन चक्रवर्ती महाशय का निबन्ध।

कहने का अभिप्राय यह है कि रघुनाथ शिरोमणि ने खृ० पञ्चदश शतक के अन्तिम दशवर्ष मे मिथिला जाकर पक्षधर मिश्र आदि विद्वानों से शास्त्रार्थ किया तथा मिथिला की तात्कालिक परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त की। मिथिला मे ही इन्हें तार्किक शिरोमणि की पदवी प्राप्त हुई। इसके बाद इन्होंने तत्त्व-

---

टीका। तथा 'चि० सा०' का अर्थ है चिन्तामणि की सार्वभौमकृत टीका। किन्तु अनुमान चिन्तामणि के व्याप्तिवाद में सिद्धव्याप्तिलक्षण की दीधिति में सार्वभौम मत के खण्डन के लिये रघुनाथशिरोमणि ने जिस सन्दर्भ का उद्धरण दिया है वह उक्त सारावली में मिलता है। दीधिति के प्राचीन व्याख्याकार रघुनाथ विद्यालङ्कार ने भी उस स्थल में लिखा है—'ननु साध्यसामानाधिकरण्याभावस्तदमधिकरणत्वमित्येव सार्वभौमोक्त निर्मिषुनेतितमित्यत आह—'एतेनेति'। (देखिए सरस्वती भवन, काशी की ४५५ संख्या की पुस्तक।)

चिन्तामणि की दीधितिव्याख्या का तथा अन्यान्य विभिन्न ग्रन्थों का क्रमशः प्रणयन किया[1]।

रघुनाथशिरोमणि ने स्मृतिशास्त्र मे भी मलमास विषयक 'मलिम्लुच-विवेक' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया। उसे देखने से विदित होता है कि इन्होंने मलमास से संबद्ध विभिन्न पुस्तकों का अध्ययन किया था। यह ग्रन्थ भी उनके असाधारण पाण्डित्य का परिचायक रहा है। इसमे इन्होंने विभिन्न स्मृतिकारों की मान्यताओं का प्रतिवाद किया है। किन्तु खृ० षोडश शतक के पर भाग मे उसी नदिया में स्मार्त रघुनन्दन ने अपनी मलमासतत्त्व नामक पुस्तक मे मलमास का लक्षण करते हुए शिरोमणि के मत का विचारपूर्वक प्रतिवाद कर दिया है[2]।

नदिया में नव्यन्यायका नवयुग

रघुनाथ शिरोमणि ने पहले नदिया में नव्यन्याय के स्वप्रणीत ग्रन्थों की प्रतिष्ठा की और पश्चात् क्रमशः भारत के प्रत्येक प्रान्त मे उसकी प्रतिष्ठा

---

१ तत्त्वचिन्तामणि के आरम्भ में मङ्गलवाद की दीधिति नहीं मिलती है। प्रामाण्यवाद से दीधिति मिलती है। किन्तु वह बहुत संक्षिप्त है। वही प्रामाण्यवाद–दीधिति मे आरम्भ में ही रघुनाथ शिरोमणि ने लिखा है—'सतीतः श्रीरघुनाथनामा चिन्तामणेर्दीधितिमातनोति' अनुमान चिन्तामणि की दीधिति के आरम्भ मे इन्होंने लिखा है—'दीधितिमधिचिन्तामणि तनुते तार्किकशिरोमणि श्रीमान्'। शब्द चिन्तामणि की दीधिति हमने नही देखी है। पश्चात् इसका प्रकाशन हुआ है। (इसके लिये देखिए चौखम्बा संस्कृत सिरीज से प्रकाशित 'वादवारिधि'।)

२. रघुनाथ शिरोमणि का यह ग्रन्थ अन्यत्र कहीं नही उपलब्ध है। विभिन्न ग्रन्थों के प्रणेता मम० कृष्णनाथ न्यायपञ्चानन महाशय के घर मे केवल मिलता है। कितने दिनों के बाद ही हमने यह ग्रन्थ देखा है। इसके आदि मे रघुनाथ की अन्य पुस्तक की तरह – 'ओं नमः सर्वभूतानि' इत्यादि श्लोक ही लिखा है। और अन्त मे—'इति भट्टाचार्य शिरोमणि विरचितो मलिम्लुचविवेकः समाप्तः'। रघुनन्दन कृत मलमासतत्त्व की व्याख्या मे मम० कृष्णनाथ न्यायपञ्चानन महाशय ने शिरोमणि के मलिम्लुच विवेक से सन्दर्भ उठाकर व्याख्या की है। किन्तु यहाँ इन्होने भी स्पष्ट कहा है कि पूर्ववर्ती व्याख्याकार शान्तिपुर निवासी राधा मोहन गोस्वामी ने भी शिरोमणि का यह ग्रन्थ नहीं देखा था। (देखिए- इसी व्याख्या का द्वितीय खण्ड १८, १९, २० तथा ३२१ पृ०)।

बढ़ती गई। इनकी व्याख्याओं को नहीं पढ़कर कोई नैयायिक ही नहीं हो सकता था—इस तरह की प्रतिष्ठा उनके ग्रन्थों की हुई। उसी समय से उनके ग्रन्थो का पठन-पाठन सर्वत्र ही भारत में चलता आ रहा है। खृ० सप्तदश शतक के मध्यवर्ती तैलिङ्गदेश के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने रसगङ्गाधर में उपमा अलङ्कार का विचार करते समय लिखा है—'इत्यमेव चाख्यातवाद शिरोमणि व्याख्यातृभिरपि तथैव सिद्धान्तितमिति चेत्'। इस स्थल मे रघुनाथ शिरोमणि का आख्यात शक्तिवाद नामक ग्रन्थ ही आख्यातवाद शिरोमणिनाम से कहा गया है। इसी से प्रतीत होता है कि पण्डितराज जगन्नाथ ने भी शिरोमणि के इस ग्रन्थ का तथा इसकी व्याख्या का अध्ययन किया था। इससे यह भी ज्ञात होता है कि इसके पहले से ही रघुनाथ शिरोमणिकृत नव्यन्याय का ग्रन्थ प्रत्येक प्रान्त में शिरोमणि नाम से प्रसिद्ध हो चुका था। आजकल भी प्रत्येक प्रान्त मे उनके ग्रन्थ शिरोमणि नाम से प्रचलित हैं। रघुनाथ शिरोमणि के ग्रन्थ तथा नदिया के विद्वानों द्वारा की गई उनकी टीकाओ के प्रभाव से मिथिला से भी कितने छात्र नव्यन्याय पढ़ने के लिये नदिया आते थे। खृ० सप्तदश शतक में मिथिला के महानैयायिक गोकुलनाथ उपाध्याय ने उक्त दीधिति की 'दीधिति विद्योत' नामक संक्षिप्त व्याख्या लिखी है। नदिया में नव्यन्याय के प्रसिद्ध हो जाने पर भारत के प्रत्येक प्रान्त के विद्वान् नदिया को ही नव्यन्याय का गुरुस्थान तथा विद्यापीठ मानते आए हैं एवं उस स्थान को बहुत सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।

रघुनाथशिरोमणि की दीधिति के प्रसिद्ध व्याख्याकार

रघुनाथ शिरोमणि के छात्र रामकृष्ण भट्टाचार्य चक्रवर्ती ने सबसे पहले दीधिति की संक्षिप्त व्याख्या की। इन्होने गुणदीधिति व्याख्या के पहले अन्तिम श्लोक के अन्त में कहा है—'ब्रूते शिरोमणिगुरोरिह रामकृष्ण.'। प्रत्यक्षचिन्तामणिदीधिति की व्याख्या में इन्होंने लिखा है—'श्री रामकृष्णो व्याचष्टे प्रत्यक्षमणिदीधितिम्'। इसके बाद रघुनाथ विद्यालङ्कार, कृष्णदास सार्वभौम और श्रीरामतर्कालङ्कार ने संक्षेप मे दीधिति की व्याख्या की है। पश्चात् मथुरानाथ तर्कवागीश, भवानन्द सिद्धान्तवागीश, जगदीश तर्कालङ्कार एवं गदाधर भट्टाचार्य आदि दीधिति के प्रसिद्ध व्याख्याकार हुए। इन लोगों के विषय में विभिन्न व्यक्ति विभिन्न दन्तकथाओं का उपस्थापन करते हैं। नवद्वीपमहिमा प्रभृति ग्रन्थों में कितनी दन्तकथाएं इन लोगों से सम्बद्ध हैं किन्तु सब निष्प्रमाण हैं। शब्दकल्पद्रुम में न्याय शब्द के विवरण में शिरोमणि के छात्र मथुरानाथ, उनके छात्र भवानन्द और उनके छात्र

जगदीश थे—ऐसा कहा गया है। क्योंकि उस समय मे पण्डितगण प्रवाद को आधार मानकर इस तरह की बातो में विश्वास करते थे। किन्तु इसके साधक बाधक युक्ति को नहीं विचारकर केवल प्रवाद को प्रमाण मानकर ग्रहण करना उचित नहीं है। *यहाँ प्रश्न होता है कि इसमे क्या प्रमाण है कि चिन्तामणि के* रहस्यव्याख्याकार मथुरानाथ शिरोमणि के छात्र थे? इसके उत्तर मे कहना है कि पहले नैयायिक गण इतना ही कहते थे कि मथुरानाथ ने पक्षता की रहस्यव्याख्या मे—'भट्टाचार्यास्तु कहकर शिरोमणि की व्याख्या का ही उल्लेख किया है। किन्तु इससे यह तो प्रमाणित नहीं होता है कि गुरु अर्थ मे ही उन्होंने 'भट्टाचार्य'शब्द का प्रयोग किया है। क्योंकि विभिन्न स्थलो में इन्होंने अपने गुरु के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए—'गुरुचरणास्तु' तथा 'उपाध्यायास्तु' लिखा है। इन्होंने शिरोमणि की व्याख्या का उद्धरण देते हुए—'दीधिति कृतस्तु' तथा 'दीधित्यनुयायिनस्तु' यह भी लिखा है[1]। इन्होंने शिरोमणि की दीधिति की व्याख्या करते हुए कितने स्थलों मे सन्दर्भ विशेष का अर्थ स्पष्ट करने के लिये 'अपर' का मत भी उठाया है और वही 'गुरुचरणास्तु' कहकर अपने गुरु की मान्यता का भी प्रतिपादन किया है[2]। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्होंने शिरोमणि से नही पढ़ा है। क्योंकि शिरोमणि से यदि दीधिति के मर्मों को जाने रहते तो उस विषय मे अपर एवं गुरुचरण के मतों को नही कहना पड़ता।

यहाँ यह देखना भी आवश्यक है कि मथुरानाथ ने शिरोमणि के ग्रन्थो की व्याख्या करते समय कितने स्थलों मे पाठभेद का विचार किया है। विभिन्न स्थलो में कितने पाठों को उठाकर स्पष्टत अपपाठ कह दिया है।[3]

---

१. मङ्गलवाद की रहस्य व्याख्या मे (सोसाइटी संस्करण पृ० १७ मे) 'उपाध्यायास्तु'। पश्चात् प्रामाण्यवाद की रहस्य व्याख्या में (ऐ० पृ० ११५ मे) *'दीधितिकृतस्तु जगत् पदं तदानीं संसार विशिष्टात्मपरम्'*। प्रामाण्यवाद सिद्धान्त की रहस्य व्याख्या मे (ऐ० पृ० २२७ मे) 'दीधित्यनुयायिनस्तु। 'भट्टाचार्यास्तु ......तदसत्' (ऐ० पृ० २९५ मे) देखिए।

२. व्याप्ति सिद्धान्त लक्षण की दीधिति व्याख्या में मथुरानाथ ने एक स्थल मे लिखा है—*'केचित्तु तत्कक्षिकैव दीधितिकृता सिद्धान्तीकृता। तथा च तद्ग्रन्थस्यायमर्थः'* इत्यादि। इसके बाद 'गुरुचरणास्तु' इत्यादि संदर्भ से शिरोमणि की तात्पर्य व्याख्या करते हुए अपने गुरु के मत को भी उठाया है।

३. शिरोमणिकृत आख्यातशक्तिवाद की व्याख्या मे मथुरानाथ ने

किन्तु ये यदि शिरोमणि से पढे होते तो उनके ग्रन्थों का पाठभेद इन्हें क्यों देखना पड़ता। यह भी ज्ञातव्य है कि किसी लेखक के दोष से किसी पुस्तक में यदि पाठ में विकार आया हो तो उसका उल्लेख मथुरानाथ को अवश्य करना चाहिए किन्तु उन्होंने कहीं किया नहीं है। और इसका विचार सर्वथा आवश्यक है।

मथुरानाथ के पिता श्रीराम तर्कालङ्कार ने उदयनाचार्य के आत्मतत्त्वविवेक की रघुनाथ शिरोमणि कृत व्याख्या की व्याख्या लिखी है। उसके आदि मे लिखा है— हृदि कृत्वा च लिखितं सार्वभौमस्य सद्वचः'। यहाँ यह विचारणीय है कि इन्होंने किस सार्वभौम के वचन को स्मरण करके उक्त व्याख्या का प्रणयन किया। इन्होंने—'गुरुचरणास्तु' तथा 'केचित्तु' इत्यादि सन्दर्भ से रघुनाथ शिरोमणि की उक्तिविशेष को स्पष्ट करते हुए अपने गुरु तथा अन्य व्यक्तियों की मान्यताएँ उठाई हैं। (देखिए, काशी चौखम्बा से प्रकाशित उक्त पुस्तक का २४ तथा ८१ पृ०)। इससे यही विदित होता है कि श्रीराम तर्कालङ्कार शिरोमणि के शिष्य नहीं थे। किन्तु दीधिति के अध्यापक किसी सार्वभौम के छात्र हैं। श्रीराम के पिता भी न्यायशास्त्र में पारङ्गत विद्वान् थे। किन्तु उनका नाम एवं उपाधि आजतक ज्ञात नहीं हो सकी है। किरणावली की रहस्य व्याख्या के प्रथम भाग में मथुरानाथ ने बहुत स्थलों में अपने पितामह की मान्यता को कहते हुए लिखा है—'इत्यस्मत्पितामहचरणाः'।

भवानन्द सिद्धान्तवागीश मथुरानाथ तर्कवागीश के छात्र थे—इसका प्रमाण नहीं मिलता है। किन्तु किसी का यह भी कहना है कि भवानन्द ने मथुरानाथ से पहले ही दीधिति की व्याख्या का प्रणयन किया। जो भी हो, मैंने सुना है कि उनकी व्याख्या बङ्गाल मे प्रचलित नहीं हुई किन्तु पश्चात् महाराष्ट्र आदि प्रान्तों में उसका प्रचलन हुआ था। महाराष्ट्र का नैयायिक महादेव पुन्तामकर ने भवानन्द कृत व्याख्या की दो व्याख्याएं सर्वोपकारिणी तथा भवानन्दी प्रकाश लिखी हैं। इनमे एक व्याख्या छोटी है और दूसरी बड़ी। इन्होंने भवानन्द का शिष्य नहीं होने पर भी उन के प्रति असाधारण भक्ति दिखाई है।

लिखा है—'जानातीत्यस्य पूर्वम् गच्छतीति पाठः प्रामादिकः। क्वचिच्छात्रमात्रपदमेवलिखितो [illegible] पाठः। जानातीत्यस्य पूर्वम् गच्छतीत्यपि पाठः'। (सोसाइटी संस्करण ८८ पृ०)—पश्चात् क्रियाविशेषकारणस्येतिपाठः इत्यादि। (ऐ० पृ० ८९६) पुनः बाद में भी—'पाठस्तु प्रामादिकः' (ऐ० पृ० ९२०) इसी तरह मथुरानाथ के अन्य ग्रन्थों में भी पाठभेद का निर्देश मिलता है।

मधुसूदनवाचस्पति भवानन्द सिद्धान्तवागीश के पुत्र हैं—यह कथा 'नवद्वीप महिमा' मे लिखी है। किन्तु इसमे किसी प्रमाण का उद्धरण नही दिया गया है। 'मिथिलाया समायाते मधुसूदन वाकपतौ' इत्यादि उद्भट श्लोक भी यहाँ प्रमाण नही होता है। भक्तिरत्नाकर में नरहरिचक्रवर्ती लिखते हैं कि काशी मे श्रीजीव गोस्वामी के अध्यापक मधुसूदन वाचस्पति नामक व्यक्ति थे। किन्तु यह मधुसूदन अद्वैतसिद्धि के रचयिता मधुसूदन सरस्वती से भिन्न हैं। यह भवानन्द सिद्धान्तवागीश के भी पुत्र नहीं हैं। भवानन्द क कारकचक्र ग्रन्थ के प्रथम व्याख्याकार रुद्रराम तर्कवागीश उनके पौत्र हैं। उनकी उक्त व्याख्या के अन्त मे देखा जाता है—'पितामहकृत-कारकार्थनिर्णय टिप्पणी समाप्ता'।

मथुरानाथ तर्कवागीश की तरह भवानन्द सिद्धान्तवागीश ने भी ख़ृ० षोडश शतक में नदिया में अध्यापन एव ग्रन्थों का प्रणयन किया। गुप्तपल्ली (गुप्तिपाडा) के निवासी शतावधान राघवेन्द्र भट्टाचार्य ने इन्हीसे न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था। इनके पुत्र चिरञ्जीव शर्मा ने विद्वन्मोदतरङ्गिणी ग्रन्थ में अपने पिता के परिचय वर्णन मे लिखा है—'अधीयान मुद्दिश्याध्यापकाऽस्य भवानन्द सिद्धान्तवागीश ऊचे। अय कोऽपि देव इति'। भवानन्द सिद्धान्तवागीश ने अपने शिष्य राघवेन्द्र की विलक्षण कवित्व शक्ति एव असाधारण प्रतिभा से आश्चर्यचकित होकर कहा है—यह छात्र मानव नहीं देवता है। चिरञ्जीवशर्मा ने अपने पिता के शतावधान नाम का अर्थ करते हुए कहा है कि किसी समय मे एक सौ व्यक्तियो द्वारा विभिन्न पद्यो के पाठ होनेपर राघवेन्द्र प्रत्येक श्लोक से एक एक शब्द को लेकर शीघ्र ही पद्य की रचना करते थे। इसी से उनका नाम शतावधान भट्टाचार्य प्रसिद्ध हुआ। चिरञ्जीवशर्मा ने अन्य ग्रन्थो मे भी अपने पिता के परिचय में कहा है—'भट्टाचार्य शतावधान इति यो गौडोद्भवोऽभूत् कवि'। ये शतावधानराघवेन्द्रभट्टाचार्य अनेक शास्त्रों के विद्वान् थे। इन्होंने मन्त्रार्थदीप पुस्तक का प्रणयन किया है। एव कालतत्त्व के विषय मे 'रामप्रकाश' नामक स्मृति निबन्ध की भी रचना की है। इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं है कि ये भवानन्दसिद्धान्तवागीश के छात्र रहे हैं[1]।

---

१. राघवेन्द्र भट्टाचार्य ने आगरा के समीप के राजा कृपाराम का आश्रय पाकर रामप्रकाश ग्रन्थ का निर्माण किया। इसी कृपाराम के पुत्र राजा गोवर्द्धन हुए और गोवर्द्धन के पुत्र यशवन्तसिंह हुए। चिरञ्जीवशर्मा ने यशवन्त सिंह को संस्कृत छन्द की शिक्षा देने के लिये संक्षेप मे तथा सरलरूप

इस श्लोक के 'चूडामणि' शब्द से रघुनाथशिरोमणि को लेते थे और रामभद्र का उनका पुत्र कहते थ। यह रामभद्री व्याख्या बहुत दिन पहले काशी मे मुद्रित हुई थी। इसी सस्करण मे एक स्थल पर मुद्रित है—'शब्दमणिदीधितौ तातचरणाः'। 'शब्दमणिदीधिति' रघुनाथशिरोमणि का ही ग्रन्थ है। किन्तु नदिया म इसकी एक प्राचीन पुस्तक सुरक्षित है, जिसम उक्त स्थल म लिखा है—शब्दमणिमरीचौ तातचरणाः।' वस्तुत. यही प्रकृत पाठ है। न्यायसिद्धान्तमञ्जरी के प्रणेता जानकीनाथ चूडामणि ने भी अपनी रचना के रूप म शब्दमणिमरीचि तथा न्यायनिबन्धदीपिका का उल्लेख किया है। उनके पुत्र रामभद्र सार्वभौम ने उस स्थल पर पितृकृत शब्दमणिमरीचि के सन्दर्भ विशेष का उद्धरण देकर लिखा है—'इति तु शब्दमणिमरीचौ तातचरणाः'।

अनेक ग्रन्थो के प्रणेता जानकीनाथ चूडामणि के शिष्यसप्रदायों मे बहुत नैयायिक हुए हैं। उनकी न्यायसिद्धान्तमञ्जरी की विभिन्न व्याख्याओ से विदित होता है कि ये अपने समय मे नदिया के प्रतिष्ठित विद्वानों में थे। खानाकूल कृष्णनगर के महानैयायिक कणाद तर्कवागीश उक्त चूडामणि के छात्र थे। कणादकृत भाषारत्न ग्रन्थ के आरम्भ में लिखा है—'चूडामणिपदाम्भोज' इत्यादि। इन्होंने भी तत्त्वचिन्तामणि की व्याख्या लिखी है। एक समय नैयायिक समाज मे इन्हीं की अवयव-व्याख्या का अधिक आदर था। इस व्याख्या के कुछ अंश कलकत्ता सस्कृत कालेज के पुस्तकालय में विद्यमान है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रसिद्ध व्याख्याकार जगदीश तर्कालङ्कार इसी जानकीनाथ चूडामणि के सम्प्रदाय के थे और इन्ही के पुत्र रामभद्र सार्वभौम के शिष्य रहे है। अतएव अनुमानदीधिति के हेत्वाभास विभाग में असिद्धिदीधिति की व्याख्या करते हुए किसी स्थल पर इन्होंने भवानन्द सिद्धान्तवागीश के सम्प्रदाय के दीधिति-पाठ को नहीं मानकर लिखा है—'उच्यत इत्यनन्तरम् , सम्प्रदायप्रदायविद्ध पाठो निरस्यते'।

(देखिए जागदीशी। काशी चौखम्बा सिरीज प्रकाशन पृ० ११८४।)

नदिया में जगदीश तर्कालङ्कार के घर में मैंने जो वंशतालिका देखी है उसम जगदीश श्री चैतन्यदेव के श्वशुर सनातन मिश्र के परवर्ती होते हैं तथा परम्परा में चौथी पुश्त मे आते हैं। सनातन के पिता दुर्गेश्वर मिश्र और पुत्र माधवाचार्य थ। माधवाचार्य के पुत्र यादवचन्द्र विद्यावागीश हुए और इनके पुत्र जगदीश। नदिया मे जगन्नाथ मिश्र के पुत्र श्री विश्वम्भर मिश्र (श्री चैतन्यदेव) ने सनातन मिश्र की कन्या विष्णु-

३ न्या० मू०

प्रिया देवी से विवाह किया था। कुछ वर्ष तक गार्हस्थ्य जीवन में रहकर पश्चात् उन्होंने ई० १५१० में सन्यास ले लिया। इससे पहले मेरी धारणा थी कि जगदीश सनातन मिश्र के प्रपौत्र थे जिन्होंने ई० १५६० से कुछ पहले या बाद में जन्म लेकर सप्तदश शतक के आरम्भ होते ही ग्रन्थ का प्रणयन आरम्भ किया। किन्तु पश्चात् विदित हुआ कि जगदीश तर्कालङ्कार की रचना—(शिरोमणि की अनुमान दीधिति की व्याख्या) का लिपिकाल १६१० ई० है।'

जगदीश के जीवन काल में ही उनके परम भक्त शिष्य विष्णुशर्मा ने यह पुस्तक लिखी थी। जगदीश ई० षोडश शतक के अन्त में भी इस व्याख्या का निर्माण कर सकते हैं। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि इनसे पहले भी कितने नैयायिकों ने दीधिति की व्याख्याएँ की थीं। पश्चात् इन्होंने गम्भीर विचारपूर्वक उसकी सविस्तर व्याख्या लिखी। अत एव व्याख्या के आरंभ में इन्होंने लिखा है—'प्राच्यैरनुचितविविधक्षोदैः कलुषी कृतोऽप्यधुना। दीधिति-पूतमणिरेष श्रीजगदीशप्रकाशितः स्फुरतु' तत्त्वचिन्तामणि के उपमानखण्ड तथा शब्दखण्ड के आरम्भ में भी यह श्लोक देखा जाता है।

तत्त्वचिन्तामणि के किसी अंश पर जगदीश के पुत्र रघुनाथ की व्याख्या है। वह व्याख्या मैंने देखी है[२]। उसका लिपिकाल १५८८ शकाब्द है।

---

१. कलकत्ता में म० म० हरप्रसाद शास्त्री के घर में यह पुस्तक विद्यमान है। उसके अन्त में लिखित श्लोक का प्रथम चरण यह है—'शय-त्रिपुरवैरिदृक्-शर परन्दुसंख्ये शके'। शय का अर्थ = २ हाथ, त्रिपुरवैरिदृक् = ३ शिवनेत्र, शर—५, इन्दु = १ अर्थात् १५३२ शकाब्द। हुगली कालेज के संस्कृत के अध्यापक श्रीयुत दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य महाशय ने स्वयं इस पुस्तक को देखकर पश्चात् इसके अन्त में लिखित संपूर्ण पद्य तथा पुष्पिका लिखकर मुझे भी भेज दी थी।

२. नदिया में जगदीश तर्कालङ्कार के घर में निम्नगत नवम पीढ़ी के श्रीयतीन्द्रनाथ तर्कतीर्थ महाशय ने मुझे यह पुस्तक दिखाई थी। उसके आरम्भ में लिखा है—'श्रीमता रघुनाथेन तर्कालङ्कारसूनुना।

पदार्थपरमूलस्य निगूढार्थः प्रकाश्यते'॥

और अन्त में लिखा है—'इति श्रीरघुनाथशर्मणा विरचिता पाच्छकेवलव्यतिरेकि-मूलटीका समाप्ता'। श्रीरामशर्मण स्वाक्षरमिदम् पुस्तकञ्च ३० ज्येष्ठ १५८८ शकाब्दाः'॥

उक्त पुस्तक के लिपिकाल (सं० १६६६) मे श्रीरघुनाथशर्मा जीवित थे। ऐसा लगता है कि प्रायः उस समय उनके पिता जगदीश तर्कालङ्कार जीवित नहीं थे। किन्तु इस समय मे गदाधर भट्टाचार्य की बहुत प्रसिद्धि हो चुकी थी। १०६८ बङ्गाब्द (सं० १६६१) मे कृष्णनगर के अधिपति राजा राघव ने गदाधर भट्टाचार्य को 'मालिपोता' गाँव मे ३६० बीघा भूमि दान में दी थी। आजकल भी नदिया मे गदाधर के वंशज उस भूसंपत्ति का उपभोग कर रहे हैं। नदिया मे इन्हीं के वंशज किसी विद्वान् ने हमसे कहा था कि १००६ बङ्गाब्द मे गदाधर का जन्म हुआ था तथा १११० बङ्गाब्द में उनकी मृत्यु हुई थी। यह एक कागज मे लिखित उन लोगो के घर में सुरक्षित है। यद्यपि मैं इस कागज को स्वयं देख नहीं पाया किन्तु उनके घर में एक कागज मैंने देखा जिसमे लिखा था कि गदाधर के प्रपौत्र कृष्णकान्त की मृत्यु १२१६ बङ्गाब्द मे हुई।

मैंने सुना है कि म. म. सतीशचन्द्र विद्याभूषण महाशय ने अपनी पुस्तक History of Indian Logic मे लिखा है कि गदाधर भट्टाचार्य प्रणीत व्युत्पत्तिवाद का रचनाकाल सं० २६२५ है। किन्तु जगदीश तर्कालङ्कार की शब्दशक्तिप्रकाशिका के बाद ही व्युत्पत्तिवाद की रचना हुई होगी—ऐसी मेरी धारणा है। इसमे मेरा विश्वास नहीं है कि गदाधर १६२५ सं० से पहले दीधिति की व्याख्या का तथा शब्दखण्ड के स्वतन्त्र ग्रन्थ व्युत्पत्तिवाद का प्रणयन किये होंगे। ये सं० सप्तदश शतक पर्यन्त जीवित थे। गदाधर के वृद्ध प्रपौत्र श्रीराम शिरोमणि नदिया में प्रतिष्ठित नैयायिकों में थे। ६ फाल्गुन १२६० बङ्गाब्द में कलकता के काशीपुर में नडाइल के जमींदार रामरत्न राय के घर मे इन्होंने न्यायशास्त्र का जो विचार किया था वह विचारवार्ता १८५४ सं० में १८ फरवरी को संवादभास्कर पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। उस समय श्रीराम शिरोमणि का वय लगभग ५५–६० के रहा होगा। उनके वृद्धप्रपितामह गदाधर भट्टाचार्य सं० सप्तदश शतक के बाद भी कुछ दिन पर्यन्त जीवित रहे—ऐसा मुझे प्रतीत होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि राजा राघव ने उनको १६६१ सं० में भूमि दान मे दी थी।

नदिया के पण्डित समाज में यह प्रवाद प्रसिद्ध है कि गदाधर भट्टाचार्य तथा रघुदेव न्यायालङ्कार नदिया के हरिराम तर्कवागीश के छात्र थे। शिरोमणि के नञ्वाद ग्रन्थ की व्याख्या के आरम्भ में रघुदेव ने लिखा है—'शिवं प्रणम्य तत् पश्चात् तर्कवागीश्वरं गुरुम्'। हरिराम तर्कवागीश तथा रघुदेव न्यायालङ्कार के बहुत ग्रन्थ आजकल भी प्राप्य हैं। जैसे गदाधर की व्याख्या गादाधरी शब्द से प्रसिद्ध है, उसी तरह रघुदेव की व्याख्या रघुदेवी नाम से

प्रचलित है। नवद्वीपमहिमा मे रघुदेव न्यायालङ्कार का परिचय वर्णित है— 'रघुदेव गदाधर के ज्येष्ठ पुत्र,रामचन्द्र के पुत्र थे' (द्रष्टव्य पृ० १८१ नवद्वीप-महिमा)। किन्तु हरिराम तर्कवागीश का शिष्य रघुदेव गदाधर के पौत्र नहीं हो सकते हैं।

गदाधर के पूर्ववर्ती दीधिति के व्याख्याकार भवानन्द सिद्धान्तवागीश का छात्र—गुप्तपल्ली निवासी शतावधान राघवेन्द्र भट्टाचार्य का पुत्र चिरञ्जीव शर्मा रघुदेव के प्रति अनन्य भक्ति व्यक्त करते हुए अपने काव्य-विलास मे लिखते हैं—'इमौ भट्टाचार्यप्रवररघुदेवस्य चरणौ'। इससे सिद्ध होता है कि चिरञ्जीवशर्मा रघुदेव के शिष्य थे। ये (रघुदेव न्यायालङ्कार) गदाधर भट्टाचार्य के समसामयिक थे अतएव इनका जीवनकाल सू० सप्तदश शतक है।

गदाधर के शिष्य जयराम ने भी विभिन्न ग्रन्थों का प्रणयन किया है। किन्तु भारत में सर्वत्र ही गदाधर भट्टाचार्य के ही ग्रन्थों का अधिक प्रचार तथा प्रसार हुआ है। तत्वचिन्तामणि की माथुरी (मथुरानाथकृत व्याख्या) तथा दीधिति की जागदीशी का भी अधिक प्रचार हुआ। किन्तु दाक्षिणात्य विद्वानों में केवल गादाधरी ही विशेषरूप से ग्राह्य हुई है। आजकल भी गदाधर के कितने ही ग्रन्थ देश के प्रत्येक प्रान्त में प्रचलित हैं। दाक्षिणात्य विद्वानों ने भी उनकी कृति की व्याख्या की है। गदाधर ही नव्यन्याय के अन्तिम अवतारी हो गये हैं।

नव्यन्याय तथा आन्वीक्षिकी विद्या

नदिया में नवीन रूप धारण करके उन्नति का चरम उत्कर्ष प्राप्त करने वाला तथा न्यायशास्त्र मे बङ्गालियों का अविनश्वर जयस्तम्भ रूप मे विद्यमान नव्यन्याय, बौद्ध आदि सम्प्रदायों को परास्त करने के लिये गङ्गेश आदि तार्किकों की तर्कविद्या स्वबुद्धिकल्पित नहीं है, किन्तु वह भी वेदमूलक आन्वीक्षिकी विद्या ही है। इसका साधारण परिचय पहले ही मैं प्रस्तुत कर चुका हूं।

कोषकार अमरसिंह 'स्वर्गवर्ग' में तर्कविद्यामात्र को 'आन्वीक्षिकी' शब्द का अर्थ मानते हैं। जिस विद्या मे वेद को प्रमाण नहीं माना गया है उस विद्या के अर्थ मे भी आन्वीक्षिकी शब्द का गौण प्रयोग देखा गया है[१]। वेदमूलक आन्वी-

---

१ महाभारत में भी देखा गया है—'आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम्। (शान्तिपर्व १८०।४७) उस स्थल में आन्वीक्षिकी शब्द के बाद तर्कविद्या तथा निरर्थिका शब्द का प्रयोग करके केवल तर्कविद्या रूप

क्षिकी विद्या-जिसमें वेद का प्रामाण्य, आत्मा की नित्यता, जन्मान्तर तथा मुक्ति आदि वैदिक मान्यताओं का प्रतिपादन है यह केवल तर्कविद्या नहीं है अपितु तर्कविद्या होकर भी 'आत्मविद्या' है। राजाओं को किस विद्या की शिक्षा देनी चाहिए—इस प्रसङ्ग मे भगवान् मनु ने कहा है—'आन्वीक्षिकीं-चात्मविद्याम्'। ७।४३। मनुसंहिता के भाष्यकार मेधातिथि उक्त श्लोक की तात्पर्यव्याख्या करते हुए कहते हैं कि चार्वाक तथा बौद्ध आदि द्वारा प्रणीत तर्कविद्या बहुतों को नास्तिक बनाती है। अतएव राजाओं को इसकी शिक्षा नहीं मिलनी चाहिये। किन्तु आत्मविद्यारूप आन्वीक्षिकी ही उन लोगों के अध्ययन का विषय है। अतएव मनु ने आन्वीक्षिकी के साथ आत्मविद्या पद का प्रयोग विशेषणरूप म किया है। इस मत में आन्वीक्षिकी विद्या के दो प्रकार हैं[1]।

वस्तुतः यह मानना होगा कि आन्वीक्षिकी शब्द के अर्थ मे मतभेद होने पर भी प्राचीन समय से ही वेदविरुद्ध तर्कशास्त्र भी आ रहा है। श्री भगवान्

नास्तिक तर्कविद्या ही उस आन्वीक्षिकी शब्द से अभिप्रेत है यही प्रतीत होता है। एवं इस स्थल में नास्तिक तर्कविद्या में अनुरक्त तथा वेदनिन्दक नास्तिकों की ही निन्दा की गई है। किन्तु महाभारत में तथा अन्यत्र भी आन्वीक्षिकी की अर्थात् आत्मविद्यारूप तर्कशास्त्र की निन्दा नहीं की गई है। मुमुक्षुओं के लिये इस आत्मविद्यारूप आन्वीक्षिकी को हित समझ कर उसकी प्रशंसा ही की गई है। (मेरा संपादन—न्यायदर्शन प्रथम संस्करण की भूमिका में इस विषय की सप्रमाण आलोचना विस्तार के साथ की गई है। न्यायदर्शन बङ्ला के उस अंश को इसके विशेष जिज्ञासु देखें)।

१. राजशेखर ने भी अपनी काव्यमीमांसा के द्वितीय अध्याय में आन्वीक्षिकी के दो प्रकारों की चर्चा की है। इनके मत से जैन, बौद्ध तथा चार्वाक-दर्शन पूर्वपक्षरूप (आन्वीक्षिकी) तर्कविद्या है और सांख्य, न्याय तथा वैशेषिक आदि उत्तरपक्षरूप। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने भी सांख्ययोग तथा लोकायत को आन्वीक्षिकी कहा है एवं इसका फल वर्णन किया है। और अन्त में—'प्रदीपः सर्वविद्यानाम्' इत्यादि श्लोक से उस विद्या का वैशिष्ट्य-वर्णन भी किया है। इससे विदित होता है कि इन्होंने भी सम्पूर्ण तर्क तथा मुख्यतः गौतम प्रणीत न्यायसूत्र को लेकर सारी बातें कही हैं। यहाँ कौटिल्य ने योग शब्द से न्याय तथा वैशेषिकदर्शन को लिया है। प्राचीन समय में न्याय तथा वैशेषिकदर्शन योग शब्द से कहे जाते थे। (इसमें प्रमाण आदि के लिये देखिए मेरा संपादन बङ्ला न्यायदर्शन के प्रथम खण्ड की भूमिका तथा मूल पृ० २२९।)

रामचन्द्र को वन गमन से लौटाने के लिये परम आस्तिक जाबालि मुनि ने पहले नास्तिकतर्कविद्या की बहुत सी युक्तियाँ सुनाई थीं।

किन्तु रामचन्द्र ने जाबालि को जो कुछ भी कहा उसमें आस्तिक तर्कविद्या की निन्दा नहीं की गई है। श्रीरामचन्द्र ने नैयायिकों को कुछ अभिशाप भी नहीं दिया है (देखिए वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड, सर्ग १०९)

उपर्युक्त वेदमूलक आन्वीक्षिकी विद्या का ही प्रसिद्ध नाम न्याय है। परार्थ अनुमान को तथा उसी को उद्देश्य करके प्रयुक्त प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयवरूप वाक्य को भाष्यकार वात्स्यायन आदि 'न्याय' शब्द से कहते हैं। इस (न्याय) का प्रतिपादक शास्त्र भी न्याय शब्द से ही कहा जाता है। पश्चात् बहुत विद्वानों ने इसके लिये *'नीति' शब्द का प्रयोग किया है*[1]। *यह न्यायशास्त्र प्रत्येक शास्त्रों की योनि है एवं इसका उद्भव सर्वज्ञ परमेश्वर से है।* इसकी पुष्टि के लिये सुबालोपनिषद् के द्वितीय खण्ड में कहा गया है—'न्यायो धर्मशास्त्राणि'। याज्ञवल्क्य संहिता के आरम्भ में ही—पुराणन्याय-मीमांसा' इत्यादि श्लोक में तथा—'मीमांसा न्यायतर्कश्च उपाङ्गः परिकीर्तितः' इत्यादि पुराणवचन में न्यायशब्द से उक्त न्यायशास्त्र को ही लिया गया है। तर्क-शास्त्र होने से इसे न्यायतर्क तथा तर्क शब्द से भी कहते हैं। इसका प्राचीन नाम वाकोवाक्य है। छान्दोग्य उपनिषद् सप्तम अध्याय प्रथम खण्ड में—नारद-सनत्कुमारसंवाद में तथा पतञ्जलि के महाभाष्य—प्रथम आह्निक में वाको वाक्य नाम से ही इसका उल्लेख हुआ है। बहुत प्राचीन समय से ही इस तर्क-शास्त्र का तत्वसूचक सूत्र ऋषिगण जानते रहे हैं। बृहदारण्यक उप-निषद् के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में परमेश्वर का निःश्वसित रूप वेद आदि विद्याओं का उल्लेख करते हुए 'सूत्राणि' इस पद के उल्लेख से अन्यान्य विद्याओं के साथ न्याय = तर्कविद्या के तत्वसूचक सूत्रों का भी निर्देश होता है।

वस्तुत तैत्तिरीय आरण्यक के प्रथम प्रपाठक तृतीय अनुवाक में—'स्मृतिः *प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमान चतुष्टयम्*' इत्यादि *श्रुति वाक्य में जिस अनुमान प्रमाण* का उल्लेख है उसके तत्व को जानने के लिए अवश्य ही व्याप्ति तथा हेत्वा-

---

१. 'मिलिन्द् पञ्ह' नामक बौद्धदर्शन के पालि ग्रन्थ में देखा जाता है—'सद्दयोगा नीतिविसेसिका,—३ पृष्ठ। नव्यनैयायिक जगदीश तर्कालङ्कार ने भी ईश्वरानुमानचिन्तामणि की दीधिति-व्याख्या के अन्त में लिखा है—

'कुर्वन्ति नित्यमनुमानमपेतवेदे, प्राय प्रमाणमधिनीधितिनीतिभाजः ॥

भाव आदि पदार्थों के तत्त्वों को जानना होगा। यहाँ यह नहीं माना जा सकता है कि गौतम ऋषि से पहले अन्य किसी को इन पदार्थों का ज्ञान ही नहीं था। अक्षपाद ऋषि से पहले भी सृष्टि के आदि में संक्षिप्त रूप में न्यायशास्त्र था। न्यायमञ्जरी के प्रारम्भ में जयन्तभट्ट ने इसका प्रतिपादन किया है। न्यायभाष्य के अन्त में वात्स्यायन ने भी कहा है—'योऽक्षपादमृषिं न्याय. प्रत्यभाद् वदतां वरम्' अर्थात् गौतम के समक्ष न्यायशास्त्र ने अपना आत्मप्रकाश किया था। गौतम इसके स्रष्टा नहीं, अपितु वक्ता हैं।

न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र भाष्य में वात्स्यायन ने कहा है कि प्रत्यक्ष तथा आगम के अविरोधी अनुमान के द्वारा तत्त्व श्रवण के बाद अनुमान प्रमाणरूप युक्ति से मनन करना ही 'अन्वीक्षा' है। 'तया प्रवर्तते इत्यान्वीक्षिकी' न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्'। इस अन्वीक्षा के सम्पादन के लिये जो शास्त्र है उसको भी अन्वीक्षा शब्द से लिया जाता है। अन्वीक्षा शब्द से तद्धित प्रत्यय करने पर आन्वीक्षिकी शब्द बनता है जिसका अर्थ है न्यायशास्त्र। यह बहुलांशतः तर्कशास्त्र होने पर भी मननशास्त्र होने से अध्यात्मविद्या भी है। प्रमाण आदि षोलह पदार्थ इस शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय हैं।

अद्वैत वेदान्त के महाविद्वान् श्रीहर्ष ने नैषधचरित महाकाव्य के दशम सर्ग मे—'उद्देशपर्वण्यपलक्षणेऽपि द्विधोदितैः षोडशभिः पदार्थैः' इत्यादि (८१) श्लोक में इस आन्वीक्षिकी विद्या का वर्णन मुमुक्षुओं के सहायक रूप में किया है। इसके बाद नव्यन्याय के प्रतिष्ठापक गङ्गेश उपाध्याय ने तत्त्वचिन्तामणि मे कहा है कि—परम कारुणिक अक्षपाद मुनि ने संसार को मुक्तिलाभ कराने के लिये आन्वीक्षिकी विद्या का प्रवचन एवं प्रचार किया। गङ्गेश की तत्त्वचिन्तामणि तथा महर्षि गौतम का सूत्र रूप में लिखित न्यायदर्शन प्रकरण ग्रन्थ है। अतएव गङ्गेश ने गौतम के तृतीय सूत्र—'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' का उल्लेख करके प्रधानतः गौतमोक्त चार प्रकारों के प्रमाणों की ही विशद व्याख्या अपने ग्रन्थ में की है और उन्होंने इस आन्वीक्षिकी विद्या के प्रतिपाद्य अन्यान्य विषयों को भी यथास्थान विशद व्याख्या उपस्थित की है। *अतएव नव्यन्याय=तत्त्वचिन्तामणि तथा* उसकी विभिन्न व्याख्याएँ गौतम प्रणीत मूल आन्वीक्षिकी विद्या के ही व्याख्यान ग्रन्थ हैं। *इसीसे कहा जाता है कि नव्यन्याय का भी मूल आन्वीक्षिकी* विद्या ही है।

तत्त्वचिन्तामणि के रहस्य व्याख्याकार मथुरानाथ तर्कवागीश ने भी शब्द खण्ड की व्याख्या के आरम्भ में नव्यन्याय के अध्यापक समाज को 'आन्वीक्षिकी पण्डितमण्डली' कहा है। जैसे वेदान्त दर्शन का प्रतिपादक ब्रह्मसूत्र

एवं उसके भाष्य आदि ग्रन्थ वेदान्तशास्त्र शब्द से कहे जाते हैं—(वेदान्तो नाम उपनिषद्, तदुपकारीणि शारीरक सूत्रादीनि च'—वेदान्तसार) इसी तरह न्यायसूत्र तथा उसके प्रतिपाद्य विषयों का व्याख्यानरूप प्राचीन तथा नवीन प्रत्येक ग्रन्थ न्यायशास्त्र शब्द से कहा जाता है।

न्यायसूत्रकार का परिचय तथा न्यायसूत्र का रचनाकाल

वात्स्यायन आदि प्राचीन आचार्य गण महर्षि अक्षपाद को न्यायसूत्रकार कहते हैं। पश्चात् बहुत विद्वान् तथा विभिन्न ग्रन्थकार उन्हीं को गौतम या गोतम कहने लगे किन्तु इनका परिचय स्पष्ट तथा विस्तार रूप में किसी ने नहीं उपस्थित किया है। मैंने पहले ही न्यायदर्शन की भूमिका में कहा है कि अहल्यापति महर्षि गौतम ही न्यायसूत्रकार अक्षपाद हैं[1]। क्योंकि स्कन्दपुराण में इनको अक्षपाद कहा गया है। कालिदास के पूर्ववर्ती महाकवि भास प्रतिमानाटक के पञ्चम अंक में मेधातिथि के न्यायशास्त्र का उल्लेख करते हैं। यह मेधातिथि अहल्यापति गौतम ही हैं। महाभारत, शान्तिपर्व के—'मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थित:' इत्यादि (२६५ अ० ४५) श्लोक से स्पष्ट है कि मेधातिथि गौतम का दूसरा नाम है। मेधातिथि नामक किसी अन्य व्यक्ति ने न्यायशास्त्र का प्रणयन किया और वह महाकवि भास से पहले ही प्रसिद्ध हो चुका था—इसमें प्रमाण का सर्वथा अभाव है तथा इस तरह का प्रवाद भी कभी सुनने को नहीं मिला है। यह चिरप्रसिद्ध प्रवाद है कि गौतम मुनि ने एकबार वेदव्यास के दर्शन के लिये अपने चरणों में भी चक्षुष् इन्द्रिय की सृष्टि कर ली थी और उसी समय से वे अक्षपाद नाम से प्रसिद्ध हुए[2]।

---

१. अक्षपादो महायोगी गौतमाख्योऽभवन्मुनिः।
गोदावरी समानेता अहल्यायाः पतिः प्रभुः॥
(स्कन्दपुराण माहेश्वरखण्ड कुमारिका खण्ड ५५ अ० ५ श्लोक)

२. अक्ष शब्द केवल इन्द्रिय का वाचक है। यहाँ चक्षुष् इन्द्रियरूप विशेष अर्थ में उसका प्रयोग करके—'अक्ष युक्तः पादो यस्य' यह विग्रह किया गया है। अतएव अक्षपाद शब्द का उपर्युक्त अर्थ होता है। किसी ने लिखा है कि अक्ष शब्द का अर्थ है जन्मान्ध और जैसे गुरुपाद तथा स्वामिपाद आदि शब्दों में आदर जनाने के लिये पूजार्थक पाद शब्द का प्रयोग है उसी तरह यहाँ भी पूजार्थक पाद शब्द ही है। अतएव अक्षपाद शब्द का अर्थ हुआ जन्मान्धपाद अर्थात् दीर्घतमा गोतम। वह यह गौतम नहीं हैं। किन्तु प्राचीन आचार्यगण

इसके संबन्ध में मैंने पहले ही देवीपुराण से उद्धरण दिया है। आधुनिक मुद्रित देवीपुराण में उस अंश के नहीं रहने पर भी वह प्राचीन प्रवाद का समर्थक है—अतएव अवश्य रहा होगा, यह मानना होगा।

स्कन्दपुराण के 'अक्षपादो महायोगी' इत्यादि वचन को प्रक्षिप्त मानने में युक्ति नहीं मिलती है। अतएव यह कदापि मान्य नहीं होगा कि गौतम तथा अक्षपाद भिन्न व्यक्ति हैं, तथा न्यायदर्शन के प्राचीन अंश को ही रचना गौतम ने की है और उसके कितने दिनों के बाद अक्षपाद ने उसमें नवीन अंश जोड़ा है। यह सर्वसम्मत है कि अहल्यापति ऋषि ही गौतम थे। मैंने वृद्ध नैयायिकों के मुख से न्यायसूत्रकार का गौतम नाम ही सुना है। कितने-ग्रन्थों में भी उनका गौतम नाम देखा है¹, किन्तु वे अपने आदि पुरुष वेदोक्त गौतम के नामानुसार ग्रन्थों में इस नाम से निर्दिष्ट हैं। अतएव विभिन्न स्थलों में मैंने भी गौतम नाम से ही इनका उल्लेख किया है। वस्तुतः प्राचीन समय में आदि पुरुष के नाम से भी कितने प्रधान व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है। इसके अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। नैषधचरित महाकाव्य (१७।७८) में श्रीहर्ष ने प्रसङ्गवश न्यायशास्त्र वक्ता का गौतम नाम ही उद्धृत किया है। किसी का कहना है कि अन्य अर्थ में गौतम नाम से प्रसिद्ध होने पर भी गौतम के वंशधर होने के नाते ये इस नाम से कहे जाते हैं। देवीपुराण में इसका प्रतिपादन है—'गौतमान्वयजन्मेति गौतमोऽपि स चाक्षपात्'।

इस विषय को नहीं समझ पाते हैं। अतएव न्यायभाष्यकार वात्स्यायन आदि ने अक्षपाद शब्द का एकवचनान्त प्रयोग किया है। किन्तु माधवाचार्य ने न्यायसूत्रकार गौतम को चरणाक्ष कहा है (देखिए—इसी पुस्तक की बगला सं० पृ० १४)। वेदान्तकल्पतरु परिमल के प्रथम अध्याय प्रथमपाद में—'कणभक्ष-पदाक्ष आदि श्लोक में अप्पयदीक्षित ने गौतम को 'पदाक्ष' कहा है मानमेयोदय में नारायण भट्ट ने इन्हें अक्षपाद कहा है। यदि यहाँ पाद शब्द का चरणरूप अर्थ नहीं लेकर उसे पूजार्थक माना जाता तो ये सारे प्रयोग अशुद्ध हो जाते। दीर्घतमा गौतम ही न्यायसूत्रकार हैं—इसमें कुछ भी प्रमाण नहीं मिलता है। दूसरी बात यह है कि गौतम को जन्मान्धपाद कहने से उनका गौरव भी तो नहीं द्योतित होता है।

१ वेदान्तदर्शन चतुर्थसूत्र शाङ्करभाष्य की रत्नप्रभा व्याख्या में कहा गया है—'चक्षपादगौतमसंमतिमाह'। तार्किकरक्षा के हेत्वाभास की व्याख्या के आरम्भ में ही कहा गया है—'गौतमेन प्रपञ्चिता', 'गौतम-महर्षेण'। अद्वैत ब्रह्मसिद्धि में कहा गया है—'गौतमादिमुनीनाम्'।

स्कन्दपुराण में वर्णित है कि महायोगी महर्षि गौतम ने योगबल से अधिक दिन तक जिन्दा रह कर अनेक समय में विभिन्न स्थानों में विभिन्न कार्यों का सपादन किया। कूर्मपुराण में शिवावतार रूप में इनका वर्णन आया है। शिवपुराण मे भी इनका माहात्म्य मिलता है। लिङ्गपुराण (अ० २४) मे अक्षपाद तथा उलूक मुनि को शिव का अवतार तथा सोम शर्मा का शिष्य कहा गया है। शर शय्या पर सोये हुये भीष्मपितामह के देहान्त के अवसर मे वेदव्यास, नारद, गौतम तथा उलूक मुनि उपस्थित थे। महाभारत के शान्तिपर्व (अ० ४७) मे इसका वर्णन मिलता है। यही उलूक मुनि मतान्तर से औलूक्य मुनि वैशेषिकदर्शन अर्थात् इसके सूत्र के प्रणेता हैं। अतएव वैशेषिकदर्शन औलूक्यदर्शन शब्द से भी कहा जाता है। यह उलूक मुनि चावल के सामान्य कणों को या तुष कणों को खाकर जीवन यापन करते थे। इसी से इनका नाम कणाद प्रसिद्ध हुआ। परवर्ती ग्रन्थकारों ने इस नाम को लेकर कणभक्ष तथा कणभुक् आदि शब्द से भी इनका उल्लेख किया है। ये कश्यप के पुत्ररूप में भी प्रसिद्ध हैं। अतएव प्राचीन आचार्यों ने काश्यप नाम से इनका निर्देश किया है।

महाभारत सभापर्व के पञ्चम अध्याय में मुनि नारद के विभिन्न शास्त्रों के पाण्डित्य वर्णन में विशेषरूप से कहा गया है— *पञ्चावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित्'*।

नारद मुनि गौतम के न्यायदर्शन के प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव वाक्यरूप न्याय तथा अनुकूल तर्क आदि गुणों को एव सभी प्रकारों के दोषों को जानते थे। व्याख्याकार नीलकण्ठ ने भी वहाँ यही कहा है। अतएव प्रमाणित होता है कि महाभारत से बहुत पहले ही कणाद तथा गौतम ने क्रमशः वैशेषिक-सूत्र तथा न्यायसूत्र का प्रणयन किया था।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि वैशेषिकसूत्र (न्यायसूत्र) में किसी आचार्य का नाम नहीं आया है। न्यायभाष्य (१।१।३२।) में दशावयववादी नैयायिक सप्रदाय का उल्लेख मिलता है, किन्तु न्यायसूत्र में उसका निर्देश नहीं है। न्यायसूत्र मे प्राचीन सांख्य सिद्धान्त का खण्डन एव प्राचीन योगदर्शन का निर्देश पाया जाता है। न्यायसूत्र मे विचार द्वारा खण्डन करने के उद्देश्य से जिन नास्तिक दर्शनों का पूर्वपक्ष रूप में उल्लेख है, उन सबों का मूल उपनिषद् में मिलता है। प्राचीन काल से ही विभिन्न नास्तिक सप्रदाय विभिन्न रूप मे इन मतों की व्याख्या *करते आए हैं तथा समर्थन के लिये कितने मतों की सृष्टि भी करते रहते हैं।* दार्शनिक ऋषियों ने इन सभी मतों का सयुक्तिक प्रतिवाद किया है। पश्चात् बौद्ध आचार्य नागार्जुन ने जिस तरह से शून्यवाद की व्याख्या की है

उसका निर्देश न किसी न्यायसूत्र में है और न भाष्य मे। नागार्जुन का शून्यवाद 'सर्वनास्तित्ववाद' नहीं है। पहले ही न्यायसूत्र तथा भाष्य की व्याख्या मे यथास्थान मैंने इन सभी विषयों की आलोचना की है।

कहने का अभिप्राय यह है कि इसमे कुछ भी प्रमाण नहीं मिलता कि न्यायसूत्र की रचना नागार्जुन के बाद हुई है[1]। बौद्ध ग्रन्थ के किसी शब्द को न्यायसूत्र मे देखकर उक्त बौद्ध ग्रन्थ के बाद न्यायसूत्र की रचना मानना सर्वथा अनुचित है। इस तर्क को सर्वथा असद् अनुमान मानना चाहिये। लङ्कावतारसूत्र तथा माध्यमिकसूत्र आदि प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थो का एक भी पारिभाषिक शब्द न्यायसूत्र मे नहीं पाया जाता है। वात्स्यायन ने भी प्रतीत्य समुत्पाद आदि बौद्धदर्शन के पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग नहीं किया है। ये क्षणिकवादी, अनात्मवादी तथा सर्वनास्तित्ववादी को 'आनुपलम्भिक' शब्द से निर्दिष्ट करते हैं, किन्तु किसी को शून्यवादी शब्द से स्पष्टतः नहीं कहते। शून्य शब्द की व्याख्या भी इन्होने कहीं भी भाष्य मे नहीं की है। तब यह कैसे ज्ञात होगा कि वात्स्यायन बौद्ध आचार्य नागार्जुन के परवर्ती ही हैं।

पाश्चात्य ऐतिहासिक विद्वानों ने इसका समर्थन किया है कि पाणिनि गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती हैं, जब कि पाणिनि के सूत्र में 'न्याय' तथा 'चरक' शब्द का निर्देश है। अब किस प्रमाण को आधार मानकर कहा जाए कि बुद्ध से पहले गौतम का न्यायसूत्र तथा चरक मुनि के ग्रन्थ विद्यमान नहीं थे। प्रचलित चरक संहिता के सूत्रस्थान प्रथम अध्याय मे द्रव्य आदि छओ वैशेषिक पदार्थों का तथा अष्टम अध्याय विमानस्थान में न्यायशास्त्र के प्रसिद्ध पदार्थ,—वाद, जल्प, वितण्डा तथा प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव वाक्य

---

१. १३२६ बङ्गाब्द मे 'साहित्य परिषद् पत्रिका' की प्रथम संख्या में प्रकाशित 'बङ्गलार बौद्धसमाज' शीर्षक निबन्ध में म० म० हरप्रसाद शास्त्री महाशय लिखते हैं—'हमलोगों का न्यायसूत्र नागार्जुन के समय में या उसके बाद लिखा गया है।' इतिहास के वृद्ध विद्वान् उक्त शास्त्री महाशय के इस प्रबन्ध में तथा इससे पहले भी कतिपय निबन्धों मे न्यायसूत्र तथा उसके सिद्धान्त के विषय मे विभिन्न मान्यताएँ प्रकाशित हुई हैं। मूल न्यायदर्शन की व्याख्या मे विभिन्न स्थलों पर मैंने इन विषयों की आलोचना की है। यहाँ उन बातों को दुहराना बाहुल्य के कारण संभव नहीं है। पाठकवृन्द सम्पूर्ण रूप से मूलग्रन्थ की पर्यालोचना करके ही विभिन्न मान्यताओं का विचार करेंगे। व्यक्तिविशेष की बात को मानकर किसी सिद्धान्त के निर्णय पर पहुँचना उचित नहीं प्रतीत होता।

प्रभृति का उल्लेख मिलता है। इनमे किसी पदार्थ की स्वरूप-व्याख्या में भले ही मतभेद हो किन्तु इतना तो मानना ही होगा कि इन पदार्थों की प्रसिद्धि चरक मुनि के पहले से ही है।

महर्षि गौतम के योगबल के द्वारा सुदीर्घ जीवन में तथा न्यायसूत्र की प्राचीनता में विश्वास नहीं करने पर भी यह मानना ही होगा कि न्यायसूत्र वेदान्तसूत्र की अपेक्षा प्राचीन है। वेदान्तदर्शन (अ० २ पाद २) में कुछ सूत्रों के द्वारा शङ्कराचार्य आदि ने परमाणुकारणवाद का प्रतिवाद किया है। यह सर्वसम्मत है कि परमाणुकारणवाद कणाद तथा गौतम का सिद्धान्त है।

वेदान्तसूत्र की रचना न्यायसूत्र के बाद हुई है—इसमें बहुत प्रमाण मिलते हैं। मेरी दृष्टि मे इस विषय मे विवाद का समावेश हो नहीं है। भगवद्गीता (१३।५) में ब्रह्मसूत्र का निर्देश हुआ है और पाणिनि ने भी ४।३।११० सू० में पाराशर्य भिक्षु के सूत्र का उल्लेख किया है। वह ब्रह्मसूत्र ही है। क्योंकि पाराशर के पुत्र वेदव्यास ने केवल ब्रह्मसूत्र की ही रचना की है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि भगवद्गीता तथा वेदान्तसूत्र की रचना गौतम बुद्ध से बहुत पहले ही हुई है।

न्यायसूत्र के प्राचीन व्याख्याकार

सबसे पहले वात्स्यायन (पक्षिल स्वामी) ने ही यथाक्रम न्यायसूत्रों का संशोधन करके उन पर भाष्य का प्रणयन किया। पश्चात् जब बौद्ध के महायान सम्प्रदाय का विशेष अभ्युदय हुआ तब वसुबन्धु तथा दिङ्नाग आदि बौद्ध आचार्यों ने न्यायसूत्र तथा भाष्य का बाहुल्येन प्रतिवाद किया। इसी पर भारद्वाज गोत्रीय उद्योतकरने न्यायभाष्य के ऊपर वार्तिक का प्रणयन किया। इसमें इन्होंने अपनी बुद्धि के अनुसार बहुत स्थलों में न्यायसूत्र का उचित संशोधन करके पुन उन सूत्रों की व्याख्या की है। इन्होंने इस ग्रन्थ मे बहुत सूक्ष्म विचारों के द्वारा तत्कालीन बौद्धसमाजों की मान्यताओं का प्रतिवाद करके अपना प्रबल सम्प्रदाय स्थापित किया है। वात्स्यायन की तरह इस वार्तिककार का भी भारद्वाज नाम तथा गोत्र निमित्तक है। बाद में इनके वार्तिक की बहुत व्याख्याएँ हुई हैं, किन्तु काल की चपेट में आकर वार्तिककार का सम्प्रदाय लुप्त भी हो गया है। बहुत दिन बाद खृ० नवम शतक में सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्री वाचस्पति मिश्र ने अपने गुरु त्रिलोचन से शास्त्र का उपदेश पाकर उद्योतकर के न्यायवार्तिक की व्याख्या की। इनकी इसी व्याख्या का नाम 'तात्पर्य टीका' है। वाचस्पति मिश्र के बाद खृ० नवम शतक के अन्त में काश्मीर के वाराबास में रहकर जयन्तभट्ट ने गद्य तथा पद्य में न्यायमञ्जरी नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ

की रचना की। इस ग्रन्थ मे इन्होंने समस्त न्यायसूत्रों की व्याख्या नही की है। इन्होंने स्वय कहा है—'अस्माभिस्तु लक्षणसूत्राण्येव व्याख्यास्यन्ते' (न्या० म० पृ० १२)। इन्होंने ही पश्चात् न्यायकलिका लिखकर न्यायसूत्रों की स्फुटवृत्ति उपस्थित की। (इस ग्रन्थ का प्राप्य अश काशी सरस्वती भवन से प्रकाशित है।)

जयन्त भट्ट के बाद ख़ृ० दशम शतक के परार्द्ध मे मिथिला के सुप्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य ने वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका की तात्पर्य परिशुद्धि नामक व्याख्या का प्रणयन किया। यह न्यायनिबन्ध नाम से विद्वत्समाज मे प्रचलित है। न्यायदर्शन मे अत्यधिक कठिन उसके पञ्चम अध्याय की व्याख्या रूप में उदयनाचार्य ने न्यायपरिशिष्ट नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया जो प्रबोधसिद्धि तथा केवल परिशिष्ट शब्द से भी प्रचलित है तार्किकरक्षा के लेखक आचार्य वरदराज ने लिखा है—'प्रबोध-सिद्धिनाम्नि परिशिष्टे'।

वात्स्यायन तथा भारद्वाज : संक्षिप्त परिचय

वात्स्यायन नामक प्राचीन ऋषि ही न्यायभाष्य के लेखक हैं। किन्तु भारद्वाज मुनि ही न्यायवार्तिककार हैं—इसमे प्रमाण नहीं मिलता। न्यायवार्तिक के अन्त में उद्योतकर ने वात्स्यायन को 'अक्षपादप्रतिभ' कहा है और न्यायभाष्य को महाभाष्य कह कर उनके प्रति असाधारण सम्मान दिखाया है। किन्तु उन्हे ऋषि या मुनि कहीं भी नही कहा। इन्होंने विभिन्न स्थलों में नि सङ्कोचपूर्वक वात्स्यायन के मतो का प्रतिवाद किया है। वाचस्पति मिश्र ने भी वात्स्यायन के मतों को आर्ष मत नहीं कहा है। तात्पर्यटीका के आरम्भ मे ही इन्होंने लिखा है—'भगवता पक्षिलस्वा-मिना'। इससे विदित होता है कि उस समय यह प्रसिद्ध था कि पक्षिलस्वामी ने ही न्यायभाष्य का प्रणयन किया है। कितने ग्रन्थकारों ने तो केवल पक्षिल नाम से ही इनका उल्लेख किया है। कहने का सारांश यह है कि वात्स्यायन ऋषिविरल है, किन्तु उद्योतकर आदि प्राचीन आचार्यों ने इन्हें ऋषि नहीं माना है।

जैन पण्डित हेमचन्द्र सूरि ने अपने अभिधान चिन्तामणि में प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ कौटिल्य या चाणक्य का दूसरा नाम पक्षिलस्वामी भी कहा है। अनेक कारणों से प्राचीन पण्डितों का कहना है कि अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य ने ही न्यायभाष्य की रचना की थी। 'वात्स्य' गोत्र होने से ही उनका नाम वात्स्यायन हुआ। वात्स्यायन के कामसूत्र की व्याख्या मे यशोधर

ने लिखा है—'वात्स्यायन इति गोत्रनिमित्ता संज्ञा मल्लनाग इति संस्कारि की'। किन्तु अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य का मुख्य नाम विष्णुगुप्त था। ये स्वयं भी अपना नाम विष्णुगुप्त ही कहते हैं। कामसूत्रकार वात्स्यायन भी नैयायिक अवश्य थे, अतएव इन्होंने न्यायसिद्धान्त (अ० २, सू० ११) के अनुसार काम का लक्षण कहा है। किन्तु यहाँ यह निर्देश करना आवश्यक है कि अर्थशास्त्र, न्यायभाष्य तथा कामसूत्र की भाषा में परस्पर सर्वथा भेद है तथा कामसूत्र का मङ्गलाचरण भी कुछ और ही कहता है।

कामसूत्र के रचयिता वात्स्यायन ने 'आन्वीक्षिकी विद्या का विशेष उल्लेख नहीं किया है। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने सांख्यशास्त्र को भी आन्वीक्षिकी विद्या कहा है। किन्तु न्यायभाष्य के प्रणेता वात्स्यायन ने न्याय के प्रथम सूत्र भाष्य में आन्वीक्षिकी शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के प्रतिपादक गौतम के न्यायशास्त्र को ही आन्वीक्षिकी कहा है। अर्थशास्त्र के रचयिता तथा न्यायभाष्य के प्रणेता में इस तरह के मतभेद होने पर भी खृ० पूर्व चतुर्थ शतक के कौटिल्य या चाणक्य को ही न्यायभाष्यकार वात्स्यायन समझना युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता। ऐतिहासिकों के मत से न्यायभाष्यकार वात्स्यायन खृ० तृतीय शतक से पूर्ववर्ती नहीं हैं। किन्तु मेरी यह धारणा है कि बौद्ध के प्रथम अभ्युदय के समय में वात्स्यायन ने न्यायभाष्य की रचना की होगी। ये शून्यवादी बौद्ध दार्शनिक आचार्य नागार्जुन के पूर्ववर्ती हैं। प्राचीन समय में अपनी वंशपरम्परा के गौरव के लिये बहुत विद्वान स्वगोत्र निमित्तक नाम का उल्लेख करते थे। न्यायभाष्यकार पक्षिलस्वामी की तरह न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने अपने गोत्रनिमित्तक अभिधान को लेकर न्यायवार्तिक के अन्त में लिखा है— 'भारद्वाजेन वार्तिकम्'। इन्होंने भारद्वाज मुनि के वंश में जन्म लिया था अत एव उसी नाम से अपनी प्रसिद्धि के लिये उक्त पंक्ति लिखी है। किन्तु विभिन्न दर्शनों के व्याख्याकार वाचस्पतिमिश्र ने अपनी तात्पर्यटीका में तथा अन्य ग्रन्थों में इनका उद्योतकर नाम ही लिखा है। इसीसे विदित होता है कि इनका प्रकृत नाम उद्योतकर ही रहा होगा। न्यायवार्तिक के अन्त में लिखा भी है— 'भारद्वाज उद्योतकर'।

न्यायवार्तिक के आरम्भ में उद्योतकर ने लिखा है— कुतार्किकाज्ञान-निवृत्तिहेतुः करिष्यते तत्र मया निबन्धः'। इससे प्रतीत होता है कि कुतार्किकों का अज्ञाननिवारण ही न्यायवार्तिक के प्रणयन में उनका प्रयोजन रहा है।

वाचस्पतिमिश्र ने इस कुतार्किक शब्द से बौद्धदार्शनिक दिङ्नाग आदि आचार्यों को लिया है। यह प्रमाणित करता है कि दिङ्नाग के समय में ही न्यायवार्तिक लिखा गया होगा। अन्यथा इसके द्वारा वे दिङ्नाग आदि आचार्यों का अज्ञान निवारण कैसे कर सकते थे। वाचस्पतिमिश्र ने तात्पर्य-टीका में लिखा है—'उद्योतकरगवीनामतिजरतीना समुद्धरणात्'। इससे वार्तिक की प्राचीनता प्रमाणित होती है और परवर्ती काल में इसके संशोधन-संपादन के लिये इन्होंने पुण्यलाभ की इच्छा की है, जो प्रमाणित करता है कि बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति से भी उद्योतकर प्राचीन रहे होंगे[1]।

हर्षवर्द्धन के सभापण्डित बाणभट्ट ने हर्षचरित के आरम्भ में लिखा है—'कवीनामगलद्दर्पो नून वासवदत्तया'। बाणभट्ट ने भी जिस वासवदत्ता के गद्यकाव्य की इस तरह प्रशंसा की है उस काव्य के रचयिता सुबन्धु ने अपनी वासवदत्ता के किसी स्थल में कहा है—'न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपाम्'। इससे विदित होता है कि सुबन्धु से बहुत पहले ही न्याय-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक उद्योतकर की आचार्य रूप में प्रसिद्धि हो चुकी थी।

कहने का अभिप्राय यह है कि उद्योतकर खृ० सप्तम शतक में विद्यमान थे—यह मत कदापि मान्य नहीं हो सकता। बौद्धाचार्य वसुबन्धु का समय यदि खृ० चतुर्थ शतक ही माना जाए तो भी उद्योतकर का समय खृ० पञ्चम शतक होगा।

वाचस्पति मिश्र तथा उदयनाचार्य

न्यायसूची निबन्ध के अन्त में वाचस्पतिमिश्र ने एक पद्य लिखा है—'श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे' (वसु = ८, अङ्क ९, वसु = ८ =

---

१ उद्योतकर ने अपने न्यायवार्तिक में धर्मकीर्ति की किसी कथा की चर्चा नहीं की है। इन्होंने प्रत्यक्षसूत्र के वार्तिक में दिङ्नाग के प्रत्यक्ष लक्षण—'प्रत्यक्ष कल्पना पोढम्' का सयुक्तिक प्रतिवाद किया है, किन्तु धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष लक्षण—'प्रत्यक्ष कल्पना पोढमभ्रान्तम्' का उल्लेख नहीं किया है। पश्चात् बौद्ध के विज्ञानवाद के खण्डन में धर्मकीर्ति की 'सहोपलम्भनियमात्' इत्यादि कारिका की चर्चा या किसी रूप में आलोचना ही नहीं की है। किन्तु धर्मकीर्ति ने अपने ग्रन्थ न्याय ग्रन्थ में उद्योतकर के मत का प्रतिवाद करने के लिये कहा है—'अत्र च भाष्यकारमत दूषयित्वा वार्तिककारोद्धारोपितलक्षणमाह तदेव कम'। इस सन्दर्भ में वार्तिककार शब्द से उद्योतकर ही विवक्षित हैं।

८९८ वर्ष)। पहले बहुत विद्वानों की धारणा थी कि यह अंक शकाब्द का सूचक है अतएव इस पुस्तक का रचना-काल खृ० ९७६ है। किन्तु उपर्युक्त पद्य में शकशब्द का स्पष्टतः उपादान नहीं है। अतएव वत्सर शब्द से संवत् ही लिया जाना चाहिये। यहाँ यदि वत्सर शब्द से शकाब्द लिया जाए तो वाचस्पतिमिश्र उदयनाचार्य के समसामयिक हो जाएंगे। क्योंकि उदयनाचार्य के लक्षणावली ग्रन्थ में लिखा है—'तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्तत'। तर्क=६, अम्बर=०, अंक ९=९०६ शकाब्द अर्थात् खृ० ९८४ के बीतने पर उदयनाचार्य ने लक्षणावली की रचना की। वस्तुतः वाचस्पति की तात्पर्यटीका के व्याख्याकार आचार्य उदयन का समय खृ० दशम शतक है—यह निर्विवाद है। उदयनाचार्य की कुसुमाञ्जलि के प्राचीन व्याख्याकार वरदराज ने अपनी व्याख्या में श्रीहर्ष के प्रतिवाद को किसी तरह भी आलोचना नहीं की है। यही प्रमाणित करता है कि श्रीहर्ष से पहले ही खृ० एकादश शतक में इन्होंने उक्त ग्रन्थ (कुसुमाञ्जलि) की व्याख्या की है। और भी कितने ही कारण हैं जो प्रमाणित करते हैं कि आचार्य उदयन का समय खृ० दशम शतक है।

वाचस्पतिमिश्र उदयनाचार्य से पूर्ववर्ती हैं—इसकी पुष्टि उदयनाचार्य की उक्ति से भी होती है। वाचस्पतिमिश्र की तात्पर्यटीका की तात्पर्यपरिशुद्धि के आरम्भ में उदयनाचार्य ने—'मातः सरस्वति' इत्यादि पद्य के द्वारा सरस्वती की प्रार्थना की है कि—'वाक्चेतसो मर्मपुनर्भवं सावधाना वाचस्पतेर्वचसि न स्खलतो यथैते'।

अर्थात् वाचस्पति के वाक्यों की तात्पर्यव्याख्या के अवसर पर मेरे वाक्य और चित्त पर सावधान हो कर इस तरह से अनुशासन करो कि मेरे वाक्य तथा चित्त वाचस्पति के वाक्यों में स्खलित न हो जाएं। आचार्य उदयन की यह प्रार्थना प्रमाणित करती है कि उन्हें वाचस्पति से साक्षात् शास्त्र का उपदेश नहीं प्राप्त हुआ था। अत एव इन्होंने उपर्युक्त श्लोक में वाचस्पति पद में श्लेष करके उनको बृहस्पति भी कहा है, किन्तु उन्हें अपना गुरु नहीं माना है। उदयनाचार्य की अन्य उक्तियाँ भी प्रमाणित करती हैं कि आचार्य त्रिलोचन तथा उनके शिष्य वाचस्पति के दिवङ्गत होने के बाद ही इन्होंने मिथिला में न्याय आदि दर्शनों की साधना की। अत एव सिद्ध होता है कि वाचस्पति की न्यायसूची निबन्ध पुस्तक का रचना काल ८९८ शकाब्द (९७६ खृ०) नहीं है किन्तु ८९८ वि० सं० (८४१ खृ०) है।

वाचस्पति मिश्र तथा जयन्त भट्ट

जयन्तभट्ट का पुत्र अभिनन्द कादम्बरी कथासार की रचना करता हुआ पहले अपने वंश का परिचय प्रस्तुत करता है । जैसे—'शक्तिर्नामाभवद् गौडो भारद्वाजकुले द्विज'। यहाँ गौड शब्द से प्रमाणित होता है कि जयन्तभट्ट के पूर्वपुरुष गौडदेशीय ब्राह्मण थे। यही अभिनन्द गौड अभिनन्द शब्द से कहा गया है। यह तो विचार का विषय है कि उक्त पद्य मे गौड शब्द के प्रयोग का कुछ विशेष प्रयोजन रहा हो। मुझे तो जो उचित जँचा कह दिया है।

जयन्तभट्ट के प्रपितामह शक्तिस्वामी ख० अष्टम शतक मे मुक्तापीड़ ललितादित्य के मन्त्री पद पर रहे हैं। इनका पुत्र कल्याण स्वामी महायाज्ञिक पण्डित हुए। न्यायमञ्जरी में वेदप्रामाण्य का समर्थन करते हुए जयन्तभट्ट ने लिखा है कि मेरे पितामह ने वेदोक्त सग्रहणी' नामक यज्ञ करके 'गौडमूलक' नाम का एक गाँव उपार्जित किया था। उक्त यज्ञ का फल गाँव का लाभ करना ही कहा गया है।

कल्याण स्वामी के पौत्र तदनुसार पण्डित चन्द्र के पुत्र जयन्त ने न्यायमञ्जरी (पृ० २७१) मे काश्मीर के राजा शङ्कर वर्मा का नाम तथा उनके खास खास कार्यों का निर्देश किया है। प्रसङ्गवश इन्होंने यह भी लिखा है कि—'राज्ञा तु गह्वरेऽस्मिन् अशब्दके बन्धने विनिहितोऽहम्। ग्रन्थरचनाविनोदादिह हि मया वासरा गमिता' (न्या० म० पृ० ३९४)।

इस सन्दर्भ से प्रतीत होता है कि जयन्तभट्ट किसी कारण से राजा के द्वारा किसी निःशब्द गह्वर में बद्ध थे और उसी समय मे न्यायमञ्जरी का प्रणयन इन्होंने किया। ऐतिहासिक विद्वानों के मत से काश्मीर के राजा शङ्कर वर्मा का राज्यकाल ख० ८८३ से ९०२ ई० पर्यन्त था। कहने का तात्पर्य यह है कि काश्मीरवासी जयन्तभट्ट शङ्कर वर्मा के राज्यलाभ से पहले कारागार मे बद्ध नहीं हुए थे। इन्होंने वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका के प्रणयन के बाद ही न्यायमञ्जरी की रचना की है।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी में वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों से किसी सन्दर्भ का उल्लेख नहीं किया है[१]।

---

१ प्रथम प्रकाशित न्यायमञ्जरी की भूमिका मे उद्धृत—'ज्ञानञ्च' इत्यादि तात्पर्यटीका की बात पहले न्यायवार्तिक म [२।१।३३ (पृ० २३६)] उद्योतकर ने ही कहा है। पश्चात् प्रकाशित न्यायमञ्जरी म (पृ० ६२) जयन्तभट्ट रचित आचार्य का मत वाचस्पति का सिद्धान्त है। इसीसे

इन्होंने गौतम के प्रत्यक्ष सूत्र की व्याख्या में विभिन्न मान्यताओं का विवरण तथा उल्लेख किया है, किन्तु वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में अपने गुरु त्रिलोचन के मत के अनुसार प्रत्यक्ष की जो व्याख्या उपस्थित की है न्यायमञ्जरी में उसकी चर्चा नहीं है। ये यदि उस व्याख्या से परिचित होते तो प्राचीन व्याख्याओं का समर्थन करते हुए त्रिलोचन की उस व्याख्या का निर्देश अवश्य ही करते। पश्चात् जैन नैयायिक हेमचन्द्र इस नूतन व्याख्या की आलोचना करते हुए प्रमाण मीमांसा में (पृ० ३६) कहते हैं—यत्त पूर्वाचार्यकृतव्याख्यावैमुख्येन सहयावद्भि त्रिलोचनगुरुवाचस्पतिप्रमुखै रयमर्थः समर्थितो यथा' इत्यादि। हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ में जयन्तभट्ट की चर्चा की है। त्रिलोचन तथा जयन्तभट्ट एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं या भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं—यह सन्देह भी सर्वथा मूलरहित है। बौद्धाचार्य रत्नकीर्ति अपोहसिद्धि ग्रन्थ में त्रिलोचन के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। यही प्रमाणित करता है कि त्रिलोचन ने विभिन्न ग्रन्थों का प्रणयन किया था। वे वाचस्पति मिश्र के गुरु होने योग्य थे।

किसी ने एक दूसरी बात ही यहाँ कही है। जयन्तभट्ट मीमांसा शास्त्र में वाचस्पति के गुरु थे। क्योंकि मण्डनमिश्र कृत विधिविवेक की व्याख्या के आरम्भ में मङ्गलाचरण में वाचस्पतिमिश्र ने अपने गुरु को नमस्कार करते हुए कहा है—न्यायमञ्जरी' ॰ प्रसविने ··· विद्यातरवे

समझाने के लिये सम्पादक ने टिप्पणी में तात्पर्य टीका के सदृश सन्दर्भ का निर्देश किया है। किन्तु यह सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि वाचस्पति ने जयन्तभट्ट की तरह सामग्री को करण नहीं माना है। उक्त स्थल में जयन्तभट्ट उसी को स्पष्ट करने के लिये आचार्य के मत को उठाकर कहते हैं—'इन्द्रियसन्निकर्षादिसामग्री स्वभावस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्य'—। मुझे तो ऐसा लगता है कि जयन्तभट्ट ने वाचस्पति की सांख्यतत्त्वकौमुदी तथा सांख्यकारिका की माठर वृत्ति भी नहीं देखी थी। अतएव पश्चात् (पृ० १०९ में) 'ईश्वरकृष्णस्तु' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा ईश्वरकृष्ण के प्रत्यक्ष लक्षण में इन्होंने अनुमान आदि का अतिव्याप्ति दोष दिखाया है। किन्तु वाचस्पति की व्याख्या अथवा माठर की वृत्ति यदि ये देखे रहते तो यह दोष कदापि नहीं दिखा सकते थे। यहाँ इन्होंने जिस राजा की व्याख्या का निर्देश किया है उसका समय पृ० अष्टम शतक है। उसका नाम रणरङ्गमल्ल भोजराज है। (मेरे संपादित न्याय-दर्शन का द्वितीय संस्करण पृ० १०३ तथा ११९ देखिए)।

नमो गुरवे'। न्यायमञ्जरी रचयिता ही जयन्तभट्ट हैं। प्रश्न होता है कि इसमें क्या प्रमाण है कि वाचस्पतिमिश्र के पद्य मे उपात्त 'न्यायमञ्जरी' शब्द से भट्ट जयन्त की न्यायमञ्जरी ही अभिप्रेत है। मीमांसाशास्त्र में कहा गया 'न्याय' भी न्यायशब्द का एक प्रसिद्ध अर्थ है। उसी न्याय की व्याख्या के लिये बाद मे जैसे न्यायमाला आदि ग्रन्थों की रचना हुई, उसी तरह वाचस्पतिमिश्र के स्वदेशीय मीमांसागुरु ने मीमांसाशास्त्र में *न्यायमञ्जरी की रचना नहीं की थी —इसमे भी कुछ प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है।* अतएव जो हेतु किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है उससे किसी सिद्धान्त की सिद्धि नहीं हो सकती है। वाचस्पतिमिश्र के उस श्लोक में कहागया न्यायमञ्जरी शब्द से कौन सा ग्रन्थ विशेष उनका विवक्षित है ये अपने गुरु को उस श्लोक में विद्यातरु क्यों कहते हैं और उस तरु से उद्भूत मञ्जरी किस तरह की होगी? यह भी तो विचारणीय है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि वाचस्पति मिश्र ने मगध देश मे मीमांसाशास्त्र पढने के लिये गुरु को नहीं पाकर काश्मीर जाकर उसका अध्ययन किया। किन्तु वेदान्तशास्त्र उन्होंने किनसे पढ़ा? वे जिन गुरु से वेदान्तशास्त्र (उत्तर मीमांसा) पढे, उन्होंने उनको पूर्व मीमांसा नहीं पढाई—इसी मे क्या प्रमाण है? किन्तु वाचस्पतिमिश्र की *तात्पर्यटीका की रचना के समय मे जयन्तभट्ट की न्याय* मञ्जरी नहीं भी मिली हो। इससे पहले वे यदि जयन्तभट्ट से पढे होते तो उनके मुख से अवश्य ही कितने विशिष्ट मतो को सुने होते और तात्पर्यटीका मे अवश्य ही उन श्रुत मतों का उल्लेख करते। इन्होंने तात्पर्यटीका में तथा अन्य ग्रन्थों में जयन्तभट्ट के विशिष्ट मतों को आलोचना नहीं की है। इन्होंने तात्पर्यटीका में गौतम के प्रत्यक्ष सूत्र की व्याख्या में अपने गुरु त्रिलोचन के मतों की व्याख्या की है—'अस्माभिस्तु त्रिलोचनगुरुन्नीतमार्गानुगमनोन्मुखै' इत्यादि। यथार्थ मे जयन्तभट्ट के अध्यापन काल से पहले वाचस्पति मिश्र ने ग्रन्थों की रचना की है। इन्होंने *तात्पर्यटीका की रचना के समय में ही सपूर्ण न्यायसूत्रों की एक* पुस्तक न्यायसूचीनिबन्ध का (८४१ ई० में) प्रणयन किया और जयन्तभट्ट ने ८८३ ख० के बाद काश्मीर में बन्दी होकर न्यायमञ्जरी का प्रणयन किया।

इस प्रसङ्ग में कुछ और भी सक्षेप में ही कहना है। बहुत विद्वान् कुछ दिनों से जयन्तभट्ट की उदारता का वर्णन करते हैं। किन्तु उनकी उदारता किस रूप की थी? क्या वे जातिभेद या चाण्डालादि स्पर्श को दोष नहीं मानते थे? नवीन प्रकाशित न्यायमञ्जरी की भूमिका में स्पष्टतः लिखा है कि

वाचस्पति मिश्र अपने गुरु जयन्तभट्ट के उदार मतों को नहीं मानते थे। ये बौद्ध तथा जैन आदि की निन्दा स्पष्ट करते हैं। जयन्तभट्ट बौद्ध आदि शास्त्रों के प्रामाण्य के विषय में बाद में मतान्तर का उल्लेख करने पर भी वे अपना मत स्पष्ट कहते हैं—'ये तु सौगतसंसारमोचकागमा पापकाचारोपदेशिन' कस्तेषु प्रामाण्यमार्गोऽनुमोदते बुद्धशास्त्रे हि विस्पष्टा दृश्यते वेदबाह्यता' इत्यादि। बाद में यद्यपि जयन्तभट्ट ने भी बौद्ध आदि को दुरात्मा कहा है—'तथा चैते बौद्धादयोऽपि दुरात्मानो वेदप्रामाण्यनियमिता एव चाण्डालादिस्पर्शं परिहरन्ति' इत्यादि (न्यायमञ्जरी प्रथम संस्करण पृ० २६५–६६)। और भी कितने स्थलों में जयन्तभट्ट के विचारों से कैसे उदारता झलकती है—यह समझ में नहीं आता है।

नव्यनैयायिक तथा न्यायसूत्र के नवीन व्याख्याकारगण

मिथिला के मङरौनी (मङ्गलवनी) ग्रामवासी विद्वच्चूडामणि प० गङ्गेश उपाध्याय ने 'तत्त्वचिन्तामणि' का प्रणयन किया। इसीसे नव्य नैयायिकों का सम्प्रदाय प्रवर्तित हुआ। पश्चात् इनके पुत्र वर्द्धमान उपाध्याय, पौत्र पक्षधर उपाध्याय एवं प्रपौत्र नरहरि उपाध्याय ने उक्त तत्त्वचिन्तामणि की भिन्न भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की और अध्यापन के द्वारा नव्य नैयायिक सम्प्रदाय को गतिमान बनाया। इसी संप्रदाय में परम्परा क्रम से खृ० पञ्चदश शतक में एक असाधारण विद्वान् का अभ्युदय हुआ।[1] गङ्गेश उपाध्याय के 'उपमानचिन्तामणि'—ग्रन्थ में 'जरन्नैयायिका जयन्तभट्टप्रभृतयः' इस तरह के पाठ से ज्ञात होता है कि इन्होंने जयन्तभट्ट को जरन्नैयायिक कहा है। वस्तुतः गङ्गेश के पूर्ववर्ती उदयनाचार्य एवं इनके पूर्ववर्ती जयन्तभट्ट के प्राचीन आचार्य कहा जाना उपयुक्त भी है। जयन्तभट्ट ने कितने प्राचीन मतों के उद्धरण एवं उन मतों के अनुसार न्यायसूत्र की व्याख्या लिखी है। इसी हेतु गङ्गेश ने उनको प्राचीन नैयायिक कहा है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि जयन्तभट्ट भाष्यकार वात्स्यायन के मत के समर्थक हैं। जयन्तभट्ट ने अनेक सूत्रों की व्याख्या में भाष्यकार के मतों एवं उनकी व्याख्याओं को न मानकर अपना कुछ भिन्न मन्तव्य उपस्थित किया

---

१ पक्षधरमिश्र ने यज्ञपति के घर में पुस्तकें नहीं देखीं। यही समझकर मैंने पहले (पृ० १८ में) लिखा है कि पक्षधर मिश्र खृ० पञ्चदश शतक के पूर्ववर्ती यज्ञपति के समसामयिक नहीं हैं। यज्ञपति का समय खृ० चतुर्दशशतक है अतएव इनके पितामह ने खृ० त्रयोदशशतक में 'तत्त्वचिन्तामणि' की रचना की होगी। मेरी ऐसी ही धारणा रही है। इस विषय में और भी बहुत सी विचारणीय बातें हैं।

है। जो भी हो, अभिप्राय यह है कि गङ्गेश उपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि के अध्येता-अध्यापक ही नव्यनैयायिक कहे जाते हैं। केवलान्वयि दीधिति की व्याख्या में—'अत्रवदन्ति' कल्प के आरम्भ मे जगदीश तर्कालङ्कार ने भी लिखा है—'गङ्गेय नव्यनैयायिकानाम्'।

संस्कृतसाहित्य का इतिहास नामक बँगला पुस्तक (पृ० २९५) मे लिखा है कि "गङ्गेश के परवर्ती विद्वान् केवल व्याप्तिवाद तथा अनुमानखण्ड को लेकर ही सर्वदा शास्त्र-चर्चा करते थे। किन्तु ईश्वर तथा आत्मा इन दोनों ही पदार्थ का पर्यवसान केवल नाम मे रह गया था। कुसुमाञ्जलि का ईश्वर न्यायशास्त्र केवल शुष्क तर्कशास्त्र मे परिणत हो गया"। ये सभी बातें किसी पाश्चात्त्य विद्वान् की उक्ति का अनुवाद है या यों ही कहा गया है—इसका ज्ञान मुझे नही है। किन्तु आधुनिक नव्यनैयायिको ने अध्यात्मशास्त्र तथा अन्यान्य विभिन्न शास्त्रों की व्याख्या किस तरह से की है—इसके ज्ञान के लिये उन लोगो की पुस्तकें पढ़नी होगी। विभिन्न प्रान्तों के संस्कृत पुस्तकों के सूचीपत्र देखने से नव्यनैयायिकों के ग्रन्थो का परिचय हो सकता है। गौड़ सम्प्रदाय के आचार्य नव्यनैयायिक वासुदेव सार्वभौम ने वेदान्तग्रन्थ 'अद्वैत मकरन्द' की व्याख्या लिखी और इनके पिता नरहरि विशारद को 'वेदान्त विद्यामय' की उपाधि मिली है।[1]

इन वासुदेव सार्वभौम के पौत्र स्वप्नेश्वर ने शाण्डिल्यसूत्र के भाष्य का प्रणयन किया। इन्होंने साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी की 'प्रभा' व्याख्या, न्यायशास्त्र में न्यायतत्त्वनिकष' एवं वेदान्तशास्त्र में 'वेदान्ततत्त्वनिकष' नामक ग्रन्थों की रचना की। शाण्डिल्यसूत्रभाष्य मे एक स्थल में इन्होंने लिखा है—'प्रमाण विचारोऽस्माभिर्न्यायतत्त्वनिकषे वेदान्ततत्त्वनिकषे च निरूपित इति नेह प्रतन्यते' (महेश पाल सं०, पृ० १०७ द्रष्टव्य)। सारांश यह कि नदिया में नव्य न्याय की स्थापना के बाद बङ्गाली नैयायिक साङ्ख्य तथा वेदान्त आदि शास्त्रों को जानना भूल गये, वे लोग केवल नव्य न्याय के अनुमान खण्ड को लेकर ही जीवन गँवा देते थे—यह धारणा सर्वथा असत्य है।

---

१. नवद्वीपमहिमा' नामक पुस्तक (द्वि० सं०, पृ० १५७) मे लिखा है कि दुर्गादास विद्यावागीश के पिता गाङ्गवदोय (अर्थात् गङ्गोपाध्याय) द्वितीय वासुदेव सार्वभौम ने अद्वैत मकरन्द की व्याख्या लिखी है। किन्तु उक्त लेखक इस व्याख्या के अन्त में वासुदेव सार्वभौम के—'शोवन्द्यान्वय'—इत्यादि श्लोक को यदि जानते रहते तो इस तरह की भूल कभी नहीं कर सकते थे। पहले ही (पृ० ८ म) इन दोनों पद्यो का उद्धरण

नदिया मे ही स्मृतिकार रघुनन्दन सांख्य तथा वेदान्त आदि शास्त्रों में निष्णात थे। इसके प्रमाण मे उनके 'मलमासतत्त्वविवेक' आदि विभिन्न ग्रन्थों को देखा जा सकता है। नव्यनैयायिकों मे सबसे पहले गङ्गेश उपाध्याय के पुत्र वर्द्धमान उपाध्याय ने उदयनाचार्य के कुसुमाञ्जलि आदि विभिन्न ग्रन्थों की प्रकाश नामक व्याख्या लिखी और उसमें भी विशेष करके प्राचीन न्याय तथा वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों की व्याख्या इन्होंने की है। उदयनाचार्य की तात्पर्यपरिशुद्धि की प्रकाश व्याख्या 'न्यायनिबन्धप्रकाश' नाम से भी प्रसिद्ध है। पद्मनाभ मिश्र ने इसकी वर्द्धमानेन्दु नामक व्याख्या लिखी है। शङ्कर मिश्र ने न्यायतात्पर्यमण्डन नाम से उक्त व्याख्या की ही व्याख्या लिखी है। उदयनाचार्य की प्रबोधसिद्धि या न्यायपरिशिष्ट की वर्द्धमानकृत प्रकाश व्याख्या ही परिशिष्ट-प्रकाश नाम से प्रसिद्ध है। इस व्याख्या मे वर्द्धमान उपाध्याय ने न्यायदर्शन के पञ्चम अध्याय की व्याख्या में बहुत से विचारों का सङ्कलन किया है। प्राचीन समय में नैयायिक समाज में इस व्याख्या की बहुत मान्यता थी। पक्षधर मिश्र ने इनका गुरुवत् आदर किया है और अपनी आलोक व्याख्या में लिखा है—'यत्तु परिशिष्ट-प्रकाशे महामहोपाध्यायचरणाः' (सोसाइटी सं०, पृ० ६७४)। पश्चात् मिथिला के गोकुलनाथ उपाध्याय भी अपने अमृतोदय नाटक के तृतीय अङ्क मे लिखते हैं—एष परिशिष्टप्रकाशकृद् बुधो वर्द्धमानः'। इस परिशिष्टप्रकाश के साथ ही न्यायपरिशिष्ट ग्रन्थ कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है।

वर्द्धमान उपाध्याय ने स्वतन्त्र रूप से भी न्यायसूत्र की व्याख्या रूप मे 'अन्वीक्षानयतत्त्वबोध' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके बाद ख़ृ० पञ्चदश शतक में मिथिला के वाचस्पति मिश्र (द्वितीय) ने पूर्ण विचार के साथ न्यायतत्त्वालोक नामक ग्रन्थ में न्यायसूत्र की नई व्याख्या प्रस्तुत की। इन्हीं का ग्रन्थ न्यायसूत्रोद्धार है। इसमे स्पूर्ण न्यायसूत्रों की संख्या ५३१ है। प्राचीन

दिया जा चुका है। ये वासुदेव सार्वभौम प्रसिद्धतम व्यक्ति आखण्डलवन्द्योपाध्याय की छठी पीढ़ी में सम्भूत नरहरि विशारद के ज्येष्ठ पुत्र हैं। इनके ज्येष्ठ पुत्र जनेश्वर अथवा जलेश्वर थे जो वाहिनीपति कहलाते थे और इनके कनिष्ठ पुत्र का नाम चन्दनेश्वर था। जनेश्वर या जलेश्वर के पुत्र स्वप्नेश्वर ने शाण्डिल्य सूत्र के स्वकृत भाष्य के अन्त में अपना परिचय देते हुए लिखा है—'गौडक्ष्मावलये विशारद इति ख्यातादभूद् भूमणे' इत्यादि। इसके विशेष विवरण के लिये I. H. Q. Vol XVI पृ० ५८ १९ में दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य का लेख देखिए।

वाचस्पतिमिश्रकृत *न्यायसूचीनिबन्ध* में *न्यायसूत्र* की संख्या ५२८ है। काशी में महादेव वेदान्ती कृत न्यायसूत्र की वृत्ति उपलब्ध है। हमने सुना है कि *महादेव भट्टाचार्य नामक बङ्गाली विद्वान् ही महादेव वेदान्ती हैं। खृ० षोडश* शतक में रामभद्र सार्वभौम ने *न्यायरहस्य* नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ये जानकीनाथ चूडामणि के पुत्र और जगदीश तर्कालंकार के गुरु थे[१]।

रामभद्र सार्वभौम के परवर्ती विद्वान् विश्वनाथ न्यायपञ्चानन ने न्यायसूत्रवृत्ति की रचना की। विभिन्न ग्रन्थों के लेखक विद्यानिवास भट्टाचार्य इनके पिता थे और रुद्रनाथ न्यायवाचस्पति इनके बड़े भाई थे। विश्वनाथ ने न्यायसूत्रवृत्ति के अन्त में लिखा है—'रसबाणतिथौ शकेन्द्रकाले'। इससे ज्ञात होता है कि इन्होंने १५५६ शकाब्द (१६३४ खृ०) में वृन्दावन में *न्यायसूत्रवृत्ति* की रचना की। किसी-किसी पुस्तक में उक्त श्लोक का पाठ यह है—'रसवाजितिथौ' (तिथि १५—वाजि ७, रस ६)। इस पाठ के अनुसार प्रतीत होता है कि विश्वनाथ ने १५७६ शकाब्द अर्थात् १६५४ खृ० में न्यायसूत्रवृत्ति की रचना की। किन्तु मेरी धारणा है कि विश्वनाथ इस समय तक जीवित नहीं रहे होंगे अथवा बहुत वृद्ध हो गये होंगे। क्योंकि सनातन गोस्वामी के अध्यापक विद्यावाचस्पति चैतन्य देव के आविर्भाव (खृ० १४८६) से पहले ही नदिया में अध्यापन करते थे। इनके पौत्र विश्वनाथ का जन्म खृ० १५६० में होने से १६५४ ई० में इनकी उम्र ९४ वर्ष की होती है। अतएव उक्त श्लोक में—'रसवाजितिथौ' इस पाठ को ही उचित मानना होगा।

---

१. रामभद्र सार्वभौमकृत *कुसुमाञ्जलिव्याख्या* में—'*भवानीभवनाथाभ्यां पितृभ्यां प्रणमाम्यहम्*' इत्यादि पद्य देखा जाता है। किन्तु रामभद्र भवनाथ का पुत्र नहीं था। मैथिल विद्वान् शङ्कर मिश्र के पिता का नाम भवनाथ एवं माता का भवानी था, यह उन्होंने स्वयं लिखा है। शङ्करमिश्र कृत कुसुमाञ्जलि की आमोद व्याख्या में आरम्भ में ही उपर्युक्त श्लोक मिलता है। इस विषय में विभिन्न विद्वानों की भिन्न भिन्न कल्पनाएँ हैं। किन्तु मैंने काशी में बङ्गाली विद्वान् हरिहर शास्त्री के घर में इस रामभद्री व्याख्या की एक प्राचीन प्रति देखी है। आरम्भ से कितने पत्रों के नष्ट हो जाने पर भी ग्रन्थ के मध्य में ही लिखा है—'एतत् पर्यन्तम् शंकरमिश्रकृतं ततः सार्वभौमीयम्'। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि किसी लेखक ने पहले शंकरमिश्रकृत व्याख्या के उपलब्ध अंशों को लिख कर पश्चात् रामभद्री व्याख्या को लिखा है। इन्होंने भी रामभद्री व्याख्या का पूर्वांश नहीं देखा होगा।

किन्तु विश्वनाथ के पिता विद्यानिवास भट्टाचार्य दीर्घजीवी होकर काशीवास करने लगे थे। विश्वनाथ भी उन दिनों उनके साथ ही रहा करते थे। महाराष्ट्र देश के ब्राह्मण समाज के संबन्ध में किसी व्यवस्थापत्र में विद्यानिवास भट्टाचार्य का उसी समय का हस्ताक्षर पाया जाता है। खृ० षोडश शतक के अन्त में बादशाह अकबर के समय में दिल्ली में निमन्त्रित पण्डितों की किसी सभा में उपस्थित होकर विद्यानिवास भट्टाचार्य ने सुप्रसिद्ध दाक्षिणात्य मीमांसक नारायण भट्ट के साथ शास्त्र विचार करते हुए किसी धर्मशास्त्रीय विषय में वङ्ग देश में प्रचलित व्यवहार का समर्थन किया है। पश्चात् मांसश्राद्ध एवं मत्स्यमांस भक्षण के विषय में दाक्षिणात्य विद्वानों के साथ इनका गम्भीर शास्त्रार्थ हुआ। इन्हीं के उपदेश से इनके पुत्र विश्वनाथ ने वङ्गदेश के आचार का शास्त्रीयत्व प्रतिपादित करने के लिए 'मांसतत्त्वविवेक' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। काशी सरस्वतीभवन से इसका प्रकाशन हुआ है। इस ग्रन्थ के अन्त में दाक्षिणात्य पण्डितों के प्रति विश्वनाथ की कटूक्ति से ज्ञात होता है कि दाक्षिणात्य विद्वानों के साथ किस तरह से गम्भीर शास्त्रार्थ हुआ था।[1]

विश्वनाथ के पिता विद्यानिवास भट्टाचार्य ने ही पहले पहल मुग्धबोध की व्याख्या करके नदिया आदि देशों में इस व्याकरण का प्रचार किया। व्याकरणशास्त्र में असाधारण विद्वत्ता के कारण विद्यानिवास भट्टाचार्य का एक सम्प्रदाय ही उस देश में चल रहा है। पश्चात् मुग्धबोध की व्याख्या में श्रीराम तर्कवागीश ने लिखा है—'केचिद्विद्यानिवासाद्याः'। मुग्धबोध की विद्यानिवासकृत व्याख्या हमलोगों को उपलब्ध नहीं है। किन्तु तत्त्वचिन्तामणि की व्याख्या की एक पुस्तक मैंने देखी है। उसके आरम्भ में ही लिखा है—'विशारद तनूजस्य विद्यावाचस्पते' सुत.। विद्यानिवासस्तनुते चिन्तामणिविवेचनम्'[2]। इस

---

१. 'मांसतत्त्वविवेक' के अन्त में विश्वनाथ ने लिखा है—'ब्रह्मावर्तब्रह्मर्षिदेश मध्यदेशार्यावर्त्तेषु मांसभक्षणाचार आजानिकोऽविगीतः प्रतीयत एव। ये तु कलिवर्ज्यतया मांसश्राद्धे विवदते 'स्तेयान्यमहापातकनिष्कृति' रिति कलिवर्ज्यतयोक्तमपि ब्रह्महत्यातत्संसर्गप्रायश्चित्त धनलोभादुपदिशन्ति मातृवंश्यविवाहं ... न विवदन्ते रागरोषदूषितचेतसो देवानांप्रियास्ते केन शिक्षणीया इत्यलं मांसं विद्विषद्भि. सौगतमतानुसारिभि' सहश्रमेण।'

२ मैंने काशी में बङ्गाली विद्वान् हरिहरशास्त्री के घर में इस व्याख्या की पुस्तक देखी है। अन्यत्र इसका विवरण कहीं भी नहीं मिलता। इस पुस्तक के अन्त में लिखा है—'कृष्णदासघोषेण लिखितम् शकाब्दाः १५०५।' इन्हीं के घर में शब्दमणिपरीक्षा नामक पुस्तक भी मैंने देखी। (यह वासुदेव सार्व-

व्याख्या के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विद्यानिवास भट्टाचार्य नव्य न्याय की तत्त्वचिन्तामणि के भी असाधारण मर्मज्ञ थे। ये नरहरिविशारद के पौत्र एवं रत्नाकर विद्यावाचस्पति के पुत्र थे। विद्यानिवास के पुत्र विश्वनाथ ने अपनी न्यायसूत्रवृत्ति में न्यायभाष्य आदि प्राचीन ग्रन्थों की चर्चा की है। इनकी वृत्ति अपने गौरव के कारण ही संपूर्ण देश में प्रसिद्ध है।

पश्चात् ख्रृ० अष्टादश शतक के अन्त में शान्तिपुर के अद्वैत प्रभु के *अतिवृद्ध प्रपौत्र*[1] *राधामोहन गोस्वामी* ने *विश्वनाथकृत वृत्ति* का अवलम्बन करके नई रीति से न्यायसूत्रविवरण नामक ग्रन्थ की रचना की। ख्रृ० १८१८ में *कृष्णकान्त विद्यावागीश* ने *गौतमसूत्रसदीपनी* नामक एक नई *व्याख्या* की रचना की। स्थानाभाव के कारण गोस्वामी भट्टाचार्य आदि नव्य न्याय के विभिन्न विद्वानों का विभिन्न ग्रन्थों के लेखकों का परिचय एवं कीर्तिकथा कहना संभव नहीं हो सका।

न्यायपरिचय की रचना के कारण

दशवर्ष पहले वङ्गीय 'जातीय परिषद्' के द्वारा प्रबोधचन्द्र वसुमल्लिक वृत्ति प्राप्त होने से इसी परिषद् के आदेश से न्यायदर्शन के संबन्ध में मेरे कुछ *व्याख्यान* हुए। पश्चात् उन्हीं वक्तृताओं के संग्रह रूप में इस *न्यायपरिचय ग्रन्थ* की रचना करके उक्त परिषद के अधिकारी वर्ग को देने पर परिषद् ने १३४० वङ्गाब्द में इसका प्रकाशन किया। किन्तु उस समय मैं काशीवास कर रहा था इसलिये प्रूफ देखने का पूरा अवसर नहीं मिला। इस समय इसके द्वितीय

भौम इत 'मणिपरीक्षा' का कुछ अंश रहा होगा)। इसके अन्त में लिखा है—'विद्यानिवासानां पुस्तकमिदम्। भवानन्दनन्दिना काश्यां लिखितम्—शकाब्दाः १५०३'। इससे ज्ञात होता है कि विद्यानिवास इस समय (ख्रृ० १५८१) में काशी में ही रहा करते थे। इसके प्रधान लेखक कायस्थकविचन्द्र ने लक्ष्मीधर के कृत्यकल्पद्रुम का दानकाण्ड लिख दिया था जो आजकल इण्डिया ऑफिस में सुरक्षित है। उक्त पुस्तक के अन्त में लिखित द्वितीय पद्य 'व्योमेन्दुशरदीताशु-मिते शाके' से प्रतीत होता है कि १५१० शकाब्द (१५८८ ख्रृ०) में यह पुस्तक लिखी गई होगी। काशी में विद्यानिवास इसके बाद भी जीवित रहे।

१. यह जानना आवश्यक है कि ख्रृ० अष्टादशशतक के अन्त में नाटोर के शक्तिशाली राजा रामकृष्ण के ज्येष्ठ पुत्र विश्वनाथ इसी राधामोहन गोस्वामी से दीक्षा लेकर वैष्णव हुए थे।

संस्करण के मुद्रण के अवसर पर कलकत्ता के योगेन्द्र विद्यालय के अध्यापक मेरे छात्र पण्डित श्री पञ्चानन न्यायसांख्यवेदान्त तीर्थ ने इसके प्रूफ संशोधन कार्य में मेरा विशेष साहाय्य किया है। इस संस्करण में पूर्व मुद्रित का ही मुद्रण नहीं हुआ है प्रत्युत बहुत स्थलों में परिवर्तन परिवर्द्धन आदि करके इसको एक नया ही रूप दे दिया गया है। इससे पाठकों का यदि कुछ उपकार होगा तो मैं अपना श्रम सार्थक मानूँगा। इति।

वङ्गाब्द १३४१
२ आश्विन, कलकत्ता

फणिभूषण तर्कवागीश

विषय-सूची

न्याय-परिचय

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

पहला अध्याय

न्यायशास्त्र का प्रयोजन

प्रत्येक शास्त्र का प्रयोजन होता है। प्रयोजन के ज्ञान के बिना किसी भी शास्त्र में किसी व्यक्ति की प्रवृत्ति नहीं होती है। मीमांसाचार्य कुमारिल भट्ट ने भी कहा है—

> "सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वाऽपि कस्यचित्।
> यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते ?॥
> ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
> शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥"
>
> (१२।१७। श्लोक, श्लोक वार्तिक)

अभिप्राय यह है कि प्रत्येक शास्त्र का तथा प्रत्येक कार्य का जब तक प्रयोजन नहीं कहा जाता है तब तक कोई भी व्यक्ति उसे ग्रहण नहीं करता है। जिस शास्त्र में सम्बन्ध तथा प्रयोजन का ज्ञान रहता है उस शास्त्र को सुनने के लिये श्रोता प्रवृत्त होते हैं। इसलिए किसी भी शास्त्र के प्रारम्भ में उस शास्त्र का प्रयोजन तथा उस प्रयोजन के साथ उस शास्त्र का क्या सम्बन्ध है, यह कहना आवश्यक हो जाता है।

अतएव न्यायदर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम ने न्यायशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय तथा प्रयोजन को पहले ही व्यक्त किया। उन्होंने न्याय दर्शन का पहला सूत्र कहा है—"प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।" इस सूत्र में पहले—'प्रमाण-प्रमेय' 'निग्रहस्थानानाम्' इन पदों के द्वारा प्रमाण से लेकर निग्रहस्थान पर्यन्त सोलह प्रकार के पदार्थ कहे गये हैं।

पहले प्रतिपाद्य पदार्थ के नाम का कथन "उद्देश" कहा जाता है। उक्त प्रमाण आदि पदार्थ के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस लाभ होता है—यही इस सूत्र का अर्थ है। इससे स्पष्ट हुआ है कि उक्त प्रमाण आदि पदार्थ इस न्याय शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है और निःश्रेयस इसका प्रयोजन है। उक्त प्रमाण आदि पदार्थों की व्याख्या तथा उस सम्बन्ध में अन्यान्य बातें आगे कही जाएँगी।

अब इस सूत्र में कहा गया "निःश्रेयस" शब्द का अर्थ क्या है—यही समझना चाहिये।

'निःश्रेयस' शब्द का मुक्ति अर्थ ही प्रसिद्ध है। किन्तु कल्याण अथवा अभीष्ट भी उसके द्वारा जाना जाता है। महाभारत में कल्याण अर्थ में निःश्रेयस शब्द का प्रयोग हुआ है।

महर्षि गौतम ने पश्चात् द्वितीय सूत्र में तथा अन्यान्य सूत्रों में मुक्ति प्रकाश करने के लिए अपवर्ग शब्द का ही प्रयोग किया है—यह भी लक्ष्य करना आवश्यक है। इससे ज्ञात होता है कि महर्षि गौतम ने इस सूत्र में निःश्रेयस शब्द से केवल मुक्ति को ही ग्रहण नहीं किया है अपितु अन्यान्य दृष्ट निःश्रेयस भी।

न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने कहा है कि—निःश्रेयस[2] दो प्रकार के होते हैं—दृष्ट तथा अदृष्ट। उनमें प्रमाण आदि पदार्थों के तत्त्वज्ञान से दृष्ट निःश्रेयस का लाभ होता है। किन्तु आत्मा आदि प्रमेय पदार्थों के तत्त्वज्ञान से अदृष्ट निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त द्विविध निःश्रेयस के बीच चरम निःश्रेयस मुक्ति ही अदृष्ट निःश्रेयस है। उससे भिन्न सकल निःश्रेयस ही दृष्ट निःश्रेयस है। न्याय दर्शन के प्रथम सूत्र में जो प्रमाण तथा प्रमेय प्रभृति सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति कही गई है उनमें आत्मा आदि प्रमेय पदार्थ का तत्व साक्षात्कार ही मुक्तिरूप चरम निःश्रेयस की प्राप्ति में अन्तिम कारण है। किन्तु सर्व प्रकार के निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए प्रमाण आदि पन्द्रह पदार्थों का तत्त्वज्ञान आवश्यक है।

---

१ 'कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकं क्रीणासि पण्डितम्।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं परम्॥'
—सभापर्व, महाभारत। ५।३५।

निःश्रेयसम् कल्याणम्। नीलकण्ठकृतटीका।
'सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ' ॥—गीता–५।२।
'निःश्रेयसकरौ" निःश्रेयसं मोक्षं कुर्वाते। शाङ्करभाष्य।

२ निःश्रेयसं पुनर्दृष्टादृष्टभेदाद्द्वेधा भवति। तत्र प्रमाणादिपदार्थं तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसं दृष्टम्, नहि कश्चित्पदार्थो ज्ञायमानो हानोपादानोपेक्षाबुद्धिनिमित्तं न भवतीति। एवञ्च कृत्वा सर्वे पदार्था ज्ञेयतया उपक्षिप्यन्त इति। परन्तु निःश्रेयसमात्मादेस्तत्त्वज्ञानाद्भवति।
—न्यायवार्तिक।

× × ×

तब यह भी उद्योतकर की उस बात से ज्ञात होता है कि प्रमाण आदि पदार्थ का तत्त्वज्ञान मुक्ति की प्राप्ति में अत्यावश्यक अनेक दृष्ट निःश्रेयस (सांसारिक अभ्युदय) का सम्पादन करके मुक्ति की प्राप्ति में भी प्रयोजक होता है। अतः उद्योतकरने भी, गौतम ने प्रथम सूत्र में कहे गये निःश्रेयस शब्द से निःश्रेयस मात्र को ग्रहण किया है—यह हम समझ सकते हैं।

तात्पर्य टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने इस सूत्र में कहे गये निःश्रेयस शब्द के द्वारा चरम निःश्रेयस मुक्ति को ही ग्रहण किया है। किंतु भाष्यकार वात्स्यायन ने इस सूत्र के भाष्य के अन्तिम भाग में न्यायशास्त्र को सकल विद्या का दीपक, सभी कार्यों का उपाय, तथा सब धर्मों का आश्रय बतलाकर व्यक्त किया है कि विचारपूर्वक समस्त प्रयोजनों की सिद्धि के लिए न्यायशास्त्र आवश्यक है। वहाँ वाचस्पति मिश्र ने भी भाष्यकार के इस आशय को स्पष्ट किया है।[१] वास्तव में, न्यायशास्त्र के साहाय्य के बिना विचार पूर्वक किसी भी शास्त्र का सम्यग् ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए न्याय शास्त्र को सकल विद्या का दीपक कहा गया है। परन्तु बहुत विषयों के ही विचार से तत्त्वनिर्णय करने के लिए *अनुमान प्रमाण प्रधान अवलम्बन है। गणित,* विज्ञान, इतिहास तथा राजनीति आदि सभी विषयों के ज्ञान में जो अनुमान प्रमाण अपरिहार्य है एवं जो सकल लोक यात्रा निर्वाहक है उसी अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध में समस्त ज्ञातव्य न्यायशास्त्र में ही वर्णित हुआ है। अतएव न्यायशास्त्र के प्रयोजन असंख्य हैं। किन्तु इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि चरम निःश्रेयस, अपवर्ग अथवा मुक्ति न्यायशास्त्र का मुख्य प्रयोजन है।

महर्षि गौतम ने न्याय सूत्र के द्वारा जिस आन्वीक्षिकी विद्या का प्रकाश किया है, वह केवल तर्क विद्या नहीं है किन्तु तर्क विद्या सहित अध्यात्म विद्या। अतः प्रथम सूत्र के भाष्य के अन्तिम भाग में वात्स्यायन ने भी कहा है—"इहत्वध्यात्मविद्यायाम् आत्मादिज्ञानम् तत्त्व-ज्ञानम् निःश्रेयसाधिगमोऽपवर्गप्राप्तिरिति"। महर्षि गौतम ने भी इसको व्यक्त करने के लिए दूसरा सूत्र कहा है—'दुःख जन्म-प्रवृत्ति-दोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरो त्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः"॥ महर्षि ने इस सूत्रसे व्यक्त किया है कि अपवर्ग ही इस शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है, तथा प्रथम सूत्र में कहे गये प्रमाण आदि षोडश पदार्थों के अन्तर्गत आत्मा आदि प्रमेय पदार्थ का जो तत्त्वज्ञान है, वही समस्त प्रमेय पदार्थों के सर्वविध मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति के द्वारा अपवर्ग का चरम कारण होता है। आगे यथा क्रम यह स्पष्ट होगा।

---

१ भाष्यकारस्तु नास्त्येव तत् प्रेक्षावतां प्रयोजनम् यत्रान्वीक्षिकी न निमित्तं भवतीत्याह—'सेयमान्वीक्षिकीति'॥ —तात्पर्य टीका।

दूसरा अध्याय

गौतम के द्वारा कहे गये अपवर्ग का स्वरूप तथा उस विषय में मतभेद

अप पूर्वक 'वृज' धातु से घञ् प्रत्यय करने पर 'अपवर्ग' शब्द सिद्ध होता है। जन्म के सांसारिक बन्धन का वर्जन अर्थात् संसारमूलक सकल दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही यहाँ अपपूर्वक 'वृज्' धातु का अर्थ होता है। अत मुक्ति का ही दूसरा नाम अपवर्ग कहा जाता है। यही मोक्ष आदि नाम से तथा अमृत नाम से भी कहा गया है। श्री भगवान् ने भी कहा है—

"जन्म मृत्यु-जरा दुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते"। (गीता १४ २०।) सर्वविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होने से किसी मत में वास्तव मुक्ति नहीं होती है। इसलिए सर्वसम्मति से यही (उक्तरूप) मुक्ति का सामान्य लक्षण कहा जा सकता है। अत न्यायसूत्रकार गौतम ने अपवर्ग के लक्षण सूत्र में यह कहा है—"तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" (१।१।२२)। महर्षि गौतम ने इस सूत्र के अव्यवहित पूर्व में दुःख का लक्षण कहा है—"बाधनालक्षणं दुःखम्"। इसलिए इस सूत्र में निर्दिष्ट 'तत्' शब्द से पूर्व सूत्र में कहे गये सभी दुःखों को ग्रहण करके गौतम ने कहा है कि सकल दुःखों का अत्यन्त विमोक्ष अर्थात् दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही 'अपवर्ग' है।

वैशेषिक दर्शन में महर्षि कणाद ने भी कहा है—"तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः" (५।२।१८) इस सूत्र के अव्यवहित पूर्व सूत्र में महर्षि कणाद 'अदृष्ट' का उल्लेख करने से इस सूत्र में प्रथमोक्त "तत्" शब्द से उसी अदृष्ट गृहीत हुआ है—यह समझा जाता है। जीवात्मा के धर्म तथा अधर्म नाम के गुण विशेष ही अदृष्ट रूप से लिये जाते हैं। कणाद के उक्त सूत्र से ज्ञात होता है कि जीव के धर्म का सकल अदृष्ट के अभाव में उसका जो उस शरीरादि के साथ विलक्षण संयोग का अभाव तथा अन्य शरीर के साथ विलक्षण संयोग का अप्रादुर्भाव या अनुत्पत्ति, वही मुक्ति है।

यथार्थत, जीवों को जन्म होने पर ही नाना दुःखों का भोग अवश्यम्भावी है। चिरकालिक अदृष्ट जन्य शरीर आदि के अभाव के उच्छेद (पुनर्जन्म की निवृत्ति) होने पर कदापि उस जीव का किसी दुःख के भोग की सम्भावना नहीं रहती है। शरीर आदि के अभाव में कदापि उस आत्मा में ज्ञान आदि कोई भी विशेष गुण उत्पन्न नहीं होते हैं।

अत वैशेषिक आचार्यों ने कणाद के उक्त सूत्र के अनुसार ही कहा है कि आत्मा के ज्ञान आदि विशेष गुणों का अत्यन्त उच्छेद ही मुक्ति है।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय के मत में आत्मा चैतन्य अथवा ज्ञानस्वरूप नहीं है, किन्तु चैतन्य या ज्ञान उसका (आत्मा का) विशेष गुण है। और जीवात्मा में वही ज्ञान अनित्य है। धर्म, अधर्म तथा उनसे होने वाले सुख दुःख जीवात्मा के अनित्य विशेष गुण हैं। अत जिन कारणों से जीवात्मा में ज्ञान आदि विशेष गुणों का उत्पत्ति होती है, उन कारणों का अत्यन्त उच्छेद होने से उस जीवात्मा में ज्ञानादि विशेष गुणों की उत्पत्ति कभी नहीं होती है। सुख के कारण धर्म तथा दुःख के कारण अधर्म का अत्यन्त उच्छेद होने पर और कभी भी उस जीवात्मा में सुख दुःखों की उत्पत्ति की सम्भावना नहीं होती। किन्तु किसी जीवात्मा के सकल विशेष गुणों का उच्छेद होने पर भी उस आत्मा का उच्छेद नहीं होता है। क्योंकि आत्मा निर्विकार तथा नित्य है।

इस मत में जीवात्मा के सकल विशेष गुणों के अत्यन्त नाश होने पर जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित रहता है। उक्त मत से अनेक सम्प्रदायों का घोर विरोध है। उन लोगों का कहना है कि—यदि मुक्त आत्मा को किसी तरह का सुख भोग नहीं होता है तथा तब उसका कोई भी ज्ञान नहीं रहता, तो इस स्थिति में मुक्त आत्मा की अवस्था मूर्च्छा अवस्था के समान हो जाता है। अत यह पुरुषार्थ ही नहीं हो सकता है। क्योंकि पुरुष या जीव जिस चीज की प्रार्थना करता है वही पुरुषार्थ कहलाता है। क्या कोई अपनी मूर्च्छा अवस्था की प्रार्थना करता है? क्या मूर्च्छा अवस्था के लिए किसी भी कार्य में कोई प्रवृत्त होता है?—"नहि मूर्च्छायवस्थार्थं प्रवृत्तो दृश्यते सुधी"। अपनी मूर्च्छावस्था की प्राप्ति के लिए किसी बुद्धिमान् व्यक्ति की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है।

इसके उत्तर में न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय का कहना यह है कि कोई भी विद्वान् कभी अपनी अचैतन्यावस्था की कामना नहीं करता है—यह नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि यह देखा गया है कि असह्य वेदना से कातर होकर कितने बुद्धिमान् व्यक्ति भी समय समय पर अपना मृत्यु की कामना करते हैं तथा अनेक व्यक्ति समय समय पर आत्महत्या भी कर लेते हैं। इससे बहुत से उदाहरण हैं।

अवश्य ही, यह स्वीकार करना होगा कि केवल दुःख से निवृत्ति को उद्देश्य करके समय पर अचैतन्यावस्था भी पुरुषार्थ हो सकता है। वास्तव में, मुक्त पुरुष की पूर्ण अवस्था मूर्च्छा अथवा उसके समान कोई अन्य अवस्था नहीं है। क्योंकि मूर्च्छादि अवस्था के अन्त होने पर फिर भी नाना दुःखों का भोग

अवश्यम्भावी है, किन्तु मुक्त होने पर फिर से कदापि किसी भी प्रकार के दुःख की सम्भावना भी नहीं रहती है। इसलिए अवश्य ही 'मुक्ति' परम पुरुषार्थ है।

सुख और दुःख की निवृत्ति—ये दोनों ही जीव के काम्य अथवा पुरुषार्थ हैं। इन दोनों में संसार से विरक्त पुरुष के लिए दुःख की निवृत्ति ही अधिक प्रिय है। क्योंकि जिसको संसार में सुख के लिए बहुत दुःखों का भोग करना पड़ा है वह संसार से नितान्त विरक्त होकर चिर स्थिर मुक्ति की प्राप्ति के लिए दुःसह दुःखों के साथ बहुत सुख को भी छोड़ता है। और वही विरक्त पुरुष सुख से भी विरक्त होकर कहता है—'अब अधिक सुख नहीं चाहिए। अभी इन सभी यन्त्रणाओं से छुटकारा चाहिए। सुख से स्वस्ति अच्छी है।' दुःख से निवृत्ति ही यहाँ स्वस्ति अथवा शान्ति है। सुख भोग करने वाले को दुःख भोग भी करना ही होगा। क्योंकि सुख मात्र ही दुःख से युक्त है। अर्थात् दुःख से रहित चिरस्थायी कोई सुख नहीं है। इसलिए मुमुक्षु (मोक्ष के इच्छुक) व्यक्ति आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति रूप मुक्ति के लिए सब प्रकार के सुख भोगों की कामना को छोड़ देते हैं। वह (मुमुक्षु) सर्वथा चिर शान्ति के लिए सुख तथा दुःख से रहित अवस्था के लिए ही प्रार्थना करते हैं।

शान्तरस के स्वरूप की व्याख्या करते हुए किसी पूर्वाचार्य ने कहा है—'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा'।

फलित कथन यह है कि इस मत में चिरकाल के लिए आत्मा की सुख तथा दुःख आदि से रहित अवस्था ही चरम पुरुषार्थ एवं चिर शान्ति है।[१]

छान्दोग्य उपनिषद् के अन्तिम अध्याय का—'न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरम् वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (८।१२।१) यह श्रुतिवाक्य ही उक्त रूप मुक्ति में प्रमाण होता है। क्योंकि—'अशरीरम्—न प्रियाप्रिये स्पृशतः' इस वाक्य से ज्ञात होता है कि मुक्त आत्मा विदेह होकर रहता है तथा उस समय में उसको प्रिय अथवा अप्रिय का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है। नपुंसकलिङ्ग 'प्रिय' शब्द का अर्थ सुख तथा

---

१ सांख्य मत में आत्मा नित्य चैतन्य स्वरूप होते हुए भी मुक्ति के समय में किसी भी प्रकार का सुख भोग नहीं करता है। त्रिविध दुःख से चिर काल के लिए निवृत्ति ही मुक्ति है। तत्त्वसमास में भी यह सूत्र देखा जाता है—'न पुनस्त्रिविधेन दुःखेनाभिभूयते'। वहीं दुःखाभाव शास्त्रों में मोक्षसुख तथा ब्रह्मानन्द नाम से कहा गया है। सांसारिक सुख कभी भी निरतिशय अथवा चिर स्थायी नहीं हो सकता है। सुख और दुःख से रहित अवस्था को भी सुख कहा गया है—'सुखं दुःखसुखात्ययः'।

'अप्रिय' शब्द का अर्थ दुःख होता है। उक्त श्रुतिवाक्य में 'अप्रिय' शब्द का अर्थ—वैषयिक (अनित्य) सुख है—यह समझने का कोई कारण नहीं है।

अवश्य ही, छान्दोग्य उपनिषद के अन्तिम अध्याय में पीछे तथा पहले भी ब्रह्मलोक-प्राप्त पुरुष के सम्बन्ध में वर्णित है कि वह इच्छा मात्र से अनेक तरह के सङ्कल्पों की सिद्धि कर सकता है। किन्तु ब्रह्मलोक की प्राप्ति ही प्रकृत 'मुक्ति' नहीं है। क्योंकि ब्रह्मलोक की प्राप्ति होने पर भी अनेक व्यक्तियों की पुनरावृत्ति या पुनर्जन्म होता है। अतः श्री भगवान् ने कहा है—'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन'। (८।१६।) किन्तु ब्रह्मलोक में 'तत्त्वज्ञान' प्राप्त करके जो व्यक्ति महा प्रलय में 'हिरण्यगर्भ' ब्रह्मा के साथ मुक्ति प्राप्त करता है वह उस समय में किसी सुख का भोग नहीं करता है—यह छान्दोग्य उपनिषद् में पीछे नहीं कहा गया है। किन्तु पहले कहा गया है कि—अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः'।

नव्य न्याय के प्रवर्तक गङ्गेश उपाध्याय ने 'ईश्वरानुमानचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ में पूर्वोक्त मत का समर्थन करते हुए कहा है कि सुख तथा दुःख से निवृत्ति यह दोनों ही पुरुषार्थ है। यह नहीं कहा जा सकता है कि सुख की इच्छा से ही जीवों की सर्वत्र ही प्रवृत्ति होती है। क्योंकि केवल दुःख से निवृत्ति के लिए भी जीवों की बहुतसी प्रवृत्तियाँ होती हैं। अतः यह स्वीकार करने योग्य है कि यह 'दुःख से निवृत्ति' भी पुरुषार्थ है। किन्तु यदि सुख से रहित 'दुःख की निवृत्ति' पुरुषार्थ नहीं है तो दुःख से युक्त सुख भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता है। किन्तु जिस सुख से पीछे अथवा पहले दुःख का भोग अवश्यम्भावी है ऐसे स्वर्ग आदि सुख को भी 'पुरुषार्थ' रूप में स्वीकार किया गया है। अतः उस प्रकार की सुख से रहित केवल 'आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति' भी पुरुषार्थ रूप में मानी जा सकती है। वही परम पुरुषार्थ 'मुक्ति' है।

---

१. 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत् सुखं स्वःपदास्पदम्'॥

—श्लोक वार्तिक। (अनुवादक)

गङ्गेश उपाध्याय के द्वारा उद्धृत 'शिरोमदीयं यदि यातु यातु' यह वाक्य किसी प्राचीन श्लोक का द्वितीय चरण है। दूसरों की स्त्री में प्रवृत्त कामार्त पुरुष विवशता से यह श्लोक कहता है। सम्पूर्ण पद्य यह है—

'द्वारे कृते चन्दनमञ्जुवासे। शिरो मदीयं यदि यातु यातु।
स्तनानि नूनं जनकात्मजायें दशाननस्यापि दशाननानि'॥"

सुख मात्र ही दुःख से सम्बद्ध है अतएव अनित्य है। यथार्थ 'मुमुक्षु' व्यक्ति यह समझकर केवल 'आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति' के लिए शास्त्र में विहित उपायों का आचरण करते हैं। वे सुख के इच्छुक नहीं होते हैं। जो सब तरह से अविवेकी रहता है वह केवल सुख का इच्छुक होकर बहुतर दुःखों से संपृक्त सुख के लिए अपनी प्रियतमा को—'शिरो मदीय यदि यातु यातु' कहकर अर्थात् तुम्हारे लिए मेरा मस्तक भी यदि चला जाए तो जाए जनकनन्दिनी सीता के लिए रावण ने भी अपने दशों मुखों को काट डाला था, जो यह कहते हुए दूसरों का स्त्रियों में दुर्वासना से प्रवृत्त होते हैं, तथा—'वरं वृन्दावनेरम्ये शृगालत्वम् व्रजाम्यहम्। न तु वैशेषिकीं मुक्तिं प्रार्थयामि कदाचन"। (१) इस तरह के श्लोक पढ़ते हुए ऊपर कहे गये मुक्ति के स्वरूप का उपहास करते हैं— ऐसे व्यक्ति मुक्ति के अधिकारी ही नहीं हैं।

जो विवेकी व्यक्ति समझते हैं कि इस संसारात्मक महावन में दुःख दुर्दिन असंख्य हैं, तथा सुख के जुगनू का प्रकाश बहुत थोड़ा है, इसलिए यह संसार क्रुद्ध सर्पों के फणा मण्डल के समान है, अतः 'आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति' रूप मुक्ति के लिए सुख को भी छोड़ना चाहते हैं, ऐसे व्यक्ति ही मुक्ति के अधिकारी हैं।[२]

भाष्यकार वात्स्यायन ने भी गौतम के द्वारा कहा गयी मुक्ति के स्वरूप के वर्णन में पूर्वोक्त मत का ही समर्थन किया है तथा तदनुसार यही मत नैयायिक सम्प्रदाय में प्रचलित है।

---

१ यह श्लोक भी प्रसिद्ध है। गङ्गेश उपाध्याय उक्त श्लोक के प्रथम चरण को उद्धृत करते हैं—इससे ज्ञात होता है कि यह भी कोई प्राचीन पद्य है। इस श्लोक में कोई वैष्णव कहता है कि मैं वृन्दावन में शृगाल (गीदड़) होकर रह सकता हूँ किन्तु वैशेषिक दर्शन में कही गई मुक्ति की कभी प्रार्थना नहीं करता हूँ। गङ्गेश उपाध्याय ने उस स्थल में—परदारादिषु प्रवर्तमाना 'वरं वृन्दावने रम्ये' इत्यादि वदन्तो नात्राधिकारिण यह कहकर उस समय में प्रचलित किसी सम्प्रदाय विशेष के ऊपर कटाक्ष की सूचना की है।

२ तस्मादविवेकिन सुखमात्रलिप्सवो बहुतरदुःखानुविद्धमपि सुखमुद्दिश्य शिरो मदीयं यदि याति यातु इति कृत्वा परदारादिषु प्रवर्तमाना 'वरं वृन्दावने रम्ये' इत्यादि वदन्तो नात्राधिकारिणः। ये च विवेकिनो स्मिन् संसारवाऽसारे कियन्ति दुःखदुर्दिनानि कियती वा सुखखद्योतिका इति कुपितफणिफणामण्डलच्छायाप्रतिममिदमिति मन्यमानाः सुखमपि हातुमिच्छन्ति, तेऽत्राधिकारिणः

—ईश्वरानुमाने चामणि ॥

वात्स्यायन के विचार से यह ज्ञात होता है कि उनसे पहले कोई नैयायिक सम्प्रदाय—'गौतम के मत से मुक्ति में नित्य सुख की अनुभूति होती है'—इसका समर्थन करता था। क्योंकि अपवर्ग लक्षणसूत्र की व्याख्या में वात्स्यायनने कहा है—'नित्य सुखमात्मनो महत्त्ववत् मोक्षेऽभिव्यज्यते, तेनाभिव्यक्तेनात्यन्त विमुक्तः सुखी भवतीतिकेचिन्मन्यन्ते, तेषां प्रमाणाभावादनुपपत्तिः'।

इस मत का अप्रामाणिकत्व सिद्ध करने के लिए वात्स्यायन ने बाद को कहा है कि मुक्तिकाल में नित्य सुख के अनुभव को नित्य भी नहीं कहा जा सकता और अनित्य भी नहीं कहा जा सकता। अतः वह किसी प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि नित्य या अनित्य के सिवाय कोई पदार्थ प्रमाण सिद्ध नहीं होता है। किन्तु आत्मा का नित्य सुख स्वीकार करके उसके अनुभव को भी नित्य पदार्थ कहने पर मुक्ति से पहले समूचे दुःखी जीवों में भी सदा वह नित्य सुखानुभव विद्यमान है, यह स्वीकार करना पड़ता है।

संसारी जीव को दुःख भोग के समय में भी नित्य सुख का अनुभव होता है—यह कभी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। उस नित्य सुख का अनुभव अनित्य अर्थात् मुक्ति काल में वह उत्पन्न होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि मुक्ति काल में उस अनुभव का उत्पादक कोई कारण नहीं रहता है। परन्तु किसी धर्म विशेष को उसका (नित्य सुख के अनुभव का) उत्पादक कहने पर वह धर्म तथा वह नित्य सुखानुभव चिरस्थायी नहीं कहे जा सकते हैं। क्योंकि यह प्रमाण से सिद्ध है कि उत्पन्न भाव पदार्थ मात्र ही विनाश शील हैं। किन्तु किसी समय में, जिसका नाश होगा वह किसी भी मत में मुक्ति नहीं है। 'मुक्ति पदार्थ सबों के मत में चिरकाल तक रहने वाला है, अन्यथा उसे वास्तव मुक्ति कहा ही नहीं जा सकता है। इसलिए मुक्ति के स्वरूप का प्रकाशक किसी किसी शास्त्र वाक्य में यद्यपि 'सुख' तथा 'आनन्द' शब्द का प्रयोग होने पर भी आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति ही उसका अर्थ समझना चाहिये क्योंकि उपरोक्त कारण से उसका मुख्य अर्थ नहीं लिया जा सकता है।

वात्स्यायन ने और अधिक विचार करने के उपरान्त अन्त में कहा है कि 'मुक्त' पुरुष को किसी भी प्रकार के सुखभोग की कामना रहने पर उसे मुक्त नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि कामना अथवा विषय की अभिलाषा बन्धन के रूप में सर्वसम्मत है। किन्तु किसी भी प्रकार के 'बन्धन' रहने पर उसे मुक्त नहीं कहा जा सकता है। 'न हि बन्धने सति कश्चिन्मुक्त इत्युच्यते।'

और यदि तब उनको (मुक्त पुरुष को) किसी प्रकार के सुख भोग की कामना

नहीं है तो उनकी 'आत्यन्तिक दु:ख निवृत्ति' मात्र को भी मुक्ति क्यों नहीं कहा जा सकता ? जो सर्वथा निष्काम हैं उनको किसी प्रकार का सुखभोग न होने पर भी वे मुक्त क्यों नहीं होंगे ?

चरम मुक्ति काल में मुक्त पुरुष को सुखभोग के साधन शरीर आदि कुछ नहीं रहने से उस काल में उन्हें सुखभोग हो भी नहीं सकता। अतः चरम तत्व ज्ञान से समस्त मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने पर कभी उस आत्मा को पुनरावृत्ति या जन्मलाभ नहीं होगा, अतः किसी प्रकार के दु:खभोग की सम्भावना भी नहीं है। उन्हें सुखभोग न होने पर भी उनको मुक्तिलाभ स्वीकार करना ही पड़ेगा। परन्तु वात्स्यायन के बहुत काल के बाद शैव सम्प्रदाय विशेष के आचार्य काश्मीर निवासी 'भासर्वज्ञ' ने उनके गुरुपरम्परागत पूर्वोक्त प्राचीन मत समर्थन करने के लिये न्यायसार ग्रन्थ में कहा है कि मुक्त पुरुष का नित्य सुख का अनुभव शास्त्र प्रमाण सिद्ध है।[1]

उन सब शास्त्र-वाक्यों में 'सुख' तथा 'आनन्द' शब्द के मुख्य अर्थ में किसी बाधक के नहीं रहने के कारण लाक्षणिक अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती।

वात्स्यायन ने कहा है कि मुक्त पुरुष के नित्य सुख के अनुभव को नित्य भी नहीं कहा जा सकता है तथा अनित्य भी नहीं, अतः वह शास्त्र का अर्थ नहीं हो सकता है। किन्तु आचार्य भासर्वज्ञ ने उस नित्यसुख के अनुभव को भी नित्यपदार्थ कहा है। संसारावस्था में भी सब जीवात्मा में वह नित्यसुख तथा उसका अनुभव विद्यमान रहने पर भी उस समय पाप आदि प्रतिबन्धक के

---

१. भासर्वज्ञ ने स्मृतिवचन उद्धृत किया है—

'सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
तं वै मोक्षं विजानीयात् दुष्प्रापमकृतात्मभिः॥'

किन्तु शास्त्र का यह वचन सर्वसम्मत नहीं है। यहाँ यह भी कहना आवश्यक है कि भासर्वज्ञ भी वात्स्यायन के सम्प्रदाय के अनुसार ही द्वैतवादी हैं। इनके मत से जीवात्मा नित्यसुख स्वरूप परब्रह्म नहीं है। भासर्वज्ञ ने अद्वैत मत के अनुसार मुक्ति की व्याख्या नहीं की है। इनके मत में जीवात्मा में चिरकाल से विद्यमान नित्यसुख मुक्तिकाल में अभिव्यक्त होता है। वात्स्यायन ने भी उक्त मत का ही खण्डन किया है। शास्त्रदीपिका के तर्कपाद में मीमांसक पार्थसारथि मिश्र ने इस मत की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह आनन्द-मोक्षवादी का मत है। उनके मतानुसार यह कुमारिल भट्ट का अपना मत नहीं है। इस विषय में विशद आलोचना के लिए मेरे (म० म० फणिभूषणतर्कवागीश) द्वारा सम्पादित न्यायदर्शन चतुर्थखण्ड के १४२ से ५५ पृष्ठ देखिये।

कारण उन दोनों में विषयविषयिभाव सम्बन्ध नहीं होता है। परन्तु मुक्तिकाल में उन प्रतिबन्धकों के न रहने से उस समय वह नित्य सुख तथा उसके नित्य अनुभव में विषयविषयिभाव सम्बन्ध उत्पन्न होता है तथा वह सम्बन्ध उत्पन्न भाव पदार्थ होने पर भी उसके विनाश का कोई कारण न रहने से कभी उसका विनाश नहीं हो सकता है। वह नित्यसुख नित्य संवेद्य है। उस सुख के द्वारा विशेषित जो आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति वही मुक्ति है।'[1]

भासर्वज्ञ ने पहले 'आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति' ही मुक्ति है—इस मत का भी उल्लेख किया है। किन्तु उनके मतानुसार—वैशेषिक दर्शनकार कणाद का यह मत है। *न्यायसार के टीकाकार जयसिंह सूरि ने भी वहीं पर स्पष्ट रूप* से यह कहा है। वस्तुतः भासर्वज्ञ ने गौतम के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए 'न्यायसार' के अन्त में कहा है—'अनेन सुखेन विशिष्टा आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः पुरुषस्य मोक्षः इति'।

परन्तु 'संक्षेपशङ्करजय' ग्रन्थ में माधवाचार्य ने दो श्लोकों से कहा है कि संसार का परिभ्रमण करते समय भगवान् शङ्कराचार्य से किसी स्थान में किसी नैयायिक ने गर्व के साथ प्रश्न किया था कि यदि आप सर्वज्ञ हैं तो कणाद और गौतम के मतानुसार मुक्ति में अन्तर क्या है—इसका निर्देश कीजिए, नहीं तो सर्वज्ञता के बारे में प्रतिज्ञा का परित्याग कीजिए। इसके उत्तर में शङ्कराचार्य ने उनसे कहा था कि कणाद के मत में सकल विशेष गुणों का अत्यन्त उच्छेद होने से आकाश की तरह आत्मा की स्थिति ही मुक्ति है, और आपके सम्मत अक्षपाद मत में आनन्दानुभूति के साथ आत्मा की उक्त अवस्था ही मुक्ति है।[2] माधवाचार्य का उक्त प्रकार का वर्णन अमूलक

---

१ भासर्वज्ञ के न्यायसार के अठारह टीकाओं में प्रधान टीकाकार भूषण-भट्ट ने अधिक विचारपूर्वक इस मत का समर्थन किया है। अतः श्रीसम्प्रदाय के वैष्णव आचार्य वेङ्कटनाथ ने भी इसका ही समर्थन करते हुए न्याय परिशुद्धि *नामक ग्रन्थ में लिखा है—'अत एव हि भूषणमते नित्यसुखसंवेदनसिद्धिरपवर्गे* साधिता (काशी चौखम्बा संस्करण पृ० १७)।

२ *तत्रापि नैयायिक आस्तर्वः कणादपक्षाच्चरणाक्षपक्षे।*
मुक्तेर्विशेषं वद सर्वविच्चेन् नोचेत् प्रतिज्ञां त्यज सर्वविस्वे ॥
अत्यन्तनाशे गुणसङ्गतेर्या स्थितिर्नभोवत् कणभक्षपक्षे
मुक्तिस्त्वदीये चरणाक्षपक्षे सानन्दसंवित्सहिता विमुक्तिः ॥'
(संक्षेपशङ्करजय १६ अ० ६८,६९)

माधवाचार्य ने कणाद शब्द का अर्थ लेकर वैशेषिक दर्शनकार को इस श्लोक में 'कणभक्ष' कहा है और गौतम के अक्षपाद नाम को लेकर उनको 'चरणाक्ष'

नहीं हो सकता है। 'सर्वदर्शनसिद्धान्तसंग्रह' में भी मुक्ति के स्वरूप के विषय में कणाद और गौतम का उक्त रूप मतभेद वर्णित है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीनकाल में किसी नैयायिक सम्प्रदाय में मुक्ति के बारे में गौतम का उक्त प्रकार विशिष्ट मत ही प्रतिष्ठित था। किन्तु प्रचलित न्यायसूत्र से उक्त मत समझा नहीं जाता।

कहा है। द्वितीय श्लोक के 'कणभक्षपक्षे' इस पद से कणाद के मत में तथा 'त्वदीये चरणाक्षपक्षे' इस पद से तुम्हारे सम्मत अक्षपाद के मत में—यह अर्थ ग्रहण किया जाता है। यहाँ त्वदीये इस पद से ज्ञात होता है कि प्रश्नकर्ता कोई अभिमानी नैयायिक था इसलिए शङ्कराचार्य ने उसको तुम्हारे सम्प्रदाय के सम्मत अक्षपाद के मत में—ऐसा कहा है। क्योंकि उस समय में अगर शङ्कराचार्य कणाद और गौतम के मत से मुक्ति के विषय में उक्त रूप मतभेद नहीं दिखाते तो प्रश्नकर्ता उनकी सर्वज्ञता को स्वीकार ही नहीं करता। किन्तु 'सर्वदर्शन संग्रह' माधवाचार्य ने अक्षपाद के मत की व्याख्या करते हुए मुक्ति के विषय में भाष्यकार वात्स्यायन आदि के सम्मत प्रचलित मत का ही समर्थन कर गये हैं। वही माधवाचार्य 'संक्षेपशङ्कर जय' के भी लेखक हैं—इस विषय में भी मुझको कोई प्रकृत प्रमाण नहीं मिला है।

तीसरा अध्याय

मुक्ति का उपाय

श्रुति ने कहा है—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या वा विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्"— बृहदारण्यक ४।४।५।

अर्थात् महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी धर्मपत्नी मैत्रेयी से कहा था—अरे मैत्रेयि! अगर मुक्तिलाभ की इच्छा हो तो आत्मा द्रष्टव्य है यानी आत्मा का दर्शन करना चाहिए। उस आत्म दर्शन के लिए पहले आत्मा के बारे में गुरुमुख से उपदेश सुनना चाहिए, उसके बाद उस श्रवण के आधार पर मनन एवं ध्यान आदि करना चाहिए। अत इस श्रुति वाक्य से ज्ञात होता है कि आत्मा का दर्शन रूप तत्त्व ज्ञान ही मुक्ति का साक्षात् कारण है। आत्मा का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन आत्म दर्शन के उपाय होने से परम्परा संबन्ध से मुक्ति की प्राप्ति के भी उपाय होते हैं।

वास्तव में, यह युक्तिसिद्ध है कि अहङ्कार की निवृत्ति के बिना जीव की संसार से निवृत्ति अथवा 'मुक्ति' नहीं हो सकती है। इसलिए यह समझना आवश्यक है कि किन उपायों से इस अहङ्कार की निवृत्ति हो सकती है। महर्षि गौतम ने आगे कहा है—'दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः' (४।२।१)

जीव के राग, द्वेष और मोह का नाम 'दोष' है। शरीर आदि अनेक पदार्थ उस दोष के निमित्त हैं। उन सब पदार्थों के तत्त्वज्ञान से अहङ्कार की निवृत्ति होती है,—यही गौतम ने उक्त सूत्र से कहा है। वास्तव में जीवों के नाना प्रकार का 'मिथ्या ज्ञान' ही संसार का कारण है। तत्त्व ज्ञान ही उस (मिथ्या ज्ञान) का निवर्तक हो सकता है। इसलिए यह मानना होगा कि तत्त्व ज्ञान ही मुक्ति का कारण है।

गौतम के मत से आत्मा आदि प्रमेय पदार्थों के बारे में अनेक प्रकार का मिथ्या ज्ञान ही जीव के संसार में आने का कारण है। उनमें अनादि काल से आता हुआ जीव के अपने शरीर में आत्म बुद्धि रूप मिथ्या ज्ञान ही 'अहङ्कार' है। अत उसके विपरीत ज्ञान, अर्थात् 'अपना देह आदि आत्मा नहीं है'—ऐसा ज्ञान 'तत्त्वज्ञान' है।

साधना के द्वारा आत्मा तथा शरीर आदि के बारे में चरम तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होने पर सभी मिथ्या ज्ञानों की आत्यन्तिक निवृत्ति से मुक्ति लाभ होता है। क्योंकि उस 'चरम तत्त्वज्ञान' की उत्पत्ति होने से उन ज्ञानों के पहले से

सञ्चित किये हुए उन सभी कर्मों का अर्थात् प्रारब्ध से भिन्न धर्मों तथा अधर्मों का नाश होता है। इसी तात्पर्य को लेकर श्रुति ने कहा है—'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (मुण्डक उप०)। श्री भगवान् ने भी इसी तात्पर्य से कहा है—'ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा'– (गीता ४।३८)।

फलित कथन यह है कि तत्त्वज्ञान की महिमा से पुनर्जन्म के कारण सभी धर्म और अधर्म का नाश हो जाता है। उन तत्त्वज्ञानियों के आत्मा में किसी प्रकार के धर्म तथा अधर्म उत्पन्न नहीं होते हैं। अतः फिर उनका कभी पुनर्जन्म नहीं हो सकता है। अतः श्रुति ने कहा है—'न च पुनरावर्त्तते'।

प्रारब्ध कर्मों का क्षय 'चरम तत्त्वज्ञान' से नहीं होता है। भोग के बिना उनका क्षय नहीं हो सकता।[1]

'प्रारब्ध कर्म' पद का अर्थ कर्मजन्य धर्म तथा अधर्म विशेष ही समझना चाहिये। जिन कर्मों या धर्माधर्मों का फलभोग शुरू हुआ है उनका नाम 'प्रारब्ध कर्म' है। वह फलभोग जब तक समाप्त नहीं होता है तबतक उसका (यानी प्रारब्ध कर्म का) नाश नहीं हो सकता। जैसे जिस धर्म तथा अधर्म के फलस्वरूप जीवों के किसी शरीर विशेष की सृष्टि होती है—वह धर्म तथा अधर्म उनका प्रारब्ध कर्म है। क्योंकि उससे उनके फलों का आरम्भ होता है। जब तक इन फलों के भोग की समाप्ति नहीं होगी, तब तक उस शरीर का नाश नहीं हो सकता है। इसीलिए 'चरम तत्त्वज्ञान' होने पर भी वह (तत्त्वज्ञानी) पुरुष जीवित रहता है। उस समय में वे पुरुष "जीवन्मुक्त" कहे जाते हैं। कोई कोई जीवन्मुक्त पुरुष अपनी इच्छा से योगबल के द्वारा, 'काय व्यूह' अर्थात् अनेक स्थानों में अनेक शरीरों की सृष्टि करके थोड़े समय में ही सभी प्रारब्ध कर्मों का फलभोगकर निर्वाण प्राप्त करते है। किन्तु अनेक व्यक्ति परमेश्वर के निर्देशानुसार दीर्घकाल तक जीवित रहकर-उनके निर्दिष्ट कार्यों को करते हैं और उन लोगों

---

१. ब्रह्मवैवर्त पुराण में प्रकृतिखण्ड के अन्त में देखा जाता है—'अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम्। देवतीर्थ सहायेन काय व्यूहन शुद्धयति" (२६।७१) यह वाक्य उक्त प्रारब्ध कर्म के बारे में ही समझना चाहिये। वेदान्त-दर्शन में बादरायण ने भी कहा है—'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते' (४।१।१९) इस सूत्र में 'तु' शब्द से प्रारब्धकर्म जो भोग से ही नष्ट होता है—लिया जाता है, अर्थात् भोग से उसका नाश करके पीछे वह तत्त्वज्ञानी पुरुष मुक्त होते हैं। इस सूत्र में 'इतरे' इस द्वितीया द्विवचनान्त पद से 'आरब्ध फल' धर्म और अधर्म गृहीत होते हैं। क्योंकि इस सूत्र से पहले ही बादरायण ने कहा है—'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः"।

के उपदेशों से ही शास्त्र सम्प्रदाय रक्षित हुआ है। इन सभी जीवन्मुक्त पुरुषों की मुक्ति 'अपरा मुक्ति' कहलाती है। न्यायदर्शन के द्वितीय सूत्र से यह भी सूचित हुआ है। किन्तु जीवन्मुक्त पुरुष के देहावसान के बाद जो मुक्ति प्राप्त होती है, वही 'परामुक्ति' अथवा 'चरम मुक्ति' है। उसी का नाम 'विदेह कैवल्य' तथा निर्वाण मुक्ति है। यही न्यायशास्त्र का चरम या मुख्य प्रयोजन है। चरम (अंतिम) तत्त्व ज्ञान होने से क्रमशः वह प्राप्त होता है। जिस क्रम से उस'परामुक्ति' की प्राप्ति होती है उस क्रम को दिखाने के लिये महर्षि गौतम ने दूसरा सूत्र कहा है—'दुःख-जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानाना-मुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः'।

इस सूत्र में यथाक्रम से कहे गये दुःख आदि पदार्थों में से अन्त में कहे गये पदार्थ कारण हैं तथा उनके अव्यवहित पूर्व में कहे गये पदार्थ उन्हीं के कार्य हैं। कारण के अभाव में कार्य उत्पन्न नहीं होता है। अतः कारण की निवृत्ति से कार्य की निवृत्ति कही जा सकती है। अतः यद्यपि गौतम ने कहा है कि दुःख आदि में से पीछे पीछे कहे गये पदार्थों की निवृत्ति से तदनन्तर यानी उनके अव्यवहित में पूर्व में कहे गये पदार्थों की निवृत्ति होती है, जिससे अपवर्ग होता है।

गौतम ने पश्चात् प्रवृत्ति पद से धर्म के कारण 'शुभकर्म' तथा अधर्म के कारण 'अशुभकर्म' को कहा है। परन्तु इस सूत्र में कर्म जन्य धर्म तथा अधर्म ही प्रवृत्ति पद से गृहीत हुए हैं। कर्म जन्य धर्म तथा अधर्म से ही अनादि काल से जीवों को नाना प्रकार के शरीर परिग्रहरूप जन्म हो रहे हैं। जन्म होने से ही दुःख अवश्यम्भावी है। इसलिए 'जन्म' 'दुःख' का कारण होता है। धर्म तथा अधर्मरूप प्रवृत्ति उस जन्म का कारण है। राग तथा द्वेष रूप 'दोष' उस प्रवृत्ति का कारण है क्यों कि खास विषयों में राग तथा द्वेष से ही मनुष्य कर्म करके तज्जन्य धर्म तथा अधर्म को प्राप्त करते हैं। उस राग और द्वेष के न रहने पर कर्म करने पर भी धर्म तथा अधर्म उत्पन्न नहीं होते हैं। उस धर्म तथा अधर्म का कारण राग तथा द्वेष रूप दोष है और उस दोष का कारण अनेक प्रकारों का 'मिथ्याज्ञान' है। क्यों कि आत्मा आदि के विषय में अनेक प्रकारों के भ्रमज्ञान के कारण ही वह दोष उत्पन्न होता है। इसलिए उन दोषों की आत्यन्तिक निवृत्ति करने के लिए उनके कारण मिथ्याज्ञानों की आत्यन्तिक निवृत्ति आवश्यक है।

तत्त्वज्ञान के विना वह किसी भी उपायसे सम्भव हो नहीं सकता। तत्त्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होने पर उसके कार्य दोष की निवृत्ति होती है। दोष की निवृत्ति होने पर उसके कार्य प्रवृत्तियों (धर्म तथा अधर्म) की निवृत्ति

होती है। प्रवृत्ति की निवृत्ति से उसके कार्य जन्म की निवृत्ति होती है। वही निर्वाण मुक्तिरूप अपवर्ग है। कारण की निवृत्ति से कार्य की निवृत्ति क्रम से ही वह अपवर्ग प्राप्त होता है। इसीलिए महर्षि गौतमने कहा है 'दुःख जन्म-प्रवृत्ति दोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।" किन्तु जो तत्त्वज्ञान समूचे मिथ्याज्ञानों की निवृत्ति के द्वारा मुक्ति का कारण होता है वह तत्त्वसाक्षात्काररूप चरम तत्त्वज्ञान है। निदिध्यासन यानी योग शास्त्र में कहे गये ध्यान, धारणा तथा समाधि के बिना वह हो नहीं सकता है। 'चरम समाधि विशेष के बाद वह उत्पन्न होता है। इसी लिये गौतम ने पश्चात् कहा है "समाधिविशेषाभ्यासात्।" (४।२।३८) लेकिन पहले ही वह समाधि सम्भव नहीं होता। पहले 'यम' तथा नियम' से और अध्यात्म शास्त्रों में कहे गये दूसरे उपायों से आत्मा का संस्कार करना चाहिए इसी लिये महर्षि गौतम ने पश्चात् कहा है—तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः" । ४।२।४६-१

योग शास्त्र में कहे गये नियमों में से ईश्वर प्रणिधान' ही अन्तिम है। ईश्वर में सभी कर्मों का अर्पण अथवा भक्ति विशेष ही ईश्वरप्रणिधान है।[1]

वास्तव में, परमेश्वर में पराभक्ति के बिना तत्त्वज्ञान प्राप्त ही नहीं हो सकता है। इसलिए श्रुति ने कहा है – 'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' उसी पराभक्ति के फल स्वरूप परमात्मा का दर्शन होने पर तब उन्हीं के अनुग्रह से शरणागत 'मुमुक्षु' साधक को अपनी आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है। इस समय में साधक की हृदय ग्रन्थि'—पहले कहे गये अहङ्कारस्वरूप मिथ्या ज्ञानों का नाश होने से पुन कदापि उसे पुनर्जन्म हो ही नहीं सकता। तो उसी तात्पर्य को लेकर श्री भगवान् ने कहा है—" 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'—गीता ८।१६।

मुण्डक उपनिषद में भी उसी तात्पर्य में कहा गया है—'भिद्यते हृदय

---

१. योग दर्शन के समाधि पाद में—'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' इस सूत्र के भाष्य में व्यासदेव ने कहा है—'प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिध्यानमात्रेण'। टीकाकार वाचस्पति मिश्रने व्यासदेव की इस कथा की व्याख्या की है कि ईश्वर मोक्ष के इच्छुक योगियों के मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक भक्ति विशेष से अभिमुखीभूत होकर अभिध्यान मात्र से अर्थात् इस योगी का वह अभीष्ट सिद्ध हो—इस तरह की इच्छा मात्र से उसको अनुग्रह करते हैं। इस विषय में आलोचन के लिए विस्तृत मनुगम्पादित न्यायदर्शन पञ्चम खण्ड में २०० से २०६ पृ० तक देखिए।

ग्रन्थिदिछ्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परा-वरे" २।२।८।

तथा उसी तात्पर्य से ही श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा गया है—'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेतिनान्य पन्थाः विद्यतेऽयनाय' ६।८। उस महेश्वर का दर्शन ही मुक्तिलाभ का एकमात्र मार्ग है—ऐसा कहने पर यह समझा जाता है कि वह (परमात्मदर्शन) मुक्ति का चरम कारण आत्मसाक्षात्कार का जनक है। क्योंकि जिसे मार्ग कहते हैं उसे चरम कारण नहीं कहा जा सकता है।

फलित कथन यह हुआ कि 'मुमुक्षु' (मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति) मुक्ति के चरम कारण आत्मसाक्षात्कार के लिए परमेश्वर के शरण में आने पर उन्हीं के अनुग्रह से वह आत्म साक्षात्काररूप तत्वज्ञान उन्हें प्राप्त होता है। अत इसी श्वेताश्वतर उपनिषद् में ही कहा गया है—'त ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशम् मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' किन्तु सबसे अन्त में कहा गया है

'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' ॥

परमेश्वर में तथा गुरु में पराभक्ति के बिना उपरोक्त विषय का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है तथा आत्मज्ञान के लिए मोक्ष के इच्छुक व्यक्तियों को परमेश्वर के शरण में आना चाहिए। यह भी पूर्वोक्त श्वेताश्वतर मन्त्र में उपदिष्ट होने पर परमेश्वर में पराभक्ति तथा शरणागति तत्वज्ञानार्थी मुमुक्षु व्यक्ति के लिए भी अत्यावश्यक है—इस सुप्राचीन श्रौत सिद्धान्त के बारे में कोई संदेह नहीं है। ऋग्वेद संहिता के सातवें मण्डल के पाँचवें अष्टक के चौथे अध्याय में ५९वें सूक्त में-'त्र्यम्बकं यजामहे' इत्यादि प्रसिद्ध मन्त्र के अन्त में-'मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्'-इस श्रुतिवाक्य से भी परमेश्वर के समीप में मुक्ति की प्रार्थना ज्ञात होती है।

वास्तव में, परमेश्वर के अनुग्रह के बिना मुक्ति का कारण आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। वेदान्तदर्शन के भाष्य में (२।३।४१) अद्वैतवादी शङ्कराचार्य ने भी कहा है—तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवितु-मर्हति। कुतस्तच्छ्रुतेः'। मार्कण्डेय पुराण में भी देवीमाहात्म्य के अन्त में उपरोक्त श्रौत सिद्धान्त का वर्णन उपाख्यान के द्वारा किया गया है। वहाँ कहा गया है कि मोक्ष के इच्छुक समाधि नाम के किसी वैश्यको[1] प्रार्थना-नुसार देवी ने उसे वरदान दिया था। 'तव ज्ञान भविष्यति'

---

१. 'सोऽपि वैश्यस्ततो ज्ञानदो निर्विण्णमानसः ।
ममेत्यहमिति प्राज्ञः सङ्गविच्युतिकारकम् ॥
वैश्यवर्य ! त्वया यच्च वरोऽस्मत्तोऽभिवाञ्छितः ।
त प्रयच्छामि संसिद्ध्यै तव ज्ञान भविष्यति' ॥

न्याय सूत्रकार महर्षि गौतम ने भी पीछे (४।१।२१ सूत्र में) सिद्धान्त के रूप में व्यक्त किया है कि जीव के धर्म तथा अधर्म की अपेक्षा करते हुए जगत् के कर्ता परमेश्वर ही सभी कर्मों के कराने वाले तथा फल देने वाले हैं। उनके अनुग्रह के बिना किसी को किसी भी कर्म में सफलता नहीं मिल सकती है। इसलिए मुक्ति भी नहीं मिल सकती है। आगे 'न्यायदर्शन' में 'ईश्वर' इस प्रबन्ध में यह और अधिक स्पष्ट होगा।

चौथा अध्याय

जीवात्मा के श्रवण तथा मनन का प्रयोजन और उनकी व्याख्याएँ—

प्रश्न होता है कि आत्मा का श्रवण तथा मनन की क्या आवश्यकता है ? उससे तो किसी को आत्म दर्शन नहीं हो सकता है। इसके उत्तर में कहना यह है कि पहले आत्मा का श्रवण तथा मनन के बिना श्रुति विहित 'निदिध्यासन' करना सम्भव नहीं है। क्योंकि पहले जिस तरह से आत्मा का श्रवण हुआ है उसी तरह से उसका मनन करके पीछे उसी तरह से उसके ध्यान आदि करने पड़ेंगे। यही वृत्तान्त 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इस बृहदारण्यक श्रुति वाक्य से उपदिष्ट हुआ है।

वास्तव में, आत्मतत्त्व क्या है इस विषय में पहले शास्त्र से श्रवण न करने पर मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति किस तरह से आत्मा का ध्यान कर सकते हैं। अपने शरीर में जो आत्मबुद्धि है उसके अनुसार 'देह ही आत्मा है' इस प्रकार से आत्मा का ध्यान करने पर प्रकृत आत्मदर्शन नहीं हो सकता है। अतः आत्मतत्त्व को प्रकाश करने वाले वेद आदि शास्त्र से ही पहले 'आत्मतत्त्व' का श्रवण करना चाहिये। 'श्रवण' शब्द का अर्थ यहाँ केवल कान से किसी शब्द का सुनना नहीं है, अपितु वेद आदि शब्द प्रमाण द्वारा उत्पन्न आत्मा का स्वरूप विषयक यथार्थ शाब्दबोध ही आत्मा का श्रवण है। यह शाब्दबोध भी पहले शास्त्र के सिद्धान्तों को जानने वाले सद्गुरुओं के उपदेश के अनुसार ही करना पड़ेगा। प्राचीन काल में मन को ही आत्मा कहने वाले किसी नास्तिक ने किसी श्रुतिवाक्य विशेष के आधार पर 'मन ही आत्मा है' इसका समर्थन किया था। इसी तरह देहात्मवादी किसी नास्तिक ने किसी श्रुतिवाक्यविशेष के आधार पर भी 'देह ही आत्मा' इसका समर्थन किया था। किसी अन्य श्रुति-वाक्यविशेष के आधार पर अपर किसी इन्द्रियवादी नास्तिक ने इन्द्रिय ही आत्मा है—यह समर्थन किया था। इसी तरह किसी बौद्ध ने बुद्धि अथवा विज्ञान को आत्मा कहकर उसमें भी श्रुतिवाक्य को प्रमाण के रूप में उपस्थित किया था। ऐसे दूसरे किसी बौद्ध दार्शनिक ने शून्य को ही आत्मा कहकर श्रुतिवाक्य का प्रमाण दिया था। वेदान्तसार में सदानन्द योगीन्द्र इन सभी श्रुति वाक्यों का उल्लेख करते हुए उपर्युक्त बातें कह गये हैं।

उपर्युक्त कोई भी मत ही श्रुतिका सिद्धान्त नहीं है। श्रुति में पूर्वपक्ष के रूप में भी अनेक मतों का निर्देश मिलता है और अनेक जगहों में निम्न अधिकारियों के लिए क्रमश प्रकृत तत्त्व समझाने के उद्देश्य से पहले अन्य रूप उपदेश भी किया गया है। प्राचीन काल से इन सभी श्रुतिवाक्यों के आधार पर अनेक नास्तिकों ने अपनी बुद्धि मूलक कुतर्कों के द्वारा भिन्न भिन्न मतवादों का समर्थन किया है। उन सभी नास्तिक मतों का बीज भी श्रुति में ही है। किन्तु श्रुति का सिद्धान्त क्या है—यह शास्त्र के अनुसार विचार करके समझना पड़ेगा।

वेद आदि किसी शास्त्र के द्वारा सभी अधिकारियों को पहले यह सिद्धान्त समझना पड़ेगा कि आत्मा उत्पन्न नहीं होता है और उसका नाश भी नहीं होता है। आत्मा का किसी प्रकार का विकार नहीं है, आत्मा देह आदि से भिन्न तथा नित्य है। क्योंकि श्रुति ने सिद्धान्त वाक्य कहा है—'अविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा' (बृहदारण्यक ३।४।१०) 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्', अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणः'—(कठ २।१।१८।) श्रीभगवान् ने भी कहा है—

'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाय भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्य शाश्वतोऽयंपुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्य सर्वगतः स्थाणुरचलोऽय सनातनः॥

गीता, २।२०।२४।

आत्मा की कभी उत्पत्ति नहीं होती है और उसका नाश भी नहीं होता है, वह शाश्वत नित्य, अच्छेद्य तथा अदाह्य है। आत्मा सर्वव्यापी अचल अर्थात् गतिशून्य तथा सनातन है। आत्मा—"न हन्यते हन्यमाने शरीरे" यानी शरीर का नाश होने पर भी उसका नाश नहीं होता है। इन बातों से ज्ञात होता है कि देह, इन्द्रिय तथा मन ये सब आत्मा नहीं है किन्तु इन सबों से भिन्न आत्मा नित्य है। क्योंकि शरीर आदि अच्छेद्य, अदाह्य, सर्वव्यापी तथा गतिहीन नहीं होते हैं। इस रूप से विचार करने पर देह आदि से भिन्न तथा नित्य आत्मा है—शास्त्र के द्वारा इस तरह का जो बोध वही 'आत्मश्रवण' कहलाता है। सबसे पहले ही यह करना चाहिये।

उपरोक्त मार्ग से 'आत्मश्रवण' करने पर भी अपने शरीर आदि में आत्म बुद्धिरूप अहङ्कार की निवृत्ति नहीं होती है। अतएव मनुष्य आत्मा की नित्यता सुनने पर भी पहले की तरह उनको अपने शरीर आदि में आत्मबुद्धि

होती है और तज्जन्य कुसंस्कारों के प्रभाव से उनलोगों के भी हृदय में अनेक प्रकार के राग तथा द्वेष आदि का उद्भव होता रहता है।

अतः आत्मा देह आदि से भिन्न तथा नित्य है—शास्त्र के माध्यम से—इस तरह का 'आत्म श्रवण' करके पश्चात् उस श्रवणरूप ज्ञानजन्य संस्कार को दृढ़ करने के लिए उपरोक्त रीति से आत्मा का मनन करना आवश्यक है। युक्ति के द्वारा उक्त सिद्धान्तों का विवेचन अथवा अवधारण ही आत्मा का मनन है। अनुमान प्रमाण ही युक्ति कही जाती है। मीमांसक सम्मत 'अर्थापत्ति' रूप युक्ति भी गौतम के मत में अनुमान विशेष ही है। अतः अनुमान प्रमाण के द्वारा आत्मा देह नहीं है, आत्मा इन्द्रिय नहीं है, मन आत्मा नहीं है, आत्मा देह आदि का समष्टिरूप भी नहीं है एवं आत्मा नित्य है—इस तरह का ज्ञान ही आत्मा का मनन कहलाता है।

पहले कहे गये 'आत्म श्रवण' के बाद आत्म तत्त्व की धारणा अथवा ध्यान ही मनन नहीं है। क्योंकि वह निदिध्यासन के अन्तर्गत है। किन्तु 'मनन' के बाद ही निदिध्यासन' विहित हुआ है। अतः इस के पहले अनुमान प्रमाण रूप तर्क के द्वारा ही उपरोक्त रीति से आत्मा का मनन करना चाहिए।

बृहदारण्यक उपनिषद के—'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस उपदेश के 'मन्तव्य' पद का भाष्यकार आचार्य शङ्कर ने व्याख्या की है—'पश्चान्मन्तव्यस्तर्कतः' अर्थात् 'आत्मश्रवण' के बाद तर्कों के द्वारा उसका 'मनन' करना चाहिए।[1] उक्त तर्क शब्द से शङ्कराचार्य ने भी वेदान्त वाक्यों के अविरोधी अनुमान का ही ग्रहण किया है। वेदान्त दर्शन के द्वितीय सूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है[2] कि वेदान्त वाक्यों के

---

१. कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की द्वितीय वल्ली में 'आत्मा' को अतर्क्य कहा गया है और आगे कहा गया है—'नैषा तर्केण मतिरापनेया' यहाँ तर्केण' इस एक वचनान्त तर्क शब्द से शास्त्र निरपेक्ष केवल तर्क ही समझना चाहिये। भाष्यकार शंकर ने व्याख्या की है "आगमप्रतिपन्नः स्वबुद्ध्यभ्यूहेन केवलेन तर्केण" नहि तर्कस्य निष्ठा क्वचिद्विद्यते' "नैषा तर्केण" स्वबुद्ध्यभ्यूहमात्रेण'। वास्तव में निजबुद्धिमूलक केवल तर्क से आत्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है॥

२. सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्यायानुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते। श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्। तथाहि 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इति श्रुतिः। 'पण्डितो मेधावी

अर्थज्ञान को दृढ़ करने के लिए वेदान्त के अविरोधी अनुमान को ही ग्रहण करना होगा। क्योंकि श्रुति ही ने तर्क को सहायक रूप में स्वीकार किया है। उक्त स्थल में आचार्य शङ्कर के अन्तिम कथन से ज्ञात होता है कि अनुमान प्रमाणरूप तर्क से ही 'आत्मा का मनन' करना चाहिए—यह उनका भी सम्मत है, ऐसा समझा जाता है।

इसलिए ही बृहदारण्यक भाष्य में आत्मा की नित्यता प्रतिपादन करने के लिए 'न्यायाच्च' इत्यादि सदर्भों से आत्मा का नित्यत्व साधक 'न्याय' अर्थात् अनुमान प्रमाणात्मक युक्ति का भी प्रदर्शन किया है।

महर्षि गौतम का न्याय दर्शन अध्यात्म अंश में मनन शास्त्र है। इसलिए उन्होंने न्याय दर्शन के तृतीय अध्याय में मोक्ष के इच्छुक व्यक्तियों के बारे में श्रुति विहित पूर्वोक्तरूप आत्म मनन के लिए अनुमानात्मक बहुत सी युक्तियों का प्रदर्शन किया है। आत्मा इन्द्रिय नहीं है, आत्मा देह नहीं है, आत्मा मन नहीं है अतः वह आत्मा देहादिसमष्टि रूपों से भिन्न है और आत्मा अनादि एवं नित्य है—यह उन्होंने अनेक युक्तियों से सिद्ध किया है। अभी उनके द्वारा कही गई तथा सूचित की गई सभी युक्तियों की यथासंभव व्याख्या करनी चाहिए। महर्षि गौतम ने आत्म परीक्षा प्रकरण में पहले इन्द्रियात्मवाद का खण्डन करने के लिए प्रथम सूत्र कहा है—'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' ३।१।१ अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय से तथा त्वगिन्द्रिय से एक वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होने के कारण इन्द्रिय आत्मा नहीं हो सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि कोई किसी वस्तु का चक्षुरिन्द्रिय से देखकर पीछे त्वगिन्द्रिय से उसका स्पार्शन प्रत्यक्ष करने पर बाद में उस व्यक्ति को यह ज्ञान होता है कि जो मैंने नेत्र से देखा था वही मैं त्वगिन्द्रिय से स्पर्श कर रहा हूँ। इससे ज्ञात होता है कि उक्त स्थल में उस व्यक्ति का चक्षु तथा त्वक् रूप इन्द्रियाँ पहले दर्शन तथा स्पार्शन प्रत्यक्ष में कर्ता नहीं है किन्तु उन दोनों इन्द्रियों से भिन्न ही कोई पदार्थ इन दोनों प्रत्यक्षों का कर्ता है। अवश्य ही प्रत्यक्ष करने वाला आत्मा है। क्योंकि जो पदार्थ ज्ञाता अर्थात् ज्ञान का आश्रय है वही आत्मा कहलाता है। महर्षि गौतम के मत में जीवात्मा में ही प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होते हैं, इसको ध्यान में रखना चाहिये। आगे यह और अधिक व्यक्त होगा।

मैं चक्षुरिन्द्रिय से दर्शन करता हूँ, त्वक् इन्द्रिय से स्पर्श का प्रत्यक्ष करता हूँ, घ्राण इन्द्रिय से गन्ध को ग्रहण करता हूँ—इत्यादि प्रकार से हम लोगों को उन

गा धारानेवोत्मनश्चैवमेवेहामेचायवान् पुरुषो वद (छान्दोग्य ६।१४।२।)
इति च पुरुषबुद्धिसाह्यमात्मनो दर्शयति।—शारीरकभाष्य॥

समस्त ज्ञानों का जो मानस प्रत्यक्ष होता है उससे भी ज्ञात होता है कि आत्मा चक्षुः आदि इन्द्रियों से भिन्न है। क्योंकि 'करण' से 'कर्ता' भिन्न पदार्थ होता है। नहीं तो आँख म देख रहा हूँ, कान म सुन रहा हूँ—इस प्रकार से मुझ में दर्शन आदि ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है? यदि कदाचित् विवक्षा वशात् चक्षु देखता है, कान सुनता है—इस तरह का प्रयोग होता भी हो तथापि किसी को भी इस तरह के दर्शनादि ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष नहीं होता है। मैं काण हूँ, मैं अन्ध हूँ, मैं बहरा हूँ—इस तरह के ज्ञान से भी यह सिद्ध नहीं होता है कि चक्षुः आदि इन्द्रिय 'आत्मा' है। क्योंकि उस तरह का ज्ञान भ्रमात्मक है। परन्तु मेरी आँख काण है अथवा अन्धा है एवं मेरा कान बहरा है—इस तरह का भी बोध होता है। अतः जिसकी आँख काण अथवा अन्धा है तथा जिसका कान बहरा है—इसी अर्थ में वह मनुष्य कान अथवा अन्धा है एवं वह बहरा है—इस तरह का प्रयोग होता है—यही कहना होगा।

गौतम ने आगे पूर्वपक्ष सूत्र कहा है—'न विषयव्यवस्थानात्' अर्थात् आत्मा इन्द्रियों से भिन्न नहीं है। क्योंकि इन्द्रियवर्गों को विषय का नियम है। अतएव इन्द्रिय वर्ग ही अपने अपने विषयों का प्रत्यक्षकर्ता आत्मा है—इस पूर्व पक्ष के खण्डन के लिए गौतम ने कहा है—'तद्व्यवस्थानादेवात्म सद्भावादप्रतिषेधः' ३।१।२। घ्राण आदि पाँच बाह्य इन्द्रियों के विषय नियम से ही इन्द्रियों से पृथक आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है—जिसका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि गन्ध आदि पाँच विषयों के बीच घ्राण इन्द्रिय का ग्राह्य विषय गन्ध ही है, रसना (इन्द्रिय) का ग्राह्य विषय रस ही है चक्षु का ग्राह्य विषय रूप ही है, त्वक् का ग्राह्य विषय स्पर्श ही है तथा श्रवण का ग्राह्य विषय शब्द ही है—इस प्रकार के नियमों के रहने से सिद्ध होता है कि कोई भी एक बाह्य इन्द्रिय गन्ध आदि सभी विषयों का ज्ञाता नहीं हो सकता है किन्तु उन इन्द्रिय आदि से पृथक् कोई एक पदार्थ इन सभी विषयों का प्रत्यक्ष कर्ता आत्मा है। जिस मैंने पहले गन्ध का प्रत्यक्ष किया था वही अभी रूप का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ—इस तरह के मानस प्रत्यक्ष से इन सभी विषयों का ज्ञाता एक आत्मा ही सिद्ध होता है।

इन्द्रियात्मवाद का खण्डन करते हुए महर्षि गौतम ने पुनः कहा है—'सव्य दृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात्' ३।१।६। सव्येन वामेन चक्षुषा दृष्टस्येतरेण दक्षिणेन चक्षुषा प्रत्यभिज्ञानात्' अर्थात् बायीं आँख से देखी गई चीज की दाहिनी आँख से प्रत्यभिज्ञा होती है—इसलिए चक्षुरिन्द्रिय आत्मा नहीं है।

तात्पर्य यह कि इन्द्रिय को आत्मा कहने से चक्षुरिन्द्रिय को ही चाक्षुष

प्रत्यक्ष के कर्ता आत्मा कहना होगा। किन्तु तब वाम आँख से देखी वस्तु को दाहिनी आँख से प्रत्यभिज्ञा नहीं होगी। क्योंकि दाहिनी आँख ने पहले उस वस्तु को देखा नहीं था। जो वस्तु जिसके द्वारा पहले देखी नहीं गयी है, वह पहले पहल देखे जाने पर उसमें 'सोऽयम्' अर्थात् वही यह पूर्वदृष्ट विषय है—इस तरह प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं हो सकता है। उक्त रूप प्रत्यक्ष का नाम प्रत्यभिज्ञा है। पूर्वदृष्ट विषयों के संस्कार जनित स्मरणों के बिना इस तरह का प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं हो सकता है।

कोई व्यक्ति किसी चीज को पहले वाम आँख से देखकर पीछे उस आँख के विनष्ट हो जाने पर भी दाहिनी आँख से उस विषय का—'सोऽयम्' इस तरह प्रत्यक्ष करता है। इसलिए चक्षुरिन्द्रिय को चाक्षुष प्रत्यक्ष का कर्ता आत्मा नहीं कहा जा सकता है।

किसी का चक्षुरिन्द्रिय पूरी तरह से नष्ट हो जाने पर भी वह व्यक्ति पूर्व दृष्ट अनेक विषयों का स्मरण करके कहता है। परन्तु वह स्मरण कर्ता कौन है? विनष्ट चक्षुरिन्द्रय को अथवा वर्तमान अन्य किसी इन्द्रिय को उस विषय का स्मरण कर्ता कहना सम्भव ही नहीं है। इसलिए इन्द्रियों से भिन्न किसी स्थायी पदार्थ को—पहले उस विषय का द्रष्टा एवं पश्चात् स्मरण कर्ता कहना पड़ेगा। वही पदार्थ आत्मा है।

'इन्द्रिय आत्मा नहीं है'—इस सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित करने के लिये गौतम ने पश्चात् कहा है—'इन्द्रियान्तरविकारात्' ३।१।१२। तात्पर्य यह कि किसी अम्ल रस विशिष्ट फल के रूप के दर्शन से अथवा उस फल की गन्ध लगने से किसी व्यक्ति के रसना में विकार उत्पन्न होता है अर्थात् जीभ में पानी आ जाता है। किन्तु तब उसकी जीभ पानी से क्यों भीग जाता है—इसको विचारने से ज्ञात होता है कि उस समय में उस व्यक्ति को पूर्वानुभूत अम्ल रस का स्मरण होता है, पीछे तज्जातीय रसास्वाद की इच्छा से उसको लोभ होता है। अन्यथा ऐसा हो नहीं सकता। क्योंकि जिसको तब उस विषय में कुछ भी लोभ नहीं होता है उसको उस फल को देखने से उस तरह से रसनेन्द्रिय में विकार हो नहीं सकता है। यह परीक्षित सत्य है। किन्तु जिसको उस फल के रसास्वाद के लिए लोभ होता है उसका पूर्वानुभूत तज्जातीय रस का स्मरण आवश्यक है। अन्यथा उसका उस विषय में लोभ नहीं हो सकता है। अतः उक्त स्थल में उस अम्ल रस का स्मरण कर्ता कौन है?—यह विचार करके कहना आवश्यक है। उस व्यक्ति की चक्षु अथवा घ्राण (इन्द्रिय) वहाँ उस अम्ल रस का स्मरण करता है, यह कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि उक्त

दोनों इन्द्रियों ने कदापि उस अम्ल रस का अनुभव नहीं किया है। अम्ल रस चक्षु अथवा घ्राण इन्द्रिय का ग्राह्य विषय ही नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि उस स्थल में उस व्यक्ति का रसनेन्द्रिय ही पूर्वानुभूत अम्लरस का स्मरण करके तज्जातीय रस के आस्वाद की इच्छा करता है। क्योंकि वहाँ उस व्यक्ति के रसनेन्द्रियने उस फलका रूप दर्शन अथवा गन्ध ग्रहण नहीं किया है। रूप अथवा गन्ध इसका ग्राह्य विषय नहीं है। किन्तु जिसने अम्लफल के रूप को देखा है या गन्ध का ग्रहण किया है उसको ही पूर्वानुभूत अम्ल रसों का स्मरण होने पर रसनेन्द्रिय में पूर्वोक्त रूप से विकार हो सकता है तथा किसी किसी को वह होता है। दूसरों को वैसा नहीं होता है। अतः सिद्ध होता है कि उस स्थल में इन्द्रियों से भिन्न कोई ऐसा पदार्थ है जो अम्ल फलों का रूप दर्शन अथवा गन्ध ग्रहण करके अपने पूर्वानुभूत अम्ल रस का स्मरण करता है और उसके बाद तज्जातीय अम्ल रस की इच्छा करता है। वही वस्तु आत्मा है।

यदि कोई कहे कि स्मरणीय विषय में ही स्मरण उत्पन्न होता है, आत्मा स्मरणीय विषय नहीं है, अतः उस (आत्मा) में किसी स्मृति का जन्म नहीं होगा। अतएव स्मृति के द्वारा इन्द्रियों से पृथक् आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है।

महर्षि गौतम ने पश्चात् स्वय इस पूर्व पक्ष को उठाकर उसका खण्डन करने के लिये कहा है 'तदात्म गुणत्वसद्भावादप्रतिषेधः' ३।१।१४॥ तात्पर्य यह है कि ज्ञान विशेष को स्मृति कहते हैं, इस लिए वह (स्मृति) गुण पदार्थ है। किन्तु वह आत्मा का गुण होने पर ही उसकी उत्पत्ति हो सकती है। चिर स्थायी आत्मा को छोड़ कर किसी भी दूसरेपदार्थ को स्मृतिका आधार अथवा आश्रय नहीं कहा जा सकता है। स्मरणीय विषय को स्मृति का आधार नहीं कहा जा सकता है। क्यों कि विनष्ट विषय की भी स्मृति होती है, किन्तु जो विनष्ट है, जो नहीं है, वह कदापि स्मृति का आधार नहीं हो सकता है। भिन्न भिन्न अनुभव जन्य भिन्न-भिन्न संस्कार तथा तज्जन्य भिन्न भिन्न स्मृति का आधार भिन्न भिन्न इन्द्रिय ही है—यह भी नहीं कहा जा सकता है। क्यों कि किसी इन्द्रिय के नाश होने पर भी उस इन्द्रिय के द्वारा पूर्वानुभूत उस विषय की स्मृति होती है। विनष्ट इन्द्रिय कभी उस स्मृति का आधार नहीं हो सकता है। इसलिए इन्द्रिय आत्मा नहीं है।

देह भी आत्मा नहीं है।

नास्तिक शिरोमणि चार्वाक ने कहा है कि देहही स्मृति का आधार है। क्यों कि देह ही आत्मा है, वही स्मरण करता है। किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता

है। क्यों कि बाल्य तथा यौवन आदि के भेद से देह भी भिन्न भिन्न होता है। बाल्यावस्था में जो शरीर था इस वृद्धावस्था में वह शरीर नहीं है। शरीर के परिमाण के भेद से भी—शरीर में भेद मानना पड़ता है। अतः अन्यान्य परमाणुओं के संयोग से मेरे पृथक् शरीरों की सृष्टि होती है, यह भी स्वीकार करना होगा। तो इस स्थिति में प्रश्न उठता है कि मैं बाल्यकाल में देखे गये कितने पदार्थों का स्मरण अभी कैसे कर रहा हूँ ? 'मैं' कौन हूँ ? यदि यह देह 'म' हूँ तो वृद्ध कालिक देह कदापि उन विषयों का स्मरण नहीं कर सकता है। क्यों कि यह (वृद्धावस्था का) शरीर बाल्यकाल में न रहने के कारण उस समय में इसने उन सब पदार्थों को नहीं देखा था। अतः तज्जन्य संस्कार भी इस (वृद्ध कालिक) देह में नहीं है।

यदि कहा जाय कि बाल्यकालिक शरीर ने जो कुछ देखा तथा उन वस्तुओं का जो संस्कार उत्पन्न हुआ था वे सभी इस वृद्धावस्था के शरीर में संक्रमण कर जाते हैं। इस लिए वृद्धावस्था का भिन्न शरीर रूप आत्मा भी बाल्यकाल में देखे गये सभी वस्तुओं का स्मरण करता है। किन्तु यह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि संस्कार में गति क्रिया न रहने पर एक देह से दूसरे देह में संस्कार का गति विशेषरूप संक्रमण हो नहीं सकता। यदि ऐसा माना जाय तो माँ के शरीर में स्थित संस्कार कुक्षि में स्थित बच्चे के शरीर में क्यों नहीं संक्रमण करता है ? पीछे वह शिशु भी अपनी माँ के अनुभूत विषयों का स्मरण क्यों नहीं करता है ? यदि कहा जाय कि उपादान कारण रूप देहगत संस्कार ही कार्यात्मक शरीर में संक्रमण करता है—ऐसा नियम है, माँ का शरीर कुक्षिस्थ शिशु का उपादान कारण नहीं है, इसलिए मातृ शरीर-गत संस्कार का संक्रमण कुक्षिस्थ शिशु के शरीर में नहीं होगा।

ऐसा कहने पर बाल्यकालिक शरीरगत संस्कार भी वृद्धावस्था के शरीर में संक्रमण नहीं कर सकेगा। क्योंकि बाल्यकालिक शरीर बहुत पहले नष्ट हो जाने से बाद में वृद्धावस्था के शरीर के प्रति कभी वह उपादान कारण नहीं हो सकता है।

वृद्धावस्था के देह में तज्जातीय अन्य संस्कार की उत्पत्ति ही होती है—यही संस्कार के संक्रम पद से यहाँ अभिप्रेत है—यह भी नहीं कहा जा सकता है। क्यों कि वृद्धावस्था के शरीर में बाल्य कालिक शरीर में उत्पन्न संस्कारों के समान जातीय अन्य संस्कार का कोई भी उत्पादक कारण नहीं है। वृद्धावस्था का शरीर उन सब विषयों को न देखने से उसमें तद्विषयक अन्य संस्कार भी उत्पन्न नहीं हो सकता है।

यह सभी के द्वारा स्वीकृत सत्य है कि जिसने जिस विषय का कदापि अनुभव नहीं किया है उसको उस विषय का कोई भी संस्कार नहीं हो सकता है। इसलिए यह कदापि नहीं कहा जा सकता है कि स्मृति देह का गुण है, तथा शरीर ही आत्मा है।

चैतन्य अथवा ज्ञान शरीर का विशेष गुण नहीं है अर्थात् शरीर ही ज्ञाता अथवा आत्मा नहीं है--इसको समर्थन करते हुए महर्षि गौतम ने पश्चात् कहा है—'यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम्' ३।२ ४७। तात्पर्य यह है कि जब तक शरीर विद्यमान रहता है तब तक किसी प्रकार के रूप रस प्रभृति विशेष गुण भी उस (शरीर) में रहते हैं। अतः ज्ञान यदि शरीर का ही विशेष गुण हो तो जब तक शरीर रहेगा तब तक किसी प्रकार का ज्ञान उसमें रहेगा। शरीर कभी भी ज्ञान रूप विशेष गुण के बिना नहीं रह सकता है। किन्तु शरीर के रहने पर भी कदाचित् किसी प्रकार का ज्ञान ही उसमें नहीं रहता है। इसलिए ज्ञान शरीर का विशेष गुण नहीं हो सकता है। देहात्मवादी अवश्य ही कहेंगे कि शरीर के सभी विशेष गुण रूप रस आदि की तरह शरीर के स्थितिपर्यन्त उसमें विद्यमान ही रहते हैं—इस नियम में कोई प्रमाण नहीं है। शरीर के सभी विशेष गुण हो तो एक जातीय नहीं हैं। अतः शरीर में अस्थायी विशेष गुण भी रह सकते हैं। इसी लिये महर्षि गौतम ने पश्चात् फिर से कहा है—'शरीरव्यापित्वात्' ३।२।५०।

अर्थात् ज्ञान शरीर व्यापी है, शरीर के सभी अंशों में ही ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिए ज्ञान शरीर का ही विशेष गुण है--यह नहीं कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि शरीर के हाथ पैर आदि सभी अंगों में जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब उनसभी अङ्गों को ज्ञान का आधार मानने पर प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न बहुत ज्ञाताओं अथवा आत्माओं को स्वीकार करना होगा। किन्तु हाथ पैर आदि सभी भिन्न भिन्न अवयव पृथक् पृथक आत्मा है--इसमें कुछ प्रमाण नहीं है।

जो मैं हाथ से छूता हूँ वही मैं आँख से देखता हूँ और कान से सुनता हूँ--इस तरह का ही ज्ञान उत्पन्न होता है। प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न ज्ञानों को करने वाले बहुत से आत्मा हैं--यह सभी के अनुभव के विरुद्ध है। अपिच, प्रत्येकशरीर में बहुत आत्माओं को स्वीकार करने से सभी कार्यों में सभी का ऐकमत्य कभी सम्भव न होने पर किसी आत्मा का ही सभी कार्यों का निर्वाह नहीं हो सकता है। परन्तु सभी आत्माओं के वैमत्य मूलक विरोध से अनेक समय में बहुत अनर्थों के हो जाने की आपत्ति होती है। परन्तु शरीर

का प्रत्येक अङ्ग यदि ज्ञाता है तो कोई व्यक्ति जब दूसरे व्यक्ति को हाथ से छूता है तब उसके उस हाथ में ही त्वाच प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है तथा (तज्जन्य) संस्कार बनता है—यह मानना होगा। पीछे उस हाथ के कट जाने पर भी वह व्यक्ति कैसे उसको स्मरण करता है? उस व्यक्ति का पूर्वोत्पन्न प्रत्यक्ष कहाँ वह हाथ तो तब उसका है ही नहीं। उस व्यक्ति का उस हाथ में स्थित संस्कार किसी दूसरे अवयव में संक्रमण नहीं कर सकता है—इसका कारण मैंने पहले कहा है।

शरीर में चैतन्य या ज्ञान उत्पन्न होता है-यह कहने से उस शरीर के निर्मा हक मूल परमाणुओं में भी चैतन्य स्वीकार करना होगा। क्योंकि मूल परमा- णुओं में चैतन्य नहीं रहने पर उन परमाणुओं के कार्यरूप शरीर में भी चैतन्य उत्पन्न नहीं हो सकता है। ज्ञान का ही दूसरा नाम चैतन्य है तथा वह गुण पदार्थ है। लेकिन उपादान कारण में जो विशेष गुण रहते हैं वे ही उनके कार्य द्रव्य में स्वसमानजातीय विशेषगुणों को उत्पन्न करते हैं। अवश्य हां, शरीर के साक्षात् उपादान कारण हाथ पैर आदि की तरह उनके मूल परमाणुओं में भी चैतन्य स्वीकार करना होगा।

उन मूल परमाणुओं म चैतन्य कैसे उत्पन्न होगा? चार्वाक नित्य चैतन्य स्वीकार नहीं करते हैं। उनके मत में सभी अनित्य हैं। परन्तु परमाणुओं में चैतन्य स्वीकार करने पर घट पट आदि सभी जड़ पदार्थों को भी चेतन करके स्वीकार करना होगा परन्तु चार्वाक भी वह नहीं मानते। अतः शरीर में ही चैतन्य उत्पन्न होना है—शरीर ही ज्ञाता आत्मा है—यह किसी भी प्रकार से कहा जा नहीं सकता।

नास्तिक शिरोमणि चार्वाक ने अतीन्द्रिय कोई पदार्थ नहीं माना है। अतः उनके मत में अतीन्द्रिय परमाणु नहीं है। किन्तु उन्होंने (चार्वाक) पृथिवी, जल, तेज और वायु—इन चतुर्भूतों को मान कर इनके सूक्ष्म अंशों को भी अवश्य ही स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है कि जैसे गुड़ और चावल में मादकता नहीं रहने पर भी इन दोनों द्रव्यों के मिश्रण से उत्पन्न द्रव्य में माद- कता उत्पन्न होता है ऐसे ही चतुर्भूतों के अतिसूक्ष्म अंशों में चैतन्य के नहीं रहने से भी उन चतुर्भूतों के परमाणुओं के विलक्षण संयोग से उत्पन्न शरीर में चैतन्य का जन्म होता है।

चार्वाक की यह बात भी ग्रहण करने योग्य नहीं है। क्योंकि गुड़ अथवा चावल में एकदम मदशक्ति या मादकत्व के नहीं रहने पर इन दोनों द्रव्यों के मिश्रण से उत्पन्न मद्य में कदापि मादकता उत्पन्न नहीं हो सकती है। अन्यथा

जिस किसी दो द्रव्यों के मिश्रण से उत्पन्न द्रव्य मात्र ही मद्य की तरह मादक क्यों नहीं होता है ? फलित कथन यह हुआ कि चैतन्य या ज्ञान को यदि शरीर का विशेष गुण माना जाय तो शरीर के हस्तपादादि प्रत्येक अवयवों तथा उनके मूल परमाणुओं में भी चैतन्य स्वीकार करना होगा। किन्तु वह किसी भी प्रकार से स्वीकार करने योग्य नहीं है इसलिए स्मृति नामक ज्ञान शरीर का विशेष गुण है यह भी नहीं कहा जा सकता है।

नव जात शिशुओं को माँ के दूध पीने की प्रथम इच्छा का कारण जो स्मृति विशेष है वह उसके उस शरीर में तब उत्पन्न हो ही नहीं सकता। क्यों कि इससे पहले उसका उस शरीर ने कभी भी स्तन्यपान आदि मेरा इष्ट जनक है—इस तरह से अनुभव नहीं किया है। आगे जाकर यह स्पष्ट होगा। फलित कथन यह है कि देह भी आत्मा नहीं है।

मन भी आत्मा नहीं है।

पूर्वपक्ष यह हो सकता है कि जिन युक्तियों से चक्षु आदि बाह्य इन्द्रिय तथा शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हुआ है उन सभी उक्तियों से चिर स्थायी तथा नित्य मन का ही आत्मत्व सिद्ध हो सकता है। अर्थात् चैतन्य या ज्ञान मनका ही गुण है और मन ही ज्ञाता है—यह कहा जा सकता है।

महर्षि गौतम ने स्वयं आगे जाकर इस पूर्वपक्ष को उठाकर इसके उत्तर में कहा है—'ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः सञ्ज्ञाभेदमात्रम्' ।३।१।१६। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ ज्ञानों का कर्ता अथवा ज्ञाता है उसके सभी ज्ञानों के साधन अथवा करण होते हैं। अन्यथा उसके किसी भी ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः उस ज्ञाता के सुख तथा दुःख आदि के प्रत्यक्ष का भी कोई करण अवश्य मानना पड़ेगा—उसी का नाम मन है। इसलिए वह (ज्ञान का करण मन) ज्ञान कर्त्ता अथवा ज्ञाता नहीं हो सकता है। क्यों कि कर्त्ता और करण ये दोनों भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। इस स्थिति में यदि ज्ञाता को मन कहकर उसके सुख तथा दुःख आदि के भोग का करण—पृथक् किसी अन्तरिन्द्रिय को दूसरा नाम प्रकारान्तर स्वीकार किया जाय—इससे नामभेद मात्र ही होगा, पदार्थ में कोई भेद नहीं होगा। क्यों कि सुख तथा दुःख आदि के भोगों के कर्त्ता तथा उसके करण भिन्नरूप से स्वीकृत हो रहे हैं परन्तु सुख तथा दुःख आदि के भोगों के करण रूप में जो अन्तरिन्द्रिय मन नाम से स्वीकृत हुआ है उसको ही (मनको) ज्ञाता के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। क्यों कि वह (मन) करण रूप से ही सिद्ध है।

पूर्वपक्षी यदि कहते हैं कि ज्ञाता को बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष में करण है, किन्तु सुख तथा दुःख आदि के प्रत्यक्ष में कोई करण नहीं है—अतः

मन को ज्ञान का कर्ता ही कहेंगे। इसके उत्तर में महर्षि गौतम ने पश्चात् कहा है "नियमश्च निरनुमान" [३।१।१७] तात्पर्य यह है कि बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष में चक्षु आदि इन्द्रियाँ करण हो सकती हैं किन्तु सुख तथा दुःख आदि के प्रत्यक्ष में करण की आवश्यकता नहीं है—इस तरह का नियम निष्प्रमाण है। किन्तु हमारे बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष की तरह सुख और दुःख आदि के प्रत्यक्ष में भी अवश्य कोई करण है—यही अनुमानप्रमाण से सिद्ध है। वही करण मन नाम से कहा गया है। अतः उसको ज्ञान का कर्ता अथवा ज्ञाता नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि जो ज्ञान का करण होगा वह ज्ञान का कर्ता नहीं हो सकता है। परन्तु मैं चक्षु से रूप को देखता हूँ, घ्राण (नाक) से गन्ध को सूँघता हूँ—इत्यादि मानस प्रत्यक्षों के बाद जैसे चक्षु आदि करण को ज्ञान के कर्ता से भिन्न रूप से ही समझा जाता है उसी तरह से मैं मन से सुख और दुःख का अनुभव करता हूँ—इस तरह के मानस प्रत्यक्ष के बाद मन को भी ज्ञाता से पृथक् करके समझा जाता है। अतः मन ज्ञाता नहीं है यानी ज्ञान मन का गुण नहीं है।

महर्षि गौतम ने आगे उस विषय में और अधिक युक्तियों का उल्लेख किया है।

यहाँ यह भी कहना आवश्यक है कि महर्षि गौतम मन को अति सूक्ष्म पदार्थ के रूप से समर्थन करने से यह भी स्पष्ट हुआ है कि ज्ञान आदि मन का धर्म नहीं है अर्थात् मन ज्ञाता नहीं है।

कारण यह है कि अतिसूक्ष्म द्रव्य के मात्रिक तद्‌गत (अति सूक्ष्म द्रव्यगत) गुणों का भी लौकिक प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः यदि ज्ञान तथा सुख दुःख आदि को मनका धर्म मान लिया जाय तो उन सबों का भी लौकिक मानस प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। परन्तु अतिसूक्ष्म मनको यदि ज्ञाता मान लिया जाय तो वह शरीर के सभी अंगों में नहीं रहने से समूचे शरीर से कोई भी ज्ञान उस मन में उत्पन्न नहीं हो सकता है। किन्तु अनेक समय में शरीर के सभी अंगों में आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है। परमशीतार्त व्यक्ति एक ही काल में सकल शरीर में शैत्य का अनुभव करता है। पीड़ा विशेष के हो जाने से रोगी सकल शरीर में ही वेदना का अनुभव करता है। इसलिए यह स्वीकार करना होगा कि सकल शरीर में ही बोद्धा आत्मा है।

मन आत्मा होने पर शरीर में सर्वत्र उसकी सत्ता सम्भव नहीं होती। इस लिए मन आत्मा नहीं है। आत्मा आकाश की तरह सर्वव्यापी है। वैशेषिक दर्शन में कणाद ने भी कहा है—'विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा [७।१।२२] 'विभवात्' अर्थात् विभुत्व (सर्वव्यापित्व) के कारण जैसे आकाश महान् है

वैसे ही जीवात्मा भी महान् है। न्यायसूत्रकार गौतम का भी वही मत है। आगे चलकर यह स्पष्ट होगा।[2]

इति चौथा अध्याय।

---

१ अवश्य जीव अणु है—यह भी एक प्राचीन मत है। वैष्णव दार्शनिकों ने इसी मत को सिद्धान्त रूप में समर्थन किया है। किन्तु न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय के मत में प्रत्येक जीवात्मा ही आकाश की तरह सर्वव्यापी है। श्री भगवान ने भी जीवात्मा का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा है—'नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽयं सनातन' (गीता २।२४।) विष्णु पुराण में भी स्पष्ट ही कहा गया है—'पुमान् सर्वगतो व्यापी आकाशवदयं यतः' इत्यादि। (१२।१५।२४) इस मत में निर्विकार निरवयव जीवात्मा का सङ्कोच विकास तथा (गतागति) गमनागमन सम्भव ही नहीं है। सांख्य आदि सम्प्रदाय के मत में जीव के स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर का ही उत्क्रमण एवं गमनागमन होता है—यही शास्त्र में उत्क्रान्ति एवं गतागति नाम से कहा जाता है। किन्तु कणाद तथा गौतम सूक्ष्म शरीर का उल्लेख नहीं करने से इनके मत में मन ही सूक्ष्म शरीर के स्थान में है—ऐसा ज्ञात होता है। प्राचीन वैशेषिकाचार्य प्रशस्तपाद ने भी कहा है कि जीव के मृत्यु के बाद दूसरे क्षण में उत्पन्न आतिवाहिक शरीर विशेष के बीच प्रविष्ट होकर जीव का वही मन परलोक जाता है। अर्थात् स्थूल शरीर से उसी मन की ही उत्क्रान्ति होती है तथा परलोक में गति होती है और अवसर पर इस लोक में उत्पन्न स्थूल शरीर में आगति होती है। जीवात्मा की उपाधि उसी अन्तःकरण अथवा मन का सूक्ष्मत्व लेकर शास्त्र में किसी किसी स्थल में जीव को 'अणु' कहा गया है। किसी स्थल में दुर्ज्ञेय के अर्थ में भी जीवात्मा को अणु कहा गया है। शारीरक भाष्य में (२।३।२०) आचार्य शङ्कर ने भी उसी प्रकार की बात ही अन्त में कही है।

३ न्या० प०

पाँचवाँ अध्याय

जीवात्मा की नित्यता और पूर्वजन्म की साधक युक्तियाँ

पहले कही गयी नाना युक्तियों के द्वारा देह आदि से भिन्न जीवात्मा की सिद्धि होने पर भी वह नित्य है अर्थात् उसका जन्म और विनाश नहीं होता है—इसकी सिद्धि नहीं होती। अतः महर्षि गौतम ने जीवात्मा के नित्यत्व सिद्ध करने के लिए युक्तियों को प्रकाश करते हुए बाद में कहा है 'पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः' ३।१।१८। अर्थात् नवजात शिशुओं को हर्ष, भय तथा शोक की प्राप्ति होने से यह अनुमान प्रमाण सिद्ध होता है कि आत्मा नित्य है। क्योंकि हर्ष, भय और शोक आदि पूर्वाभ्यस्त विषयों के अनुस्मरण से उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह है कि नवजात शिशुओं को हँसते हुए देखकर अनुमान किया जाता है कि उसे हर्ष हुआ है, उसके शरीर में कम्प देख कर अनुमान होता है कि उसे भय हुआ है। एवं बच्चों को रोते हुए देखकर अनुमान होता है कि उसे शोक या दुःख विशेष हुआ है। अभिलषित वस्तुओं की प्राप्ति से जो सुख होता है उसी का नाम हर्ष है। अभिलषित वस्तुओं के अभाव में अथवा प्राप्त नहीं होने से जो दुःख होता है उसी का नाम शोक है। किन्तु किसी विषय को अपने इष्टजनक के रूप में नहीं समझने पर उस विषय की अभिलाषा या इच्छा किसी को नहीं होती है। अतः नवजात शिशु भी उस समय में किसी विषय को इष्टजनक समझकर ही उस विषय की इच्छा करता है एवं उसके प्राप्त हो जाने पर हृष्ट होता है और नहीं मिलने से दुःखित होता है—यह मानना होगा। किन्तु इसी जन्म में पहले पहल उसका ऐसा बोध सम्भव नहीं है। इसलिए स्वीकार करना होगा कि नवजात शिशु का यह आत्मा नित्य है। पूर्व पूर्व जन्मों में उसको (शिशु) इस तरह की वस्तुओं का इष्टजनक के रूप में ज्ञान होने से उसी ज्ञान से उत्पन्न संस्कार से इस जन्म में उसको उन वस्तुओं में इष्टजनकता की स्मृति होती है। उस स्मृत्यात्मक ज्ञान से ही उस शिशु को तज्जातीय विषयों की इच्छा होती है।

गौतम ने बाद में पूर्वपक्ष सूत्र कहा है—'पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनवत् तद्विकारः'। अर्थात् पूर्वपक्षवादी यह कह सकते हैं कि नवजात शिशुओं का हास्य आदि कमल आदि के विकास सङ्कोच की तरह उसके देह का ही तात्कालिक विकार अथवा

अवस्था विशेष है। उसके द्वारा उस के हर्ष आदि का अनुमान नहीं किया जा सकता है। इसके उत्तर में गौतम ने कहा है—'नोष्णशीत वर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम्' ३।१।२०। अर्थात् उपरोक्त बातें कही नहीं जा सकती हैं। क्योंकि पाँच भूतों से बना हुआ पद्म आदि द्रव्य का विकास अथवा सकोच रूप जो सब विकार हैं, व स्वाभाविक नहीं हो सकते हैं। उसका भी निमित्त या कारण हैं। उष्ण, शीत तथा वर्षाकाल आदि ही उसके कारण होते हैं। किन्तु नवजात शिशुओं का उस हास्य, कम्प एव रोदन का कारण क्या है—यह कहना आवश्यक है।

कमल की तरह सूर्यकिरण के सयोग से उस शिशु का मुखविकास एव नियमित मुखमुद्रण भी रात में नहीं होते हैं। अवसर पर किसी अन्य कारण से उस शिशु का मुखविकास आदि होने पर भी अनेक समय में उस शिशु का जो बारम्बार हास, कम्प और रोदन—क्रमश हर्ष, भय तथा शोक से होते हैं—यह मानना पडता है। उस हास्य आदि का दूसरा कोई कारण नहीं कहा जा सकता है।

अपि च, युवक तथा वृद्ध आदि सबके लिये ही हर्ष तथा शोक जैसे हास्य और रोदन के कारण के रूप में सर्वसम्मत हैं उसी तरह से नवजात शिशु के बारे में भी ऐसा नहीं मान कर किसी नये कारण की कल्पना करने पर वह ग्राह्य नहीं हो सकता है। इसलिए नवजात शिशु के उस हास्य एव रोदन से उसके हर्ष तथा शोक का अनुमान होने पर उससे पूर्वोक्त रीत्या उसका पुनर्जन्म सिद्ध होने से आत्मा की नित्यता ही सिद्ध होती है।

इसी तरह नवजात शिशु के भय से भी उसका पूर्वजन्म सिद्ध होने पर आत्मा की नित्यता सिद्ध होती है। श्रीमद्वाचस्पति मिश्र ने इसको अच्छे ढङ्ग से व्यक्त किया है। उनका कहना है—यह देखा जाता है कि नवजात शिशु कदाचिद् माँ की गोद से थोडा सा स्खलित होने पर ही उसी समय रोता हुआ कम्पित शरीर के फैलाये हुए दोनों हाथों से माँ के वक्षस्थ मङ्गलसूत्र को पकड लेता है। वह ऐसे क्यों करता है? युवक और वृद्ध आदि की तरह नवजात शिशु भी गिरने के डर से भयभीत होकर गिरने से अपने को बचाने के लिए क्यों उस तरह की चेष्टा करता है? पतन दुःख का कारण है—इस तरह के ज्ञान के बिना उस समय में उसको भय, दुःख तथा उस तरह की चेष्टा हो नहीं सकती है। क्योंकि यह सत्य है कि प्राणिमात्र ही 'पतन दुःख का कारण है'—इस प्रकार के ज्ञान से ही गिरने के डर से भयभीत होता है, और यथाशक्ति पतन को रोकने के लिए चेष्टा करता है। जो प्राणी किसी स्थान से पतन को

अपने दुःख के कारण के रूप में नहीं समझता है, वह कदापि उस स्थान से गिरने के डर से भयभीत नहीं होता है।

अतः पूर्वोक्त स्थल में नवजात शिशु के इस तरह के प्रयत्न के द्वारा भी माँ की गोद से उसके गिरने का भय अनुमान प्रमाण से सिद्ध होने से उसके पूर्व पतन दुःख का कारण है। इस तरह का ज्ञान भी उसका अवश्य स्वीकार करने योग्य है।

इसलिए यह अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है कि नवजात शिशु के आत्मा ने पूर्वजन्म में कई बार पतन की पूर्वावस्था तथा बाद में पतन का भी अनुभव करते हुए वह (पतन) दुःख का कारण है—इसका भी अनुभव किया है। अतः उन अनुभवों से उत्पन्न उन सब विषयों के संस्कार उस आत्मा में हैं। पूर्वोक्त स्थल में इस जन्म में उन संस्कारों से पतन की पूर्वावस्था को जानकर उससे अपने भावी पतन का अनुमान करके पतन दुःखजनक है इस प्रकारका अनुमान करता है। अतः उस समय में वह पतन के भय से भीत होकर उस पतन को रोकने के लिए उस प्रकार की चेष्टा करता है। पतन की पूर्वावस्था तथा पतन—जो उसका पूर्वानुभूत है—उसके स्मरण के बिना कदापि उसको उस प्रकार का भय नहीं हो सकता है। संस्कार के बिना भी उसको उन सभी विषयों की स्मृति नहीं हो सकती है। अतः उसका पूर्वजन्म अवश्य स्वीकरणीय है। आत्मा की उत्पत्ति न होने पर भी किसी अभिनव शरीर आदि के साथ विलक्षण सम्बन्ध रूप जन्म है। अनादि काल से ही आत्मा के ऐसे जन्म स्वीकार योग्य होने से यह भी मानना होगा कि आत्मा नित्य है।

पूर्वोक्त सूत्र के भय शब्द से अज्ञान जीवमात्र का मृत्युभय भी पूर्वजन्म के साधक के रूप में गौतम का विवक्षित है—यह समझा जाता है। योगदर्शन में पतञ्जलि ने अन्त में अविद्या आदि पाँच क्लेशों में अन्त में 'अभिनिवेश' नाम का जो क्लेश कहा है वह ही वस्तुतः मृत्यु भय रूप क्लेश है। किन्तु उस मृत्यु भय का भी कारण बतलाना पड़ेगा। जीवों का स्वभाव अथवा मानसिक दुर्बलता का ही फल मृत्युभय है यह नहीं कहा जा सकता है। मृत्यु को दुःख का कारण करके नहीं समझने पर किसी को भी मृत्युभय नहीं हो सकता है। क्योंकि जीव ने जिसे अपने दुःखों के कारण के रूप में पहले कभी अनुभव नहीं किया है वह जीव कदापि उससे नहीं डरता।

इसलिए यही स्वीकार करना होगा कि पूर्व पूर्व जन्मों में प्रत्येक जीव ने यह अनुभव किया है कि मृत्यु की पूर्वावस्था दुःखजनक होती है और उसी से ही उत्पन्न संस्कार के द्वारा परवर्तीजन्म में भी मृत्यु से भयभीत होता है। समय विशेष में बहुतों के किसी कारण से वे संस्कार अभिभूत होने पर भी साधारण जीवों का

यद्मूल अनादि संस्कार नष्ट नहीं होता है। अत. उसी संस्कार से उत्पन्न स्मृति से ही मृत्युभय होता है। योगदर्शन के भाष्य में व्यासदेव ने उसी मृत्युभय को विशेषत: जव के पूर्वजन्म के साधक के रूप में प्रकाश किया है।

आत्मा की नित्यता सिद्ध करने के लिए महर्षि गौतम ने आगे फिर से कहा है—'प्रेत्याहाराभ्यासकृतात्स्तन्याभिलाषात्' ३।१।२१। अर्थात् नवजात शिशु को पहले पहल जो स्तन्यपान की इच्छा होती है—वह उसके पूर्वजन्म के आहार के अभ्यास से उत्पन्न है। इसलिए उस इच्छा से भी उसका (शिशु का) पूर्वजन्म सिद्ध होने से आत्मा की नित्यता सिद्ध होती है।

तात्पर्य यह है कि नवजात शिशु के सबसे पहले स्तन्यपान के समय में उसके मुख की क्रिया विशेषात्मक चेष्टा को देखकर उससे उसका कारण प्रयत्नात्मक प्रवृत्ति का अनुमान होता है। अत उस प्रवृत्ति के द्वारा उस विषय में उसकी इच्छा का अनुमान होता है। क्योंकि इच्छा के बिना प्रवृत्ति हो नहीं सकती। परन्तु ज्ञान के बिना भी इच्छा नहीं होती है। इसलिये उस इच्छा से उसके कारण ज्ञान का अनुमान होता है। जिस विषय म पहले 'यह मेरा इष्टजनक है' इस आकार का ज्ञान उत्पन्न होता है उसी विषय में उस ज्ञान से इच्छा होती है तथा उसी इच्छा से उस विषय में प्रयत्नात्मक प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है और उस प्रवृत्ति से उस कार्य के अनुकूल शारीरिक क्रियारूप चेष्टा उत्पन्न होती है—इस प्रकार का कार्यकारणभाव सर्वजनसिद्ध है। तथा बालक, युवक और वृद्ध आदि सभी को 'आहार मेरा इष्टजनक है'-ऐसी स्मृति से आहार की इच्छा होती है, तथा उन सभी लोगों के आहार के पूर्वकृत अभ्यासजनित संस्कार से ही आहार क्षुधा (भूख) को निवृत्त करता है—ऐसा स्मरण होता है—यह भी सर्वजनसिद्ध है। इसलिए यह मानना होगा कि नवजात शिशु को जो सबसे पहले दूध पीने की इच्छा होती है वहाँ भी उसके कारण के रूप में 'आहार मेरा इष्टजनक है' यह स्मरण होता है। और नवजात शिशुओं की उस स्मृति के कारण के रूप में उसके पूर्वजन्म का आहाराभ्यास मूलक संस्कार ही स्वीकार करना होगा। क्योंकि इस जन्म में सबसे पहले उसको इस तरह के संस्कार की प्राप्ति का कारण नहीं है।

गौतम ने आगे जाकर पूर्वपक्ष सूत्र कहा है—'अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम्' ३।१।२२। अर्थात् पूर्वपक्षवादी कहेंगे कि "अयस" (लोहस्य) "अयस्कान्ताभिमुखगमनवत्" अर्थात् पूर्वाभ्यासमूलक संस्कार के बिना भी वस्तु शक्ति के द्वारा जैसे लोहा अयस्कान्तमणि की (चुम्बक की) ओर जाता है उसी तरह नवजात शिशु का मुख मातृस्तन की ओर जाता है।

गौतम ने इस बातका खण्डन करने के लिए बाद में कहा है—'*नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात्*' ३।१।२३ अर्थात् पूर्वोक्त बात नहीं कही जा सकती। क्योंकि उक्त स्थल में लोहे में प्रयत्नात्मक प्रवृत्ति की उत्पत्ति नहीं होती है। अयस्कान्त-मणि (चुम्बक) की ओर जो लोहे की गति है वह क्रियामात्र है, प्रवृत्तिजन्य चेष्टारूप क्रिया नहीं है।

भाष्यकार वात्स्यायन ने *गौतम के तात्पर्य की व्याख्या की है* कि चुम्बक की ओर लोहे की गति क्रियारूप जो प्रवृत्ति है उसका अवश्य कोई नियत कारण है। अन्यथा चुम्बक की ओर लोष्ट्र (ढेला) आदि जो कोई भी द्रव्य क्यों नहीं जाते? एवं वही लोहा भी किसी दूसरे पदार्थ की ओर क्यों नहीं जाता? इसलिए यह अवश्य मानना होगा कि लोहा ही या चुम्बक की ओर ही आकृष्ट होता है उसका कोई नियत कारण अवश्य है। तो उसी तरह नव जात शिशु स्तन्यपान के लिए माँ के स्तन की ओर ही जो जाता है—इसका *भी कोई नियत कारण अवश्य मानना पड़ेगा। किन्तु नवजात शिशु जो आहार* की इच्छा से ही माँ के स्तन की ओर जाता है—अर्थात् उस आहार की इच्छा से ही उस समय में आहार के लिए उसकी वह प्रयत्नात्मक प्रवृत्ति होती है और उससे ही उसके शरीर में उस तरह की चेष्टा उत्पन्न होती है, यही मानना पड़ेगा। क्योंकि आहार की इच्छा के बिना कदापि आहार के विषय में प्रवृत्ति नहीं होती। उस प्रवृत्ति के बिना भी आहार के लिए उस तरह की चेष्टा नहीं होती। सर्वसिद्ध कारणों को छोड़कर उसी विषय में किसी *अभिनव कारण की कल्पना करने पर भी वह ग्राह्य नहीं हो सकता।*

वास्तव में, माँ के स्तन की ओर नवजात शिशु के मुख की जो साम यिक क्रिया है वह कभी भी चुम्बक की ओर लोहे की गति के माफिक है, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अयस्कान्तमणि (चुम्बक) के निकट लोहे को रखने से उसी समय वह (लोहा) उससे सम्मिलित होता है किन्तु माँ के स्तन में नवजात शिशु के मुख को लगाने से भी बहुत समय में उसके मुँह में क्रिया उत्पन्न नहीं होती, यह अवश्य मानना पड़ेगा। इसलिए नवजात शिशु जिस संस्कार के बल से स्तन्यपान को अपने इष्टजनक के रूप में स्मरण करता है, वह संस्कार जब तक उद्‌बुद्ध नहीं होता है तब तक उसको उस प्रकार की स्मृति न होने पर स्तन्यपान की इच्छा नहीं होती—यही मानना पड़ेगा। *अन्यथा चुम्बक के निकट लोहे की तरह मातृस्तन के नजदीक उपस्थित शिशु* का मुख सर्वत्र पहले ही माँ के स्तन से ही क्यों नहीं सम्मिलित होता है?

अनेक गृहस्थ बहुत समय में प्रात काल उठकर देखते हैं कि अपनी गोशाला में बछड़ा जन्म लेकर स्वयं खड़ा होकर अपनी माँ का दूध पी रहा

है। तपोवन में ऋषियों ने देखा है कि मृगशिशु प्रसूत होकर स्वयं अपनी माँ का दूध पीने के लिए प्रवृत्त हो रहा है। यहाँ प्रश्न उठता है कि ये बछड़े आदि कैसे उसी समय में अपनी माँ के स्तन को पहचान लेते हैं। माँ के स्तन में दूध है, वह प्रविघात करने पर निकलेगा और वह दूध का पीना भूख को मिटानेवाला है यह भी वह कैसे समझ सकता है?

ऐसे स्थलों में उन सभी विषयों के स्मरण के बिना उन सब विषयों की इच्छा, *तज्जन्य प्रवृत्ति तथा प्रवृत्तिजन्य ऐसी चेष्टा कदापि नहीं हो सकती है।* अतएव पूर्वजन्म का संस्कार ही उन सबों की इस स्मृति का कारण कहना पड़ेगा। अतः उन सबके (बछड़े आदि के) भी पूर्वजन्म के संस्कार ही उनके उस विषय में स्मरण का कारण कहना पड़ेगा। अतः उनका भी पूर्वजन्म स्वीकार करने योग्य होने पर आत्मा का नित्यत्व अवश्य स्वीकार्य है।

मृगशिशु प्रसूत होकर आप से ही अपनी माँ का स्तन्यपान करने में प्रवृत्त हुआ है—यह देखकर आचार्य शङ्कर के शिष्य सुरेश्वराचार्य ने भी आत्मा की नित्यता में *अनुमान प्रमाण को प्रकाश करते हुए 'मानसोल्लास' नामक ग्रन्थ* में सरल एवं सुन्दर भाषा में कहा है—

> 'पूर्वजन्मानुभूतार्थस्मरणान्मृगशावकः।
> जननीस्तन्यपानाय स्वयमेव प्रवर्त्तते ॥ ७५ ॥
> तस्मान्निश्चीयते स्थायीत्यात्मा देहान्तरेष्वपि।
> स्मृतिं विना न घटते स्तन्यपानं शिशोर्यतः ॥ ७६ ॥

आत्मा की नित्यता सिद्ध करनेके लिये महर्षि गौतम ने अन्त में कहा है—

'वीतरागजन्मादर्शनात्' ३।१।२४।

तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति को जन्म के बाद कभी भी किसी भी विषय का अणुमात्र राग या अभिलाषा नहीं होती है, जो सदा के लिए सभी प्रकार से 'वीतराग' है ऐसे किसी प्राणी का जन्म देखा नहीं जाता।

सभी प्राणियों के जन्म के बाद कदाचित् शारीरिक क्रिया अथवा चेष्टा के द्वारा वह किसी विषय में सराग करके अनुमित होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि कदाचित् भूख और प्यास के कारण भक्ष्य एवं पेय विषयों में प्रत्येक जीव का राग या इच्छा अवश्य ही उत्पन्न होती है। अतः यह मानना होगा कि प्रत्येक जीव के प्रत्येक जन्म से पहले ही दूसरा जन्म है। अन्यथा उसको जन्म के बाद किसी भी विषय का इच्छात्मक राग नहीं हो सकता है। क्योंकि पूर्वानुभूत विषयों की अनुस्मृति के बिना वह राग उत्पन्न नहीं होता है।

गौतम ने आगे पूर्वपक्ष सूत्र कहा है—

'सगुणद्रव्योत्पत्तिवत् तदुत्पत्तिः ।'

अर्थात् पूर्वपक्षवादी नास्तिक कहेंगे—कैसे सगुण द्रव्य की उत्पत्ति होती है—अर्थात् जैसे घट आदि द्रव्य रूप प्रभृति गुण विशिष्ट होकर उत्पन्न होता है, वैसे ही राग विशिष्ट होकर ही सभी जीव उत्पन्न होते हैं। अर्थात् जीव के जन्म के बाद उसके किसी राग की उत्पत्ति के लिये पूर्वानुभूत विषयों का अनुस्मरण आवश्यक नहीं है। गौतम ने इस अन्तिम पूर्वपक्ष का खण्डन करने के लिये बाद में कहा है—'न सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम्' ।३।१।२६। अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि सभी जीव रागविशिष्ट होकर ही उत्पन्न होते हैं। क्योंकि जीवों का राग सङ्कल्पनिमित्तक है। अर्थात्, सङ्कल्प के बिना किसी व्यक्ति को किसी विषय में राग नहीं होता है। सङ्कल्प शब्द का अर्थ यहाँ सम्यक् कल्पनात्मक मोह अथवा भ्रमविशेष है।[१] आगे चतुर्थ अध्याय में गौतम ने इसको स्पष्ट किया है—'तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्तेः' ४।१।६। अर्थात् राग, द्वेष और मोह में मोह ही सबसे निकृष्ट है क्योंकि मोहरहित व्यक्ति को राग तथा द्वेष नहीं होते हैं। भाष्यकार वात्स्यायन ने यहाँ कहा है कि जो सङ्कल्प व्यक्ति को विषय विशेष में राग उत्पन्न कराता है—उसका नाम 'रञ्जनीय सङ्कल्प' है और जो सङ्कल्प द्वेष उत्पन्न कराता है—उसका नाम 'कोपनीय सङ्कल्प' है। वे दोनों संकल्प ही जीव का उस विषय में मिथ्या ज्ञान स्वरूप होने से वह उसके मोह से भिन्न दूसरा कुछ नहीं है। किन्तु जीव का उस राग और द्वेष का कारण जो मोहात्मक सङ्कल्प है वह भी उसके पूर्वानुभूत विषयों की स्मृति के बिना उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि जिस जीव ने जिस विषय को पहले कभी अपने सुख के कारण के रूप से समझा था उसी विषय में अथवा तज्जातीय किसी दूसरे विषय में ही फिर से उस इच्छात्मक राग होता है। एवं जिस विषय को कदाचित् दुःख के कारण के रूप से समझा या उसी विषय में अथवा तज्जातीय विषय में ही उसे द्वेष होता है। अन्यथा वह नहीं होता है।

---

१ सङ्कल्प शब्द का कामना अर्थ प्रसिद्ध है। किन्तु काम का जनक सङ्कल्प मोहविशेष है। भगवद्गीता में भी कहा गया है—'सङ्कल्पप्रभवान् कामान्' ६।२४। भगवद्गीता के भाष्य के टीकाकार आनन्दगिरि ने यहाँ व्याख्या की है—सङ्कल्प शोभनाध्यास' अर्थात् जो वस्तुतः शोभन या समीचीन नहीं है उसका समीचीनत्व रूप में जो अध्यास या भ्रम है वही वहाँ अनेक द का अर्थ है। ऐसा भ्रमात्मक सङ्कल्प काम का मूल है। इसलिए गीताजी में कहा 'सङ्कल्पप्रभवान् कामान्'।

अत पूर्वानुभूत विषयों के अनुस्मरण सेही पहले उन विषयों में राग और द्वेष का कारण मोहात्मक सकल्प होता है तथा उस सकल्प से ही उस विषय में राग और द्वेष होते हैं—यही मानना पडेगा। अतः जन्म के बाद जीव को सबसे पहले जो राग होता है वह (राग) भी पूर्वोक्त्त सकल्प के बिना हो नहीं सकता। घट आदि द्रव्यों में रूप आदि गुणों की तरह कभी भी जीवों को ज्ञानमूलक राग नहीं हो सकता।

जीवों के यौवन आदि काल में राग की उत्पत्ति के लिये जैसे ज्ञान कारण के रूप में सर्वसिद्ध है उसी तरह जीव के राग की सर्वप्रथम जो उत्पत्ति है उसमें भी उसी प्रकार का ज्ञान ही अवश्य कारण के रूप में स्वीकार करने योग्य है। अभिनव किसी कारण की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है।

फलित कथन यह है, जबकि प्रत्येक जीव को जन्म के बाद विषय विशेषमें राग अवश्य ही होता है तथा उस विषय के सकल्प के बिना भी वह राग उत्पन्न नहीं हो सकता तथा पूर्वानुभूत विषयों की अनुस्मृति के बिना भी वह सकल्प हो नहीं सकता तब यह अवश्य मानना होगा कि प्रत्येक जीव ने पूर्वजन्म में उसके समानजातीय विषयों का उसी रूप में अनुभव किया होगा अतः उस विषय का सस्कार जीव में रहता है—यह अवश्य स्वीकार्य है।

तब इसी प्रकार इस पूर्वजन्म से पहले जन्म में उसी जीव को विषयविशेषमें सर्वप्रथम रागके कारणके रूपमें उस प्रकारका संकल्प और उसी सकल्पके कारण के रूप में उससे भी पहले जन्म में अनुभूत उसी विषयका उसी रूप में अनुस्मरण भी स्वीकार करना होगा। अतः उक्तरूप से सभी जीवों का अनादि जन्म-प्रवाह और अनादि सस्कार-प्रवाह स्वीकार करना होगा। अतः आत्मा के सस्कार प्रवाह के अनादि होने से इन अनादि प्रवाहों के आश्रय आत्मा का भी अनादित्व सिद्ध होता है। क्योंकि यह अनुमान प्रमाण से सिद्ध है कि अनादि भावपदार्थों की उत्पत्ति और विनाश नहीं हैं। इसलिए महर्षि गौतम ने अन्त में इसी विषय को 'वीतरागजन्मादर्शनात्' इस सूत्र के द्वारा उक्त रूप से आत्मा का अनादित्व समर्थन करते हुए आत्मा की नित्यता सिद्ध की है।

वास्तव में, शरीर आदि के साथ आत्मा का विलक्षण सम्बन्ध रूप जन्म-प्रवाह अनादि है। अत. सृष्टि प्रवाह भी अनादि है—यही हमारे सभी शास्त्रों का सिद्धान्त है। क्योंकि श्रुति ने कहा है—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋग्वेदसंहिता १०।१९०।३)। विधाता ने जैसे पहले किया था वैसे ही सूर्यचन्द्र आदियों की सृष्टि की है—ऐसा कहने पर समझा जाता है कि अनादि काल से ही वे जगत की सृष्टि कर रहे हैं। जिस समय में वे जगत् का सहार करते हैं उसी समय में 'प्रलय' होता है। प्रलय के बाद में जो नूतन

सृष्टि हुई है और होगा उसीका आदि है। उसी तात्पर्यसे शास्त्र में सृष्टि का आदि कहा गया है। किन्तु सृष्टि का प्रवाह अनादि है अर्थात् सभी सृष्टियों के पहले ही किसी समय में दूसरी सृष्टि हुई है। जिस सृष्टि से पहले कोई दूसरी सृष्टि नहीं थी ऐसी कोई सृष्टि नहीं है। सृष्टि का प्रवाह अनादि है—इस वैदिक सिद्धान्त का समर्थन बादरायण भी वेदान्तदर्शन में कर गये हैं।[1]

श्रीभगवान् ने भी कहा है—'नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा'—गीता १५।३।

परन्तु जीव का जन्मप्रवाह अनादि होने पर भी अर्थात् अनादि काल से अनन्त जीव असंख्य जन्मों को प्राप्त करके अनन्त विचित्र संस्कारों को प्राप्त करने पर भी सभी जन्मों में सभी प्राक्तन संस्कार उद्‌बुद्ध नहीं होते हैं। जीव अपने कर्मों के अनुसार जब जैसा शरीर धारण करता है, तब उन कर्मों के विपाक से उसके अनुरूप संस्कार ही उद्‌बुद्ध होते हैं और अन्यान्य संस्कार अभिभूत होकर रहते हैं।

किसी जीव के मानवजन्म के बाद अपने कर्मों के अनुसार वानर देह अथवा गैंडा का शरीर प्राप्त करने पर उसके पूर्वकालिक वानर जन्म में अथवा गैंडा जन्म में प्राप्त संस्कार ही उद्‌बुद्ध होते हैं तथा ऊँट का शरीर प्राप्त करने पर पूर्वकालिक ऊँट के जन्म के संस्कार ही तत्काल उद्‌बुद्ध होते हैं। अत उस समय में उसके मनुष्योचित संस्कार या रागादि नहीं होते हैं। अतः वैशेषिक दर्शन में महर्षि कणाद ने कहा है—'जातिविशेषाच्च' ६।२।१३।

कणाद ने इस सूत्र से यह भी कहा है कि भक्ष्य एवं पेय आदि के विषयों में विभिन्न प्रकार के रागों का कारण जाति या जन्मविशेष भी है। महर्षि पतञ्जलि ने भी योगदर्शन में शास्त्रयुक्तिसम्मत इस सिद्धान्त को ही प्रकाशित किया है।[2]

महर्षि कणाद ने पहले 'अदृष्टाच्च' (६।२।१२) इस सूत्र से जीवों के

---

१ न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्। उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च (वेदान्तदर्शन २।१।३५ ३६। सूत्र) 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इति च मन्त्रवर्ण पूर्वकल्पसद्भाव दर्शयति। स्मृतावप्यनादित्वम् संसारस्योपलभ्यते 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते। नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा' (गीता १५।३।) इति। पुराणे चातीतानागतानाञ्च कल्पानां न परिमाणमस्तीति स्थापितम्।
—शारीरकभाष्य।

२ 'ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्'। जाति देशकाल व्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्' ॥—योगदर्शन, कैवल्यपाद का ८ तथा ९ सूत्र और उसका भाष्य—देखिए।

अदृष्ट विशेष को भी किसी किसी स्थल में राग और द्वेष का असाधारण कारण कहकर व्यक्त किया है। वास्तव में यह भी ज्ञात होता है कि अवसर पर किसी स्थल में अदृष्ट विशेष के द्वारा अनेक जीवों के अभिभूत भिन्न भिन्न संस्कार भी उद्बुद्ध होते हैं, इसके अनेक उदाहरण भी दिखाये जा सकते हैं।

मूल बात यह है कि जीव के प्राक्तन संस्कारों के विना जन्म के उपरान्त उसको विषयविशेष में संकल्प तथा तन्मूलक राग आदि उत्पन्न नहीं हो सकते। और यह जो वानर शिशु उत्पन्न होकर ही वृक्ष की शाखाओं पर चढ़ता है, किसी किसी पक्षियों के बच्चे अण्डे से निकलते ही उड़ जाते हैं, हंस का बच्चा जल में तैरता है, गैंड़े का बच्चा जन्म लेते ही अपनी माँ के निकट से भाग जाता है—इन लोगों की ये सब बातें प्राक्तन जन्म के संस्कार के विना उपपन्न नहीं हो सकती। गैंडे के शिशु को अपनी माँ के तीक्ष्णधार जीभ से प्रथम गात्रलेहन बहुत कष्टकर होता है। इसीलिये जन्म लेते ही प्राक्तन गैंडा जन्म के उस संस्कार के बल से अपनी माँ के द्वारा पहले गात्रलेहन की कष्टकरता को स्मरण करके उसी समय उस स्थान से भाग जाता है। बाद में जब देह का चमड़ा मजबूत हो जाता है तब वह अपनी माँ की खोज करके फिर से उसके निकट आ जाता है। यह परीक्षित सत्य है। मानवों की तरह अनेक पशु पक्षियों के भी अनेक विचित्र कर्मों को तथा विचित्र स्वभावों को लक्ष्य करके समझने से उनका पूर्वजन्म अवश्य ही मानना पड़ता है। अन्यथा जीवों के विचित्र स्वभाव एवं भिन्न भिन्न रुचियाँ किसी भी प्रकार से उपपन्न नहीं हो सकती। मस्तिष्कों के जड़ उपादान या माँ बाप के स्वभाव को आश्रय करके उसका कोई भी समाधान नहीं किया जा सकता।

परन्तु जैसे पूर्वजन्म के संस्कार के विना जीवमात्र को जन्म के बाद भक्ष्य, पेय आदि विषयों में विचित्र राग नहीं हो सकता वैसे ही मानवों को विद्या-विशेष में विशिष्ट अनुराग तथा अधिकार भी प्राक्तन संस्कार के विना नहीं हो सकते। क्योंकि मनुष्यों में प्रत्येक व्यक्ति सभी विद्याओं के समान अनुरागी तथा अधिकारी नहीं होते हैं। कोई गणित से विरक्त होकर भी इतिहास में अत्यन्त अनुरागी होता है। कोई यदि कर्कश तर्कशास्त्र की चर्चा में सतत एकाग्रचित्त रहता है तो कोई केवल कोमल काव्यों का चर्चा में सदा निरत रहता है। कितने व्यक्ति अध्ययन छोड़कर सङ्गीत की शिक्षा में निरन्तर मस्त रहते हैं। यह भी सर्वसम्मत है कि जिस विद्या में जिसे अधिक अनुराग रहता है उस विद्या में उसका अधिक अधिकार जमा रहता है। किन्तु ऐसा क्यों होता है? मानवों को विद्याविशेष में अधिक अनुराग और अधिकार का मूल कारण क्या है? अगर ये सब विचार करके समझना हो तो पूर्वजन्म में उस व्यक्ति को उस विद्या के

विशिष्ट अभ्यास या अनुशीलन से उत्पन्न संस्कारविशेष ही उसके कारण के रूप में मानना पड़ता है।

तात्पर्य टीकाकार श्रीमान् वाचस्पति मिश्र ने इसका समर्थन करते हुए कहा है कि मनुष्यत्वरूप से सभी मानव समान होते हुए भी उन लोगों में प्रज्ञा तथा मेधा का उत्कर्ष और अपकर्ष रहता है। यह भी परीक्षित सत्य है कि मनोयोगपूर्वक किसी विद्या के अभ्यास करने पर उस विषय में उस व्यक्ति की प्रज्ञा तथा मेधा की वृद्धि होती है। अतः यह अवश्य मानना पड़ेगा कि *किसी विद्या का अभ्यास अथवा अनुशीलन ही उस विद्या की प्रज्ञा तथा मेधा की वृद्धि* में कारण है। इसलिए जिन मनुष्यों को इस जन्म में किसी विद्या के अनुशीलन से पहले अथवा प्रारम्भ में उस विषय में विशेष अनुराग प्रज्ञा तथा *मेधा का उत्कर्ष जो ज्ञात होता है—उनका पूर्वजन्म कृत उस विद्या का* अभ्यास ही उसके कारण के रूप में मानना होगा।

क्योंकि उस विषय के अभ्यास अथवा अनुशीलन के बिना कदापि किसी को भी उसमें विशिष्ट अधिकार नहीं हो सकता। कारण के बिना कार्य नहीं होता है।

फलितकथन यह है कि विद्याविशेष में मानवविशेष का जो अत्यन्त अनुराग है और थोड़े ही समय में थोड़े उपदेश से ही अधिक अधिकार हो जाता है—वह उसके पूर्वजन्म के संस्कार के बिना कदापि संभव नहीं है। उस विषय *का थोड़ा उपदेश अगर प्राप्त* होता है तो उसी उपदेश के बल पर उस व्यक्ति का वह प्राक्तन संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है। किन्तु इसके भी अनेक दृष्टान्त हैं कि किसी व्यक्ति को इस जन्म में किसी उपदेश के बिना ही अदृष्ट विशेष से अथवा किसी दूसरे कारण से प्राक्तन संस्कार उद्बुद्ध होनेसे बिना उपदेश के ही किसी विद्याविशेष में अधिकार हो जाता है।

अमर कवि कालिदास ने भी कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग में हिमालय की कन्या पार्वती जी की विद्या का वर्णन करते हुए लिखा है—

"तां हंसमाला शरदीव गङ्गां महौषधिं नक्तमिवात्मभासः।

स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥ ३० ॥

अर्थात् जैसे शरद ऋतु में हंसमाला गङ्गा को प्राप्त करती है, और रात होने पर *महौषधि वर्ग को अपनी-अपनी प्रभा प्राप्त करती है*, वैसे ही पार्वती जी की शिक्षा के समय आने पर उनको पूर्वजन्म की सभी विद्याएँ प्राप्त हो गई थीं। पूर्वजन्म के सभी उपदेश अर्थात् उस शिक्षा से होनेवाला संस्कार भी क्षणिक पदार्थ नहीं, अपितु स्थिर पदार्थ है।

यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि क्षणिकवादी बौद्ध संप्रदाय ने

जन्मान्तरवाद को स्वीकार करते हुए भी स्थिर पदार्थ को नहीं माना है। किन्तु स्थिर वादी महाकवि कालिदास ने इस श्लोक में पार्वती जी को 'स्थिरोपदेशा' कहकर उक्त बौद्ध सिद्धान्त के प्रति अपनी असम्मति प्रकट की है।

और प्रकृत विषय में यह अवश्य ध्यान में रखना होगा कि महाकवि कालिदास ने इस पद्य में दो उपमाओं के द्वारा स्पष्ट व्यक्त किया है कि इस जन्म में किसी के उपदेश के बिना ही पार्वती जी का सभी प्राक्तन संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाने से वे सब विद्याएँ प्राप्त हुई हैं। ऐसा व्यक्त करते हुये उन्होंने इस महासत्य को भी प्रकाशित किया है कि इस जन्म में उपदेश के बिना भी किसी कारण से पूर्वजन्मों के संस्कारविशेषों के उद्‌बुद्ध होने पर सहज में ही विद्याविशेष की प्राप्ति होती है। कालिदास के द्वारा प्रदर्शित उन दोनों उपमाओं तथा उनके प्रयोजनों को समझने से ही यह समझा जाता है। प्राचीन समालोचक ने सत्य ही कहा है—'उपमा कालिदासस्य'

परन्तु जो कालिदास कुमारसंभव में यह बात कह गये हैं उनकी कवित्वशक्ति भी केवल ऐहिक संस्कार नहीं है। इस जन्म में शिक्षा और अभ्यास से ही सभी लोग उनके मार्मिक काव्य की रचना नहीं कर सकते हैं। काव्यप्रकाश के प्रारम्भ में महामनीषी मम्मटभट्ट ने भी कहा है—'शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कार विशेषः, या विना कवित्व न प्रसरेत्, प्रसृत वोपहसनीयं स्यात्'। कवित्व का बीजरूप संस्कारविशेष ही कवित्वशक्ति है। वह केवल ऐहिक संस्कार नहीं है। उसमें पूर्वजन्म का संस्कार ही मूल तथा प्रधान है। उस शक्ति या संस्कार के नहीं रहने पर कवित्व का प्रकाश या काव्य की रचना संभव ही नहीं है। काव्य निर्माण करने के लिए कवि को जो शक्ति अत्यावश्यक है उसे कवि की 'कर्तृत्व शक्ति' कहते हैं। और काव्य को समझने के लिए जो शक्ति अत्यावश्यक है उसे 'बोद्‌धृत्व शक्ति' कहते हैं। वह भी संस्कारविशेष है। उस के नहीं रहने पर भी काव्य समझा नहीं जाता। इसलिए जिसकी वह बोद्‌धृत्व शक्ति नहीं है उसके सामने उत्कृष्ट काव्य भी उपहासास्पद होकर रहता है। सभी व्यक्ति काव्यरस का आस्वाद या अनुभव नहीं कर सकते, जिनका उस विषय का पूर्वजन्मार्जित संस्कार उद्‌बुद्ध है, वे ही सब पुण्यवान् व्यक्ति काव्यरस का आस्वादन कर सकते हैं।

फलितकथन यह है कि काव्य के रसास्वाद के लिए जैसे प्राक्तन संस्कार भी आवश्यक है वैसे ही काव्य रचना के लिए भी प्राक्तन संस्कार आवश्यक है। अनेक व्यक्तियों का अकस्मात् जो अद्‌भुत कवित्व प्रकाशित होता है उसका प्रधान कारण उन व्यक्तियों का विलक्षण प्राक्तन संस्कार ही है। यह जो सुप्राचीन समय से लेकर इस भारतवर्ष में कितने दिग्विजयी पण्डित कवि तथा कितनी कवयित्रियाँ

ने अनेक स्थानों में अनेक प्रकार से संस्कृत भाषा में अतिशीघ्र बहुत-बहुत कठिन समस्याएँ पूरी की हैं और अत्यद्भुत कवित्व का प्रकाश किया है तथा इस बङ्गभूमि में भी बहुत अपण्डित कवियों ने भी बंगला भाषा में अतिशीघ्र महान् भावों से परिपूर्ण कितने सङ्गीतों का निर्माण तथा समस्या पूरण करके अत्यन्त विस्मयकर कवित्व का प्रकाश किया है, वह उनके उस विषय में पूर्वजन्म के विजातीय संस्कार के बिना कभी सम्भव हो नहीं सकता। केवल इस जन्म में शिक्षा और अभ्यास से किसी की उस तरह की शक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

बहुतों का कहना है कि कवित्वशक्ति और गानशक्ति प्रभृति ईश्वर की दी हुई शक्ति है। ईश्वर ही विशेष विशेष व्यक्तियों को ये सब शक्तियाँ देते हैं। और नवजात शिशु की आहार की इच्छा भी ईश्वरेच्छा से ही होती है। ईश्वर ही उसके जीवन की रक्षा के लिए उस तरह की बुद्धि शिशु को प्रदान करके माँ के स्तन्य दुग्ध पान आदि में प्रवृत्त कराते हैं। उसके जीवन की रक्षा के लिए उसकी माँ का स्तन और उसमें दूध की सृष्टि भी तो उसी ईश्वर ने ही की है। इसलिए नवजात शिशु के स्तन्य पान आदि विषय में जो इच्छा है उससे भी पूर्वजन्म की सिद्धि नहीं हो सकती।

इसके उत्तर में कहना है कि नवजात शिशु के जीवन की रक्षा के लिए ईश्वर ही उसको स्तन्यपान आदि में प्रवृत्त कराते हैं—यह सत्य है। क्योंकि वे ही सभी जीवों के सकल कर्मों को कराने वाले हैं। उनके कर्म नहीं कराने पर कोई भी जीव किसी कर्म को नहीं कर सकता। और यह भी सत्य है कि कवित्वशक्ति और गानशक्ति आदि वे ही प्रदान करते हैं। किन्तु यह भी कहना आवश्यक है कि सर्वशक्तिमान् करुणामय परमेश्वर सभी मनुष्यों को कवित्वशक्ति तथा गानशक्ति आदि क्यों नहीं दे देते हैं तथा सर्वत्र सभी जीवों को उचित समय पर उनकी इच्छानुसार समुचित आहार क्यों नहीं देते हैं! और वे ही क्[illegible]वत् अनभिज्ञ सरल शिशु को दूषित दूध पीने में प्रवृत्त कराकर उसके जीवन का अन्त क्यों करा देते हैं! तथा विज्ञ मानवों को भी वे कदाचित् असाधु कर्म कराकर दुःख क्यों दे देते हैं! अन्तर्यामी रूप से वे ही (ईश्वर ही) प्रत्येक कर्म करने में जीवों को प्रेरणा देते हैं! अतः इसका समाधान करने के लिए पूर्वजन्म को स्वीकार करके यह कहना होगा कि परमेश्वर जीवों को पूर्वजन्म में किये गये कर्मों से उपार्जित धर्म तथा अधर्म के अनुसार ही साधु और असाधु (भला और बुरा) कर्म कराते हैं और उन कर्मों का फल दे रहे हैं।

सब जीवों के विभिन्न देह की सृष्टि भी उनके पूर्वजन्म कृत कर्मों के फ-

स्वरूप धर्म तथा अधर्म के कारण ही होती है। इसीलिये महर्षि गौतम ने भी बाद में कहा है—'पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः' ३।२।६०। अर्थात् पूर्वजन्म के विचित्र कर्मों के फल के बिना जीवों के विलक्षण शरीर की सृष्टि नहीं हो सकती। सभी व्यक्ति सब समय में अपनी इच्छा के अनुसार जन्मलाभ नहीं कर सकते। अनन्त जीवों का असंख्य विचित्र जन्मों का होना और तन्मूलक अनन्त विचित्र अवस्थाएँ किसी दूसरे प्रकार से उत्पन्न नहीं हो सकती। महर्षि गौतम ने आगे चलकर विचारपूर्वक पूर्वोक्त वैदिक सिद्धान्त का समर्थन करके उसके द्वारा भी आत्मा की नित्यता का समर्थन किया है। क्योंकि अवश्य जीवों की नाना विचित्र सृष्टियों के कारण के रूप में प्राक्तन कर्मफल अवश्य मानना होगा और तदनुसार यह भी अवश्य मानना होगा कि सभी जीवों ने अनादिकाल से अपने कर्मों के फलस्वरूप बहुतबार मानवजन्म प्राप्त करके शुभ एवं अशुभ कर्म किये हैं एवं करते हैं। इसलिए सभी जीवात्माएँ अनादिकाल से विद्यमान हैं—यह भी मानना होगा। अतः सभी जीवात्माओं की नित्यता ही माननी पड़ती है। क्योंकि अनादि भाव पदार्थों की जैसे उत्पत्ति नहीं होती है वैसे ही विनाश के किसी कारण के नहीं रहने पर कभी विनाश भी सम्भव ही नहीं है। यह मैंने पहले ही कहा है कि जीवों का जन्म प्रवाह या जगत की सृष्टि का प्रवाह अनादि है।

परन्तु यह भी प्रणिधानपूर्वक समझना आवश्यक है कि कर्म के अभ्यास के बिना कोई भी जीव किसी कर्म को नहीं कर सकता। सभी जीव अपने अभ्यास के अनुसार ही नाना कर्मों को करते हैं। अतः यह भी मानना होगा कि सभी जीव पूर्वजन्म के अभ्यास से ही नाना विचित्र कर्मों को करते हैं। अन्यथा जीव को कर्म विशेष के प्रति अधिक अनुराग और बाल्यावस्था में उस कर्म में अधिक प्रवृत्ति भी कदापि सम्भव नहीं है। और जितने मनुष्य अनादि काल से अपनी इच्छा से ही स्वभावतः भला कर्म करते हैं वह भी उनके पूर्व-जन्म के अभ्यास से ही करते हैं। पिता को अध्ययन में अनुराग नहीं रहने से कुछ भी विद्या प्राप्त नहीं है किन्तु पुत्र स्वभावतः अपनी इच्छा से ही सदा अध्ययन में निरत रहता है। और यह भी देखा जाता है कि कृपण के बालक पुत्र भी हमेशा दान के लिए मुक्तहस्त रहता है। इसके भी बहुत दृष्टान्त हैं कि माँ बाप के हजारों तिरस्कार एवं कठोर बाधाओं को सहकर भी भाग्यवान् पुत्र निरन्तर तपस्या तथा भगवद्भजन में निरत रहता है। किन्तु ऐसा क्यों होता है ? क्यों वे लोग उस तरह से अध्ययन, दान तथा तपस्या करते हैं ? सभी मानव समानरूप से उन सब साधु (अच्छा) कर्मों को ही क्यों नहीं करते हैं ?

शास्त्र में विश्वास रखनेवाले भारतीय पूर्वाचार्य इन प्रश्नों का उत्तर कह गये हैं—

'जन्म जन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः
तेनैवाभ्यासयोगेन तच्चैवाभ्यसते नरः ॥

(भामती टीका में—२।१।३४। वाचस्पति मिश्र के द्वारा उद्धृत वचन)

वास्तव में यही सत्य है। कि—जन्म जन्म में मनुष्य को जिस तरह का दान, अध्ययन एवं तपस्या आदि साधु (अच्छे) कर्मों का और हिंसा आदि बुरे कर्मों का अभ्यास रहता है, उसी अभ्यास से मनुष्य तदनुरूप कर्म करने के लिए बाध्य हो जाता है। श्री भगवान् ने भी इस महासत्य को प्रकाश करने के लिये अर्जुन से कहा था—'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः' ६।४४। (गीता)। शिशुपाल ने पूर्व पूर्व जन्म की तरह संसार को पीड़ित किया था। शिशुपालवध काव्य में इसके कारण को व्यक्त करते हुए महाकवि माघ ने कहा है—'सती च योषित् प्रकृतिश्च निश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि' १।७२।[1] अर्थात् साध्वी स्त्री और निश्चल प्रकृति जन्मान्तर में भी उसी पुरुष को प्राप्त होती है। पूर्व-पूर्व जन्मों के अभ्यासजनित संस्कार से ही शिशुपाल की उस तरह की प्रकृति या स्वभाव था—यही कवि को विवक्षित है। फलित कथन यह है कि प्राक्तन संस्कार के बिना जीवों की विचित्र प्रकृति या कर्म प्रवृत्ति भी कदापि सम्भव नहीं हो सकती। इसलिए जीवों की नाना प्रकारों की प्रकृति या प्रवृत्ति और तन्मूलक नाना प्रकार के कर्मों के द्वारा भी प्राक्तन संस्कार अनुमान से सिद्ध होता है। प्राक्तन संस्कार उसके फल से अनुमेय है—यह सिद्धान्त बहुत दिनों से ही भारत में सुप्रतिष्ठित है। अतएव महाकवि कालिदास ने रघुवंश के प्रथम सर्ग में महामना दिलीप के राजोचित सत्प्रवृत्तियों का वर्णन करते हुए उस सुप्रसिद्ध सिद्धान्त को दृष्टान्त के रूप में ग्रहण किया है—'फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव' १।२०। जीवों के वास्तव में प्राक्तन कर्म जब स्वीकरणीय है तब जन्मान्तरवाद को अस्वीकार करने का कोई उपाय ही नहीं है। अतः यह हम लोगों का सर्वशास्त्रसम्मत है। जीवों के प्राक्तनकर्म और जन्मान्तर—इन दोनों महासत्यों का दृढ़भित्ति के ऊपर हम लोगों के सनातनधर्म का मंगलमय महामण्डल सुप्रतिष्ठित है। तब प्रश्न यह होता है कि पूर्वजन्मानुभूत

---

[1] इस श्लोक में सतीव योषित् प्रकृतिः सुनिश्चला' यह पाठ मल्लिनाथ का है। किन्तु साहित्यदर्पण के दसवें परिच्छेद में विश्वनाथ कविराज ने—'सती च योषित् प्रकृतिश्च निश्चला' इस तरह के पाठ का उल्लेख करके इस श्लोक में दीपक अलङ्कार का उदाहरण दिखाया है। इस पाठ में दो चकार से सती स्त्री और निश्चला प्रकृति—इन दोनों का समान प्राधान्य ज्ञात होता है। किन्तु यहाँ सती स्त्री के साथ शिशुपाल की आसुरी प्रकृति की उपमा भी कवि का अभिप्रेत करके प्रतीत नहीं होती है।

सभी विषयों का स्मरण क्यों नहीं होता है। हम पूर्वजन्म में कौन थे ? कहाँ, किस रूप में थे ? इत्यादि किसी विषयों का स्मरण हमें क्यों नहीं होता है ? इसके उत्तर में मैंने पहले ही कहा है कि जीव को जिस जन्म का जिस विषय का जो प्राक्तन संस्कार उद्बुद्ध होता है उसी विषय का उस समय में उसको स्मृति होती है। उद्बुद्ध संस्कार ही स्मृति के प्रति कारण है। जो संस्कार अभिभूत रहते हैं व किसी स्मृति का उत्पादन नहीं कर सकते हैं। संस्कार के रहने पर सभी विषयों की स्मृति सर्वदा होगी ही—ऐसा कोई नियम नहीं कहा जा सकता। क्या हम इस जन्म में भी जो कुछ अनुभव करते हैं उन सभी विषयों का सर्वदा स्मरण करते हैं ? परन्तु गुरुतर रोग के कारण कितने परिचित व्यक्तियों को एवं कितने परिज्ञात विषयों को भी मनुष्य भूल जाता है। पीछे वही व्यक्ति उन सभी विषयों का स्मरण भी करता है। ऐसे जीवों की मृत्यु होने पर वह मृत्यु ही उसके बहुत से सुदृढ़ संस्कारों को अभिभूत कर देती है।[1]

किन्तु पूर्व जन्म अथवा देहान्तर की प्राप्ति होने पर बहुत से प्राक्तन संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं। जो संस्कार को उद्बुद्ध करता है उसे संस्कार का उद्बोधक कहते हैं। ये उद्बोधक बहुत प्रकार के होते हैं। महर्षि गौतम ने न्याय दर्शन के। ३।१।४१। सूत्र में स्मृति के कारण संस्कार के उन सभी उद्बोधकों का उल्लेख किया है उनमें सबसे अन्त में धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट का भी उल्लेख किया है।[2] क्योंकि कितने स्थलों में जीवों का अदृष्ट विशेष भी उसके संस्कार विशेष का उद्बोधक होता है। जैसे नवजात शिशु की जीवनरक्षा के लिए उसका अदृष्टविशेष ही उसमें पहले पीये हुए के विषय में

---

१ गर्भोपनिषद में ... वर्णित है कि नवम मास में जीव माँ के गर्भ में रहकर योनियों की तथा पूर्व-पूर्व जन्मों का स्मरण करता है और पश्चात्ताप करते हुए सोचता है कि इस बार यदि इस योनि से मुक्ति मिलेगी, तो सनातन ब्रह्म का ध्यान करेंगे। किन्तु भूमि गिरते ही वैष्णवी माया से मूर्छित होकर इन सब बातों को भूल जाता है। गर्भोपनिषद की इस चर्चा के अनुसार शास्त्र में विश्वास करने वाले साधक रामप्रसाद ने गाया था।

'छिलाम गर्भेयखन योगी, तखन भूमे पड़े खेलाम माटी'॥ (जब गर्भ में था तब योगी था, भूमिष्ठ होते ही मिट्टी खायी अर्थात् सब भूल गया)।

२. प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्व क्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः।—(न्यायदर्श०)।

प्राक्तन संस्कार का उद्‌बोधक होता है। ऐसे ही जहाँ दूसरा कोई उद्‌बोधक नहीं मिलता है किन्तु संस्कार का उद्‌बोधन होता है वहाँ भी अदृष्ट विशेष को ही संस्कार के उद्‌बोधक के रूप में समझना पड़ेगा।

फलित कथन यह है कि इस जन्म में अनुभूत कितने विषयों का संस्कार रहने पर भी उद्‌बोधक के अभाव में वह संस्कार सर्वथा उन विषयों का स्मरण नहीं कराता है। ऐसे ही अनगिनत प्राक्तन संस्कारों के रहने पर भी उद्‌बोधक के अभाव में उद्‌बुद्ध नहीं होने से वे संस्कार उन सब विषयों का स्मरण नहीं कराते हैं। किन्तु यह सत्य है कि बहुत से प्राक्तन संस्कार समय पर उद्‌बुद्ध होकर पूर्वजन्मानुभूत कितने विषयों का स्मरण कराता है। इस विषय में कितने ही उदाहरण कहे जा चुके हैं।

यह बात बहुत लोग जानते हैं कि समय विशेष पर किसी अपरिचित व्यक्ति को देखकर ही उसी समय उसके प्रति किसी को अ २ ? प्रीति होती है। कितने समय के सुपरिचित परम आत्मीयों की तरह उसके साथ व्यवहार करने की इच्छा होती है। उसे छोड़ने की इच्छा नहीं होती है। उसका उपकार करने के लिए उत्कट प्रवृत्ति होता है। यह केवल मनुष्यों में ही नहीं होती है अपितु पशुओं में भी ऐसा होता है—यह सत्य है। किन्तु ऐसा क्यों होता है? भारत के चिन्तनशील प्राचीन मनीषीगण शास्त्र पर विश्वास करते हुए समझते हैं कि इन सब स्थलों में व्यक्ति को उस दृष्ट व्यक्ति के प्रति पूर्व जन्म की आत्मीयता की स्मृति होती है। तब उस विषय में उसका प्राक्तन संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाता है। उस दृष्ट व्यक्ति की पूर्ण स्मृति न होने पर भी सामान्यतः यह मेरा प्रिय है तथा आत्मीय है—इस तरह की अस्पष्ट स्मृति अवश्य होती है। कितने समय में तो उसी दृष्ट व्यक्ति को मनुष्य अपना भाई तथा पुत्र समझ लेता है। ऐसे ही कदाचित् किसी को देखकर व्यक्ति सहसा अप्रसन्न हो जाता है उसे घोर शत्रु समझता है और अकस्मात् उसके साथ झगड़ा हो जाता है। उसके साथ सम्बन्ध छोड़ने के लिए तथा उसका अपकार करने के लिए भी उत्कट प्रवृत्ति होती है—यह बात भी प्रायः सभी लोग जानते हैं। यहाँ यह मानना होगा कि उस दृष्ट व्यक्ति के साथ पूर्वजन्म की शत्रुता की अस्पष्ट स्मृति उस व्यक्ति को उत्पन्न होती है। अन्यथा उस दृष्ट व्यक्ति के प्रति ऐसा स्थिति या व्यवहार संभव नहीं है।

यह भी प्रायः सभी जानते हैं कि अवसर में किसी स्थान में किसी सुदृश्य को देखकर अथवा सुमधुर सङ्गीत को सुनकर सुखी व्यक्ति भी अकस्मात् अत्यधिक उत्कण्ठित हो जाता है।

किन्तु ऐसा क्यों होता है? इस विषय को प्रत्येक व्यक्ति सोचता नहीं है। भारत के पुरातन विद्वान् सोचकर इसका कारण कह गये हैं कि ऐसे स्थल में उस समय में वह व्यक्ति अवश्य ही किसी के साथ पूर्व जन्मों का सौहार्द स्मरण करता है। भारत के अमर कवि कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक के पाँचवें अङ्क में इस महासत्य की घोषणा करते हुए कहा है—

> 'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
> पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
> तच्चेतसा स्मरति नून मबोध पूर्वम्
> भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥'[1]

इन्दुमती को स्वयम्वर सभा में समागत हजारों राजाओं के बीच में इन्दुमती ने अज राजा को ही क्यों वरण किया? इसका समर्थन करते हुए महाकवि कालिदास रघुवंश में कहते हैं—'मनाहिजन्मान्तर सङ्गतिज्ञम् (७।५)। मन ही जन्मान्तर का संबन्ध समझ सकता है। इन्दुमती को राजा अज के दर्शन के बाद, उनके साथ पूर्व जन्म के सम्बन्ध के विषय में सुसंस्कार प्रबुद्ध होकर उसका स्मरण कराता है।

कितने व्यक्ति प्रश्न करते हैं कि किसी को किन्हीं उपायों से कदाचित् पूर्व जन्म के सभी विषयों की स्मृति होती है? क्या यह संभव है? हम दृढ़ विश्वासपूर्वक कहते हैं कि अवश्य ही संभव है। क्योंकि भगवान् मनु ने कहा है—

> 'वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च।
> अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम्॥ (मनुस्मृति ४।१४८)

अर्थात् सतत वेदाभ्यास, शौच, तपस्या और सभी भूतों के प्रति अहिंसा के द्वारा मनुष्य अपने पूर्वजन्म में अनुभूत विषयों का स्मरण करता है। जिनको पूर्वजन्म का स्मरण होता है उन्हें शास्त्र में 'जातिस्मर' कहते हैं।

प्राचीन समय में अनेक योगी तथा तपस्वी 'जातिस्मर' हो गये हैं। पुराण और इतिहास में 'जातिस्मर' की अनेक कथाएँ वर्णित हैं। महातपस्वी जड़ भरत को मृगजन्म प्राप्त होनेपर भी उसी समय पूर्वजन्म की स्मृति उत्पन्न हुई थी। और मृगजन्म के बाद ब्राह्मण कुल में जन्म प्राप्त होने पर ब्राह्मण मृग जन्म के सभी विषयों का स्मरण उनको हुआ था। ये सारी बातें श्रीमद् भाग-

---

१. कितने रम्य वस्तुओं को देखकर तथा मधुर शब्दों को सुनकर सुखी व्यक्ति भी उत्कण्ठित हो जाता है। तो निश्चय ही वह जन्मान्तर के स्वाभाविक प्रेम का स्मरण करता है। (अनुवादक) इति—

वत के पञ्चम स्कन्ध के आठवें तथा नौवें अध्याय का पाठ करने से स्पष्ट ज्ञात होती हैं। योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि भी स्पष्ट कहते हैं—'संस्कार साक्षात् करणात् पूर्वजाति विज्ञानम्'—३।१८। (पातञ्जल योगसूत्र)। पूर्व जन्म के उन सब अनुभवजन्य संस्कार तथा शुभ एवं अशुभ कर्मजन्य धर्माधर्मात्मक संस्कार—इन दोनों प्रकारों के संस्कार के प्रत्यक्ष होने से पूर्वजन्मों का विशेष ज्ञान होता है। योगी अपनी योगशक्ति के बल पर उन सभी संस्कारों को चित्त में 'धारणा' कर रखते हैं। पीछे, उनकी वही धारणा 'ध्यान' रूप में परिणत हो जाती है। इसके बाद वही ध्यान 'समाधि' रूप में परिणत होता है। उन सब संस्कारों के ऊपर सुदीर्घकाल तक योगी की धारणा, ध्यान तथा समाधि के फलस्वरूप उनको (योगी को) उन सब अतीन्द्रिय संस्कारों का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है।

अतः उस समय में जिस देश में जिस काल में तथा जिन कारणों से उनको ये सब संस्कार उत्पन्न हुए थे उस देश तथा काल आदियों का भी अलौकिक प्रत्यक्ष अवश्य होता है। इसलिए योगी पूर्वजन्मों में किस तरह से कहाँ रहते थे—इन सभी बातों को जान सकते हैं। योगियों के लिए यह सब कुछ असम्भव नहीं है। योगदर्शन में भाष्यकार व्यासदेव इसका समर्थन करते हुए भगवान् आवट्य तथा जैगीषव्य का संवाद प्रकाश कर गये हैं। महर्षि जैगीषव्य ने भगवान् आवट्य से दश महाकल्पों के अपने जन्म-परम्पराओं के ज्ञान का वर्णन किया था। संसार में सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है, सर्वत्र जन्म तथा सांसारिक सुख आदि सभी दुःखमय हैं—यह भी उन्होंने कहा था।

वास्तव में, ऋषिगणों के लिए यह परीक्षित सत्य है कि प्राचीन समय में साधना विशेष के फल के रूप में कितने योगियों को जातिस्मरत्व प्राप्त था। इसलिए मनु आदि ऋषिगण इस सत्य को प्रकाश करते हुए इसका उपाय भी कह गये हैं। आधुनिक समय में भी गौतम बुद्धदेव ने बोधिवृक्ष के नीचे सम्बोधि लाभ करके अपने अनेक जन्मों की वार्ताएं कही थीं—बौद्ध सम्प्रदाय के जातक ग्रन्थों में यह विशेष रूप से वर्णित है। इसमें सन्देह नहीं कि अभी भी कितने 'जातिस्मर' योगी जीवित हैं, किन्तु हमलोग उन्हें नहीं जानते हैं। समय समय पर किसी किसी देश में जातिस्मर का समाचार अभी भी सुना जाता है। अवश्य सभी जातिस्मरों ने ही अपने समस्त पूर्वजन्मों के सभी विषयों को स्मरण किया था ऐसी बात नहीं है। जिस साधना से जिस व्यक्ति के पूर्व जन्म के जो संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं उन सब संस्कारों के उन सब विषयों का ही स्मरण होता है।

परन्तु यह भी सभी के द्वारा मानने योग्य है कि कितने साधारण मनुष्य को भी ध्यान के द्वारा क्रमशः कितने विस्मृत विषयों का भी स्मरण होता है। समय पर हमलोगों में भी ऐसा हो जाता है कि किसी व्यक्ति को देखकर आपाततः मन में होता है कि इसको मैंने कहीं देखा था। किन्तु कहाँ देखा था? तथा इसका क्या परिचय है?—इत्यादि कुछ भी मन में नहीं आता है। पीछे उसी विषय का एकाग्र चित्त से ध्यान करने पर क्रमशः थोड़ा थोड़ा मन में आ जाता है तथा बहुत समय में दीर्घकाल उस चिन्तित विषय का पूरा स्मरण हो जाता है। इस तरह से जो योगी अपने प्राक्तन संस्कार के बल पर ही दीर्घकाल तक ध्यान करने में समर्थ हैं, एवं उनका ध्यान समाधि रूप में परिणत हो जाता है, वह यदि समय पर अपने सभी प्राक्तन संस्कारों का प्रत्यक्ष करें, तो यह असंभव हो नहीं सकता।

अभी वक्तव्य यही है कि पूर्वोक्त नाना युक्तियों से दीर्घकाल तक आत्मा देह आदि से भिन्न है एवं नित्य है—इस सिद्धान्त के मनन से पूर्वजात 'श्रवण' रूप ज्ञान जन्य संस्कार दृढ़ होता है। इसके बाद शास्त्रोक्त उपाय से आत्मा के ध्यान करने से समय पर वही 'मुमुक्षु' = (मोक्ष के इच्छुक) योगी उसरूप से ही अपने आत्मा का स्वरूप दर्शन करता है। किन्तु चित्तशुद्धि अथवा वैराग्य के बिना मुक्तिलाभ का अधिकार ही किसी को नहीं होता। अतएव मुक्ति का अधिकार प्राप्त करने के लिए पहले, बहुत कर्तव्य है। इस विषय में महर्षि गौतम की बातें पहले ही (पृष्ठ में) कहा जा चुकी हैं।

वैशेषिक दर्शन में महर्षि कणाद ने भी कहा है—'आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यात' ६।२।१६। पहले ही कहा गया है कि सभी आत्मकर्मों के निष्पन्न होनेपर मुक्ति की प्राप्ति होती है। 'उपस्कार'कार महामनीषी शङ्कर मिश्र ने इस सूत्र की व्याख्या में कणादोक्त 'आत्मकर्मसु' इस बहुवचनान्त पद के द्वारा 'मुमुक्षु' के कर्तव्य रूप में श्रवण मनन आदि तथा शम आदि सम्पत्ति सहित ईश्वर साक्षात्कार एवं आत्मसाक्षात्कार का भी वर्णन किया है। पहले ही मैंने कहा है कि परमात्मा ईश्वर के साक्षात्कार के बिना मुमुक्षु को मुक्तिलाभ का चरम कारण आत्मसाक्षात्कार नहीं होता है। अतः ईश्वर के साक्षात्कार के लिए पहले उस परमात्मा का भी श्रवण और बाद में मनन करना चाहिए। अतः न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय के आचार्यों ने परमात्मा ईश्वर के मनन रूप उपासना के लिए ईश्वर के विषय में बहुत अनुमान भी प्रदर्शित किए हैं। महानैयायिक उदयनाचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् के 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्य' इत्यादि श्रुतिवाक्य में 'आत्मन्' शब्द से परमात्मा को ही

ग्रहण किया है। श्रवण के बाद अनुमान से परमात्मा का मनन करके पीछे दर्शन के लिए ध्यान आदि करना चाहिए—इस विषय में उन्होंने स्मृति वचन भी उद्धृत किया है[1]। इसलिए ईश्वरानुमान के लिए नैयायिकों के बहुत अधिक विचार भी शास्त्रमूलक ही हैं, जो शास्त्र में विहित ईश्वर के मनन में सहायक होते हैं।

परब्रह्म से जीवात्मा तत्त्वतः अवश्य ही अभिन्न है—इस मत में ब्रह्म साक्षात्कार ही मुमुक्षुओं के लिए आत्मसाक्षात्कार है। किन्तु कणाद तथा गौतम के मत में मुमुक्षुओं को ब्रह्मसाक्षात्कार होने के बाद तज्जन्य आत्मा का साक्षात्कार होता है और वही संसार के मिथ्याज्ञान आदि समीकारण की निवृत्ति के द्वारा मुक्ति का चरम कारण होता है। क्योंकि कणाद तथा गौतम द्वैतवादी हैं। इन लोगों के मत में जीवात्मा और परमात्मा वस्तुतः भिन्न है। परवर्ती अध्याय में इसको समझाने के लिए चेष्टा की जायेगी।

इति पाँचवाँ अध्याय

---

१. श्रुतो हि भगवान् बहुश श्रुति स्मृतीतिहास पुराणादिषु इदानीं मन्तव्यो भवति। 'श्रोतव्यो मन्तव्य' इति श्रुतेः। 'आगमेनानुमानेनध्यानाभ्यासरसेन च। त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योग मुत्तमम्।' इति स्मृतेश्च॥ कुसुमाञ्जलि, प्रथमस्तबक॥

छठा अध्याय

कणाद और गौतम द्वैतवादी हैं

कुछ दिन पहले कोई कोई सुविख्यात पण्डित भी इस तरह की बात लिख गये हैं कि कणाद और गौतम मुनिका भी अद्वैत मत में ही चरम तात्पर्य है—यह समझना चाहिए। व्याख्याकारगण भिन्न रूप से उन लोगों के मत का व्याख्या करने पर भी किसी किसी सूत्र से ज्ञात होता है कि अद्वैत मत ही उन लोगों का अपना सिद्धान्त है। लेकिन यह कोई नयी बात नहीं है। क्योंकि काश्मीर निवासी सदानन्द यति ने भी अपनी 'अद्वैत ब्रह्म सिद्धि' नामक पुस्तक में सभी मुनियों के सिद्धान्तों का समन्वय करने के लिए कहा है कि[1] उनके सिद्धान्तों के प्रतिपादन करने वाले सभी मुनियों को अद्वैत मत में ही अन्तिम तात्पर्य है—ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि सर्वज्ञता के कारण वे लोग भ्रान्त नहीं थे।

किन्तु बाह्य दृष्टितत्पर स्थूलदर्शी व्यक्तियों को एकाएक अद्वैत मार्ग में प्रवेश असम्भव है। इस लिए वे लोग भिन्न भिन्न तरह से द्वैत मत प्रतिपादक नाना दर्शनशास्त्रों का भी प्रकाश कर गये हैं। इन शास्त्रों के द्वारा स्थूलदर्शी बाह्य दृष्टितत्पर व्यक्तियों के नास्तिक्य की निवृत्ति करना ही उन लोगों का उद्देश्य था किन्तु उन दर्शनों में उपदिष्ट द्वैतवाद सिद्धान्त रूप में उन लोगों को विवक्षित नहीं था। उन लोगों का भी अद्वैतवाद ही सिद्धान्त है।

सदानन्द यति की तरह मधुसूदन सरस्वती ने भी महिम्नःस्तोत्र के—'त्रयी साङ्ख्य योग,'—इत्यादि श्लोक की व्याख्या में प्रस्थान भेद से वेद आदि सभी शास्त्रों का वर्णन करके अन्त में सभी शास्त्रों का समन्वय दिखाने के लिए कहा है कि अद्वैत सिद्धान्त में ही सभी शास्त्रों का अन्तिम तात्पर्य है। किन्तु पहले पहल अद्वैत मार्ग में सभी व्यक्तियों का प्रवेश असम्भव है। इस लिए विशेष विशेष अधिकारियों के लिए भिन्न भिन्न शास्त्रों में भिन्न भिन्न मतों का

---

1 'सर्वेषां प्रस्थान कर्तॄणां मुनीनाम् विवर्तवादएव पर्यवसानेना-द्वितीये परमेश्वर एव वेदान्त प्रतिपाद्ये तात्पर्यम्। नहि ते मुनयो भ्रान्तास्तेषां सर्वज्ञत्वात्—किन्तु बहिर्मुख प्रवणानामापाततः परम पुरुषार्थे अद्वैत मार्गे प्रवेशो न सम्भवतीति नास्तिक्य निवारणाय तैः प्रस्थान भेदाः दर्शिताः—नतु तात्पर्येण'—
—'अद्वैत ब्रह्मसिद्धि, प्रथम मुद्गर' ।।

उपदेश है। महामनीषी मधुसूदन सरस्वती ने गौतम आदि ऋषियों के किसी सूत्र को लेकर उनको अद्वैतवादी के रूप में सिद्ध करने के लिए चेष्टा नहीं की है। किन्तु सदानन्द यति ने इसी उद्देश्य से अन्त में गौतम के दो सूत्रों को उद्धृत किया है और नव्य वैयाकरण नागेश भट्ट ने भी उस सूत्र को उद्धृत करते हुए कल्पना के बल पर कहा है कि अद्वैत मत ही महर्षि गौतम का सम्मत है। ये सारी बातें आगे कही जाएँगी।

परन्तु यहाँ पहले यह कहना आवश्यक है कि उपर्युक्त ढंग से सभी शास्त्रों के समन्वय की व्याख्या से सभी सम्प्रदायों के चिरकालिक विवादों की निवृत्ति की आशा नहीं है। क्योंकि प्रत्येक संप्रदाय अपने अभीष्ट मत को ही प्रकृत सिद्धान्त कह कर अन्य सभी आय मतों का उपर्युक्त कोई उद्देश्य कह सकता है।

सदानन्द यति से पहले न्यायसांख्याचार्य विज्ञान भिक्षु ने 'सांख्य प्रवचन भाष्य' के आरम्भ में अपने मतों को ही प्रकृत सिद्धान्त कह कर उसके विरुद्ध सभी न्यायवैशेषिक आदि शास्त्रों के मतों का पूर्वोक्त उद्देश्य प्रतिपादित किया है। किन्तु क्या उनकी इस तरह की समन्वयात्मक व्याख्या अन्य संप्रदाय वाले स्वीकार करते हैं? या कदाचित् स्वीकार भी करेंगे?

सदानन्द यति ने भी अपने सिद्धान्तों के समर्थन के लिए 'विज्ञान भिक्षु' के द्वारा उद्धृत किसी वचन का उद्धरण देकर उनके अभिमत समन्वयात्मक व्याख्या को स्वीकार नहीं किया है। क्योंकि विज्ञानभिक्षु ने सदानन्द यति के अभिमत अद्वैत सिद्धान्त को प्रकृत सिद्धान्त कह कर स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने अद्वैत मत का प्रतिवाद ही किया है।

फलित कथन यह है कि जब प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय अपने आचार्य के द्वारा कहे गये मतों को प्रकृत सिद्धान्त कह कर मानता है, तब उपरोक्त रीति से सभी दर्शनों का समन्वय दिखाना व्यर्थ है। इस लिए भगवान् शंकराचार्य ने भी इस तरह से समन्वय की व्याख्या नहीं की है। किन्तु वेदान्तदर्शन के प्रथम सूत्र के भाष्य में आत्मा के स्वरूप के विषय में उनके मतों को दिखाने के लिये द्वैतवादियों के सिद्धांत को भी उद्धृत किया है। आगे जाकर आत्मा के प्रसंग में कपिल तथा कणाद आदि के द्वैत मत को स्पष्ट करके अद्वैत सिद्धांत को प्रतिष्ठित करने के लिए सभी आर्यमतों का प्रतिवाद किया है। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीमान् वाचस्पति मिश्र ने कणाद तथा गौतम के सिद्धांत की व्याख्या करने के समय में उन लोगों के द्वैतमत की ही व्याख्या की है। परन्तु उन्होंने न्याय-वार्तिक की तात्पर्य टीका में गौतम के किसी किसी सूत्र के द्वारा अद्वैत मत

का खण्डन भी किया है।[1] यहाँ वाचस्पतिमिश्र का केवल इतना प्रतिपादन करना ही उद्देश्य है कि गौतम अद्वैतवादी नहीं है। अन्यथा वहाँ उनके द्वारा गौतम के इस तरह के तात्पर्य वर्णन में कुछ प्रयोजन मालूम नहीं होता है।

परन्तु वेदान्त दर्शन के चौथे सूत्र के भाष्य में जहाँ आचार्यशंकर ने किसी अंश में अपने सिद्धांत का समर्थन करने के लिए गौतम के न्याय दर्शन के—'दुःख जन्म'–इत्यादिद्वितीय सूत्र को आचार्य प्रणीत कहकर सम्मानित करते हुए उद्धृत किया है।[2] भामती टीका में श्रीमद् वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि उक्त स्थल में गौतम सम्मत तत्त्वज्ञान आचार्य शंकर का इष्ट नहीं है। अर्थात् तत्त्वज्ञान के विषय में शङ्कराचार्य ने गौतम के मत को स्वीकार नहीं किया है। क्योंकि गौतम द्वैतवादी हैं। इस लिए इनके मत में अद्वैत ब्रह्मज्ञान तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता है।

वस्तुत महर्षि कणाद तथा गौतम को कदापि हम अद्वैतवादी करके नहीं समझ सकते हैं। क्योंकि अद्वैत मत में—'जीवोब्रह्मैव ना परः' अर्थात् एक ही ब्रह्म प्रत्येक जीव के शरीर में कल्पित जीव रूप से रहता है। इस लिए सभी शरीर में जीवात्मा वास्तव में एक है। किन्तु जीवात्मा की उपाधि = अन्तःकरण प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न रहता है तथा सुख दुःख आदि सभी अन्तःकरण के ही वास्तव धर्म हैं। सुख आदि आत्मा के वास्तविक धर्म नहीं हैं किन्तु आत्मा की उपाधि = अन्तःकरण के धर्म सुख दुःख आदि आत्मा में आरोपित होते हैं। इसी लिए ये सब आत्मा के औपाधिक धर्म कहलाते हैं।

परन्तु कणाद तथा गौतम के मत में जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न है तथा ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख आदि आत्मा के ही वास्तविक धर्म हैं। वे सब अन्तःकरण या मन के धर्म नहीं हैं। अतः कणाद तथा गौतम कैसे अद्वैतवादी कहे जा सकते हैं? शारीरक भाष्य में जीवात्मा तथा उसकी मुक्ति स्वरूप के बारे में कणाद सम्प्रदाय के मत को स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य ने कहा

---

१ न्यायदर्शन के चौथे अध्याय के पहले आह्निक में १९, २० और ४१ सूत्र और उन सूत्रों की तात्पर्यव्याख्या।—इस विषय में द्रष्टव्य है।

२ तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानापाय इत्येतावन्मात्रेण सूत्रोपन्यास न त्वक्षपादसम्मत तत्त्वज्ञान मिह सम्मतम्'।—भामती, १।१।४।

है —कि उनके मत में जीवात्मा प्रत्येक शरीर म भिन्न भिन्न है। इस।ल५ जीवात्मा असख्य तथा स्वभावत अचेतन होते हैं किन्तु अति सूक्ष्म मन से सयोग होन पर उन सब जीवात्माओं में ज्ञान, इच्छा तथा सुख दु ख आदि नौ प्रकारके विशेष गुण उत्पन्न होते हैं। उन सभा विशेष गुणों का आत्यन्तिक उच्छेद हो उनके (न्याय तथा वैशेषिक) मतमें 'मुक्ति' है। बृहदारण्यक भाष्य में (४।३।२०) शङ्कराचार्य ने स्पष्ट कहा है— यथेच्छादीनामात्मधर्मत्वं कल्पयन्तो वैशेषिका नैयायिकाश्च।

अद्वैत मत के प्रतिष्ठाता महामनीषी मधुसूदन सरस्वती ने भी भगवद्गीता का टीका में स्पष्ट कहा है कि वैशेषिक का तरह नैयायिक तथा मीमांसक आदि अनेक सम्प्रदायों क मत में जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न तथा नित्य और विभु माना है। उसमें (जीवात्मा म) ज्ञान, सुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धम अधर्म तथा भावना अर्थात् ज्ञानजन्य संस्कार—ये नौ प्रकार के विशेष गुण रहते हैं। *अद्वैत सिद्धान्तवादी किसी बडे विद्वान् ने भी गौतम और कणाद* को अद्वैतवादी कहने के उद्देश्य से इस तरह की अनेक बातें कही हैं कि उन लोगों ने ज्ञान और सुख आदि आत्मा का धम नहीं है = यह स्पष्ट नहीं कहा है और आत्मा नाना हैं या एक इस विषय में भी गौतम ने कोई स्पष्ट बात नहीं कही है।[3]

---

१ सति बहुत्व विभुत्वे च घटकुड्यादिसमाना द्रव्यमात्रस्वरूपा स्वतोऽचेतना आत्मानस्तदुपकरणानि मनांसि अणूनि अचेतनानि। तत्रात्ममनःसंयोगात् *मनोऽन्यथानुपपत्त्या संयोगजा नवैशेषिका आत्मगुणा उत्पद्यन्ते। ते चाव्यतिरेकेण* प्रत्येक मात्मसु समवयन्ति स ससार। तथा नवानामात्म गुणानाम त्यन्तोच्छेदो मोक्ष इति काणादा। वेदान्त दर्शन २।३।५०। सूत्र शारीरक भाष्यम्।

२. न त्वात्मनो नित्यत्व विभुत्वे न विवदामः प्रतिदेह भेदे तु न सहामहे। *तथाहि बुद्धि सुख दुःखेच्छा द्वेष प्रयत्न धर्मा धर्म भावनाख्यनव विशेषगुणव न्त* प्रतिदेह भिन्ना एव नित्या विभवश्चात्मान इति वैशेषिका मन्यन्ते। एवमेव च पर तार्किक मीमांसकादयोऽपि प्रतिपन्ना'।—भगवद्गीता—द्वितीय अ० १८ श्लोक की व्याख्या।

३ सभी न्याय्या के पारगत पूज्यपाद च द्रशेखर *तर्कालङ्कार महोदय ने लिखा है कि—गौतम तथा कणाद् ने यह स्पष्ट नहीं कहते है कि ज्ञान तथा* सुख आदि आत्मा के धर्म है। आत्मा नित्य ज्ञानस्वरूप या नित्यज्ञान नहीं है—यह भी गौतम तथा कणाद ने नहीं कहा है। टीकाकारों ने यह कहा है।

किन्तु शंकराचार्य और मधुसूदन सरस्वती तथा गौतम के सूत्रों को नहीं देखकर या उन सूत्रों का प्रकृत अर्थ नहीं समझ कर केवल व्याख्याकारों के कथन के अनुसार ही उपरोक्त वे सब बातें कह गये हैं। व्याख्याकारों के वे सब सिद्धान्त तथा उनके वहाँ खण्डनीय ही हैं।

तब शङ्कराचार्य ने शारीरक भाष्य में कणाद् सम्मत 'आरम्भवाद' का खण्डन करने के लिए कणाद् सूत्रों क्यों उद्धृत किया है? कणाद तथा गौतम के किसी सूत्र से अद्वैतमत समझाने पर अद्वैत मत का समर्थन करने के लिये वह भी क्यों नहीं कहा है।

यथार्थ में यह चिरकाल से प्रसिद्ध ही है कि कणाद तथा गौतम द्वैतवादी हैं। उन लोगों के सूत्रों से भी यही ज्ञात होता है। परन्तु इसको समझने के लिए उनके अनेक सूत्रों की पर्यालोचना आवश्यक है। संक्षेप में यह मुश्किल नहीं किया जा सकता है। तथापि आवश्यक समझकर यहाँ कुछ कहा जाता है।

पहले, कहा जा चुका है कि महर्षि गौतम ने ज्ञान तथा इच्छा आदि को जीवात्मा के अपने वास्तव गुण कहा है। उन्होंने (गौतम) जिस स्मृति को अवलम्बन करके देह आदि से भिन्न नित्य आत्मा के अस्तित्व का समर्थन किया है वह स्मृत्यात्मक ज्ञान उनके मत में आत्मा का गुण होने पर ही उत्पन्न होता है। अन्यथा इस (स्मृति) की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है।—'तदात्मगुणत्वसद्भावादप्रतिषेधः' (३।१।१४) इस सूत्र के द्वारा उपरोक्त सिद्धान्त को स्पष्ट कहा है। परन्तु ज्ञान अन्तःकरण अथवा मन का गुण नहीं है—यह भी आगे स्पष्ट कहा है। ज्ञान आत्मा का धर्म है तथा इच्छा आदि मन का धर्म

जैसा कहा गया है उसका ध्यान करने से विद्वान् लोग स्वयं समझ जाएँगे कि न्यायदर्शनकर्ता आदि का मत वेदान्त से विरुद्ध है—ऐसा कहने के लिए कोई विशेष हेतु नहीं है। यह कहा जा सकता है कि वेदान्त मत उन लोगों का मान्य है। किन्तु उन्होंने यह स्पष्ट खुलकर नहीं कहा है कि अन्तःकरण के साथ तादात्म्याध्यासनिबन्धन ज्ञान सुख आदि आत्मा के धर्म के रूप में प्रतीत होते हैं। शिष्य गण तादृश सूक्ष्म विषय को हठात् समझ नहीं सकेंगे इसी विवेचना से उन्होंने (महर्षि गौतम तथा कणाद) इस विषय को अस्पष्ट रूप से रखा है। 'गौतम ने आत्मा के अनेकत्व या एकत्व के विषय में कुछ बात नहीं कही है। फिलोसफि का लेक्चर—५ वाँ वर्ष पृ० १८०।

है—इस मत विशेष का भी खण्डन करके ज्ञान का काय इच्छा आदि ज्ञानाश्रय आत्मा का ही धर्म है—इसका समर्थन किया है।[१]

स्मरणात्मक ज्ञान चिरस्थायी आत्मा का ही धर्म है—इसका समर्थन करते हुए उन्होंने (गौतम) आगे स्पष्ट कहा है—'स्मरणन्त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात्' ३।२।४० । अर्थात् आत्मा ज्ञातृस्वभाव है। ज्ञाता ने ही पहले जाना था और आगे जानेगा तथा वर्तमान काल में भी जानता है। अत त्रिकालिक ज्ञान शक्ति या ज्ञानवत्ता चिरस्थायी ज्ञाता या आत्मा का ही स्वभाव है। अर्थात् ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक धर्म न होने पर भी स्वकीय धर्म, वास्तव धर्म है वह औपाधिक धर्म नहीं है। महर्षि गौतम ने बाद में चौथे अध्याय में प्रति शरीराश्रय वादप्रतिषेध ' ४।१।२१ इत्यादि सूत्रों से स्पष्ट करके कहा है सुख तथा दुःख आत्मा का ही धर्म है। अत उन्होंने अपने सिद्धान्त को अस्पष्ट रखा, खुलकर नहीं कहा है। तथा उनका मत अद्वैत मतके विरुद्ध नहीं है। प्रत्युत *अद्वैत सिद्धान्त उनका भी अभिमत है—ये सब बातें हम किसी भी प्रकार से* समझ नहीं पाते।

महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन के तृतीय अध्याय में पहले ही आत्मपरीक्षा प्रकरण में—एक आत्मा के दृष्ट विषय को अपर आत्मा स्मरण नहीं कर सकता है इस सिद्धान्त के अनुसार देह आदि से भिन्न तथा नित्य आत्मा है—इस सिद्धान्त का समर्थन किया है और स्मरणात्मक ज्ञान को आत्मा का ही धर्म कहा है। इससे यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनके मत में आत्मा एक नहीं है, प्रति शरीर में आत्मा भिन्न भिन्न हैं अतएव अनेक आत्माएँ हैं। प्राचीन नैयायिक न्याय वार्तिककार उद्योतकर भी गौतम के सूत्रानुसार यही कह गये हैं।[२]

यहाँ शङ्का होती है—सभी जीवात्मा विभुव्यापी होने पर सभी जीवदेह के साथ सब जीवात्मा का संयोग सम्बन्ध है। तब अन्यान्य सभी जीवों को सभी *शरीरों में ज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न होता है?* इसके उत्तर में महर्षि गौतम ने

---

१ युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ।' ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः' यथोक्तहेतुत्वात्पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः ' 'परिशेषाद् यथोक्तहेतूपपत्तेश्च । न्यायदर्शन तृतीय अध्याय द्वितीय आह्निक १६-३४-३८-३९ सूत्रों को देखिए ।

२. बहुत्वव्यवस्थानएव—दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' । नान्यदृष्टमन्यः स्मरतीति । 'शरीरदाहे पातकाभावात्' इति सत्र सर्वाव्यवस्था शरीरभेद सम्भवतीति'—न्यायवार्तिक ।

बाद में कहा है—'शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म।' (३।२।६६) तात्पर्य यह है कि प्रत्येक जीव शरीर के साथ प्रत्येक आत्मा का संयोग रहने पर जिस आत्मा के लिए जिस शरीर की सृष्टि उसके अदृष्ट विशेष से हुई है उस शरीर के साथ प्रत्येक आत्मा का विलक्षण संयोग होता है और उसके साथ ही उसके मन का विलक्षण संयोग होता है। उसमें भी वह अदृष्ट विशेष ही निमित्त है। उस अदृष्ट विशेष के द्वारा जिस शरीर के साथ जिस आत्मा का तथा जिस मन का विलक्षण सम्बन्ध होता है वह आत्मा ही तत् शरीरावच्छिन्न कहलाता है। शरीरावच्छिन्न (देहयुक्त) आत्मा में ही ज्ञानादिकी उत्पत्ति होती है। अतः जो आत्मा जिस शरीर से अवच्छिन्न रहता है उसी शरीर के साथ उस आत्मा का सम्बन्ध रहने पर ज्ञानादि की उत्पत्ति होगी। अन्य शरीर के साथ संयोग रहने पर भी वह शरीर उसके अदृष्ट विशेष से प्राप्त नहीं है इसलिए वह आत्मा तत्शरीरावच्छिन्न नहीं है।

अद्वैतवादी सम्प्रदाय गौतम के उक्त रूप उत्तर को स्वीकार न करने पर भी इस सूत्र के द्वारा यह तो अवश्य स्वीकार करना होगा कि गौतम के मत में जीवात्मा आकाश की तरह विभु व्यापी है एवं प्रतिशरीर में भिन्न है। अन्यथा उनका उक्त रूप उत्तर सङ्गत नहीं होता है। भाष्यकार वात्स्यायन ने भी यहाँ गौतम के पूर्वोक्त सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से प्रकाशित करके तदनुसार ही उनके इस उत्तर की व्याख्या की है। परन्तु महर्षि गौतम ने आगे जाकर यह भी विचारपूर्वक समर्थित किया है कि शुभ एवं अशुभ कर्मजन्य धर्म तथा अधर्म मन का गुण नहीं है वह भी आत्मा का ही गुण है। प्रत्येक आत्मा स्वकृत कर्म के फल धर्म तथा अधर्म से अनेक प्रकारों के जन्म प्राप्त करते हैं।

अतएव जो (महर्षि गौतम) प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् आत्मा को कहते हुए आत्मा का वास्तविक भेद स्वीकार करते हैं तथा ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा तज्जन्य सुख दुःख आत्मा का वास्तविक गुण कहते हैं—उन्हें अद्वैतवादी कैसे कहा जा सकता है।

ऐसे ही कणाद सूत्रों के द्वारा भी ज्ञात होता है कि जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न है—यही उनका सिद्धान्त है। यह कैसे समझा जाता है—यह भी यहाँ कहा जा रहा है। परन्तु विशेष ध्यान से समझना पड़ेगा। कणाद ने निम्नलिखित तीन सूत्रों को वैशेषिक दर्शन में यथाक्रम कहा है—'सुखदुःख-

ज्ञान निष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम्' ३।२।१९। 'नानात्मानो व्यवस्थात'[1] ३।२।२०। 'शास्त्र सामर्थ्याच्च' ३।२।२१।

कणाद ने पहले 'सुखदुःख' इत्यादि सूत्र के द्वारा पूर्वपक्ष का समर्थन किया है कि शरीर के भिन्न भिन्न रहने पर भी सब शरीर में आत्मा एक ही है। क्योंकि सभी शरीरों में समान रूप से सुख दुःख तथा ज्ञान की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि जैसे शब्द की उत्पत्ति आकाश में सर्वत्र एक ही रूप से होती है—अतः शब्द का समवायि कारण आकाश एक ही स्वीकृत है उसी तरह से आत्मा में भी सवशरीरावच्छेदेन सुखदुःख आदि की उत्पत्ति होने के कारण आकाश की तरह आत्मा वास्तव में एक ही है। उपाधि के भेद से आकाश के भेद की तरह आत्मा का भी भेद है—किन्तु वह भेद काल्पनिक है। कणाद ने पहले इस पूर्व पक्ष को समर्थन करके अपना सिद्धान्त सूत्र कहा है—'नानात्मानो व्यवस्थात अर्थात् जीवात्मा अनेक हैं, क्योंकि व्यवस्था है। कणाद ने पहले आकाश में एकत्व सिद्ध करने के उद्देश्य से अपना सिद्धान्त सूत्र कहा है—

'शब्दलिङ्गाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्च' २।२।३०। अर्थात् सर्वत्र ही आकाश में शब्द उत्पन्न होता है। अतएव शब्द ही आकाश के साधक हेतु होने से आकाश के साधक हेतु का विशेष नहीं है और आकाश का भेद साधक कोई विशेष हेतु भी नहीं है। अतएव आकाश एक है। किन्तु पूर्वोक्त द्वितीय सूत्र के द्वारा कणाद ने कहा है कि आत्मा का भेदसाधक सुख तथा दुःख आदि का व्यवस्थापक विशेष हेतु रहने के कारण आत्मायें अनेक हैं अर्थात् प्रति शरीर में आत्मा भिन्न भिन्न है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक जीवात्मा में सुख तथा दुःख आदि की उत्पत्ति होने पर भी उन सब की व्यवस्था अर्थात् नियम है। एक व्यक्ति को सुख-दुःख होने पर दूसरे का सुख दुःख नहीं होता है। एक व्यक्ति को सुखी या दुःखी रहने पर सभी लोग सुखी या दुःखी नहीं होते। ऐसे कोई धनी है, कोई दरिद्र है, कोई मूर्ख है कोई पण्डित है—इत्यादि अनन्त प्रकार के जीवात्माओं की अवस्था का जो सर्व सम्मत नियम है—यह भी जीवात्मा के भेद

---

१ प्रचलित वैशेषिक दर्शन' पुस्तक में 'व्यवस्थातो नाना' इस तरह का सूत्र पाठ देखा जाता है। किन्तु 'प्रशस्त पादभाष्य' की न्यायकन्दली टीका में श्रीधरभट्ट ने तथा (उसीकी) सूक्ति टीका में जगदीश ने—'नानात्मानो व्यवस्थात' ऐसा ही सूत्रपाठ को उद्धृत किया है और वही प्रकृत सूत्रपाठ है—ऐसा समझा जाता है। शंकरमिश्र की व्याख्या से उक्त सूत्रपाठ समझा जाता है।

में साधक हेतु होता है। अर्थात् इस नियम से सिद्ध होता है कि जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न रहता है। कारण यह है कि प्रत्येक शरीर में एक ही आत्मा के रहने पर उसके उक्त रूप सुख-दुःख आदि की व्यवस्था या नियम की उपपत्ति नहीं हो सकती है। अतएव कणाद ने कहा है—'नानात्मानो व्यवस्थात'। अवश्य ही आपत्ति हो सकती है कि आत्मा का एकत्व ही शास्त्रसिद्ध होने पर शास्त्रविरुद्ध किन्हीं युक्तियों के द्वारा आत्मा का वास्तव नानात्व सिद्ध नहीं हो सकता है। इसके लिए महर्षि कणाद ने बाद में तृतीय सूत्र कहा है—'शास्त्र सामर्थ्याच्च', अर्थात् शास्त्रों के बल पर भी आत्मा का नानात्व सिद्ध होता है।[1] तात्पर्य यह है कि आत्मा की अनेकता को समझाने के लिए कितने शास्त्र वाक्य भी हैं। जिन वाक्यों से यही समझा जाता है कि आत्मा अनेक हैं यानी प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न हैं। ये शास्त्र वाक्य आत्मा के वास्तविक भेद प्रतिपादन में समर्थ हैं। क्योंकि आत्मा को

---

१. यहाँ ध्यान देना आवश्यक है कि कणाद् के पूर्वोक्त द्वितीय सूत्र के साथ सम्बन्ध करने में 'व्यवस्थातः' 'शास्त्रसामर्थ्याच्च' आत्मानो नाना—इस तरह की व्याख्या ही उनको अभिप्रेत है। क्योंकि कणाद तृतीय सूत्र में 'च' शब्द का प्रयोग करके उक्त सूत्र जो उनके द्वितीय सूत्र में कहे गये सिद्धान्त के समर्थन के लिए ही कहा गया है अर्थात् इस सूत्र के द्वारा आत्मा की अनेकता रूप सिद्धान्त का ही उपसंहार करना है—ऐसा ज्ञात होता है। किन्तु कणाद के उक्त सूत्र में यह तात्पर्य नहीं ज्ञात होता है कि व्यावहारिक दशा में आत्माएँ अनेक हैं किन्तु परमार्थतः एक ही है। इस सूत्र में व्यावहारिक दशा के बोधक किसी शब्द का उन्होंने प्रयोग नहीं किया है। परन्तु द्वितीय सूत्र में 'आत्मानः' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग करके उन्होंने आत्मा की वास्तविक अनेकता ही अपने सिद्धान्त के रूप में व्यक्त किया है—यही समझा जाता है।

किन्तु महामहोपाध्याय पूज्यपाद चन्द्रकान्ततर्कालङ्कार महाशय ने वैशेषिक दर्शनके स्वकृत भाष्य में कणाद को भी अद्वैतवादी कहनेके लिए पूर्वोक्त स्थल में कणाद के पहले 'सुख-दुःख' इत्यादि सूत्र को ही उनका सिद्धान्तसूत्र कहकर द्वितीयसूत्र के द्वारा व्यावहारिक अवस्था में आत्मा नाना है किन्तु परमार्थतः आत्मा एक ही है—इस तरह की व्याख्या की है। और कणाद के उस सूत्र का—जिसके द्वारा आकाश का एकत्व सिद्ध होता है—उल्लेख करके तुल्य युक्ति से आकाश की तरह कणाद के मत में आत्मा भी वस्तुतः एक है—ऐसा कहते हैं। किन्तु कणाद ने आत्मा के भेद साधक विशेष हेतु को दिखाकर आत्मा आकाश की तरह एक नहीं है—यही व्यक्त किया है।

वास्तविक अनेकता ही युक्तिसिद्ध है। परन्तु एकत्व शास्त्रयुक्ति से बाधित है। इसलिए एक भी शास्त्रवाक्य आत्मा के एकत्व प्रतिपादन में समर्थ नहीं है। महर्षि कणाद ने उक्त सूत्र में योग्यताबोधक सामर्थ्य शब्द का प्रयोग करके सूचित किया है कि अर्थ की वास्तविक योग्यता का ज्ञान—यथार्थ शाब्द बोध का कारण है। इसलिए जो *अर्थ अयोग्य या असम्भव है वह 'शास्त्रार्थ' नहीं* हो सकता है। इसलिए जितने शास्त्र वाक्य आत्मा के एकत्व को प्रतिपादक क रूप से समझे जाते हैं उन वाक्यों का कुछ और ही तात्पर्य है ऐसा समझना पड़ेगा। किन्तु कणाद ने आगे कहा है—'आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरगुणेष्व कारणत्वात्' ६।१।५[१]।

'न्यायकन्दली' टीकाकार श्रीधरभट्ट तथा सूक्ति टीकाकार जगदीश प्रभृति ने कणाद के मत में धर्माधर्म प्रभृति जो जीवात्मा के गुण हैं—उसमें प्रमाण दिखाने के लिए उक्त सूत्र को उद्धृत किया है। श्रीधरभट्ट ने व्याख्या की है *कि दाता के दान से समुत्पन्न धर्म प्रतिग्रहीता का धर्म उत्पन्न करता है*— इस मत को खण्डन करने के लिए ही महर्षि कणाद ने उक्त सूत्र के द्वारा कहा है कि अन्य आत्मा के सुख दु ख आदि गुण अपर आत्मा क सुख दु ख आदि गुणों के प्रति कारण नहीं होने से अन्य आत्मा में समुत्पन्न धर्माधर्म रूप गुण दूसरे आत्मा के धर्माधर्म रूप गुणों के प्रति कारण नहीं होते हैं। किन्तु आगे जाकर शङ्कर मिश्र तथा जगदीश प्रभृति ने उक्त सूत्र के तात्पर्य की सरल रूप से ही व्याख्या की है कि अन्य आत्मा के धर्माधर्म प्रभृतिगुण अपर *आत्मा के सुख दु ख आदि गुणों के प्रति कारण नहीं होते हैं।* कुछ भी व्याख्या हो किन्तु इस सूत्र से स्पष्ट ज्ञात होता है कि कणाद के मत में धर्माधर्म तथा सुख दु ख आदि जीवात्मा के ही गुण हैं तथा जीवात्मा प्रत्येक शरीर में वस्तुत भिन्न भिन्न हैं। उक्त सूत्र में 'आत्मान्तर' शब्द का दो बार प्रयोग होने से भी प्रत्येक जीव शरीर में जीवात्मा का यथार्थभेद ही प्रकटित होता है। अतएव यह अवश्य मानना होगा कि कणाद ने आत्मा का एकत्व प्रतिपादन करने के लिए पूर्वोक्त 'सुख दु ख' इत्यादि सूत्र से पूर्वपक्ष तथा अपर दो सूत्रों

---

१ प्रचलित वैशेषिक दर्शन पुस्तक म 'आत्मान्तरगुणानामात्मा तरेऽकार-णत्वात्' एसा ही सूत्रपाठ है। शङ्कर मिश्र की व्याख्या म भी ऐसा ही *ग्रहण किया जा रहा है।* श्रीधर भट्ट इस सूत्र के उत्तरार्द्ध म—'आत्मा तर-गुणेष्वकारणत्वात्' इस तरह का पाठ उद्धृत किया है इसलिए वही पाठ प्राचीनसम्मत तथा उपयुक्त जान पड़ता है। सूक्तिटीकाकार जगदीश न भी *श्रीधर भट्ट के सूत्रपाठ को ही उद्धृत किया है।*

से उसके एकत्ववाद का खण्डन करके नानात्ववाद अथवा द्वैतवाद को ही सिद्धान्त रूप से समर्थित किया है।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि जिस सूत्र के द्वारा पूर्वपक्ष व्यक्त किया जाता है उसका नाम पूर्वपक्ष सूत्र है। वह पूर्वपक्षात्मक मत सूत्रकार का अपना सिद्धान्त नहीं रहता है। वह उनके द्वारा खण्डनीय मतान्तर है। इसलिए जो सूत्र निःसन्देह पूर्वपक्ष सूत्रों के रूप में समझे जाते हैं उनको भी सिद्धान्त सूत्र के रूप में ग्रहण करने पर अन्यान्य सूत्रों का सामञ्जस्य कदापि सम्भव नहीं है। क्योंकि सूत्रकार का असम्मत अथवा खण्डित मत को भी उनके सिद्धान्त के रूप में ग्रहण करने पर किसी तरह से ही उनके सभी सिद्धान्तों का सामञ्जस्य सम्भव नहीं है। आवश्यक बोध से यहाँ इसका दूसरा एक उदाहरण प्रदर्शित किया जाता है। महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन में दो सूत्र कहे हैं—'स्वप्न विषयाभिमानवत् प्रमाणप्रमेयाभिमानः' ४।२।३१। 'मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा' ४।२।३२—उद्धृत इन दोनों सूत्रों के द्वारा गौतम ने पूर्वपक्ष रूप से मतान्तर प्रकाशित किया है कि जैसे स्वप्न में विषय के नहीं रहने पर भी उन विषयों का अभिमान या भ्रम होता है उसी तरह से प्रमाण और प्रमेय के नहीं रहने पर भी उनका भ्रम होता है। अथवा ऐन्द्रजालिक की माया से दृष्ट विषयों के नहीं रहने पर भी दर्शकों को उन विषयों का भ्रम होता है और मरीचिका में जल नहीं रहने पर भी वहाँ जल का भ्रम होता है। उसी तरह से प्रमाण प्रमेय आदि किसी पदार्थ के वस्तुतः नहीं रहने पर भी यह प्रमाण है, यह प्रमेय है—इस तरह का भ्रम होता है। अर्थात् स्वप्नावस्था के समान जाग्रत अवस्था में भी अनुभूत प्रत्येक विषय असत् है। इसलिए इन विषयों का ज्ञान भी भ्रमात्मक ही है। स्वप्नावस्था के समान सर्वत्र असत् पदार्थों का ही भ्रमात्मक ज्ञान होता है।

इसी मत का खण्डन करने के लिए गौतम ने आगे जाकर पहले सूत्र कहा है—'हेत्वभावादसिद्धिः' ४।२।३३। अर्थात् हेतु के अभाव में केवल दृष्टान्त के द्वारा पूर्वोक्त मत की सिद्धि नहीं हो सकती है। गौतम ने आगे जाकर और कुछ सूत्रों के द्वारा अपने सिद्धान्त को व्यक्त किया है तथा पूर्वोक्त मतों का खण्डन किया है। इससे यह निःसन्देह ज्ञात होता है कि उपर्युक्त दोनों सूत्रों में उनको पूर्वपक्ष ही अभिप्रेत था। सभी व्याख्याकारों ने ऐसा ही समझते हैं।

किन्तु काश्मीरी विद्वान् सदानन्द यति ने 'अद्वैत ब्रह्म सिद्धि ग्रन्थ में गौतम का भी अद्वैत सिद्धान्त ही अभिप्रेत था—इसको सिद्ध करने के लिए अन्त में इनका पूर्वोक्त दो पूर्वपक्षसूत्र भी उद्धृत किये हैं।

५ न्या० प०

उसे देखकर बाद में किसी अद्वैत सिद्धान्तवादी विद्वान् ने इस तरह की बातें लिखी हैं। किन्तु हम इसे एकदम समझ नहीं पाते।[1] क्योंकि सिद्धान्त सूत्र को बिना देखे ही केवल पूर्वपक्ष सूत्रों के द्वारा सूत्रकार के सिद्धान्त की व्याख्या नहीं की जा सकती है। गौतम ने पूर्वपक्ष के रूप में जिस मत को प्रकाश करके बाद में विचारपूर्वक उसका खण्डन किया है वही मत उनका *सिद्धान्त मत—यह किसी भी प्रकार से नहीं कहा जा सकता है।*

परन्तु गौतम के उन दोनों पूर्वपक्ष सूत्रों से कहा गया मत निश्चित रूप से वेदांत का अद्वैत मत ही है—यह हम समझ नहीं पाते। स्वप्न तथा माया आदि के दृष्टांत को देखकर भी यह नहीं समझा जा सकता है। क्योंकि जो *केवल विज्ञान को मानता है उसके मत में ज्ञान से भिन्न ज्ञेय विषय का अस्तित्व नहीं है।* उन्होंने भी स्वप्नादि दृष्टांतों के द्वारा उक्त मत का समर्थन किया है। अद्वैतवादी भगवान् शङ्कराचार्य ने उन लोगों के उक्त मतों का खण्डन करके 'अनिर्वचनीयतावाद' का समर्थन किया है। उनके समर्थित अद्वैत मत में जगत् प्रपञ्च सत् भी नहीं है असत् भी नहीं। सत् या असत् कहकर उसका निर्वचन नहीं किया जा सकता है। किन्तु विज्ञानवादियों के मत में ज्ञान से भिन्न ज्ञेय असत् है। ज्ञान से भिन्न ज्ञेय विषय की सत्ता ही नहीं है। उक्त रूप विज्ञानवाद भी अतिप्राचीन मत है। विष्णुपुराण में (२।१८) भी इस मत का प्रकाश हुआ है। वेदान्तदर्शन में (२।२।२८।२९) उक्त मत का खण्डन हुआ है। भाष्यकार आचार्य शंकर ने वहाँ—'वैधर्म्याच्च नस्वप्नादिवत्' इस सूत्र के द्वारा उक्त मत का खण्डन करने के लिये स्वप्नादिज्ञान एवं जाग्रत *अवस्था के सब ज्ञान बराबर नहीं हैं—यह समझाकर विज्ञानवादियों के द्वारा प्रदर्शित स्वप्नादि जो उनके मत के समर्थन में दृष्टान्त ही नहीं हो सकते हैं*—इसका भी प्रतिपादन किया है। अतः गौतम के द्वारा कहा गया वह मत शङ्कराचार्य का समर्थित अद्वैत मत ही है—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है।

यथार्थ में पूर्वोक्त दो सूत्रों में गौतम ने जिन दृष्टान्तों का उल्लेख करके पूर्वपक्ष के रूप में जिस मत का प्रकाश किया है वह सुप्राचीन विज्ञानवाद है। तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने भी यही कहा है। किंतु महामनीषी नागेशभट्ट ने यह स्वीकार करते हुए भी गौतम को भी अद्वैतवादी कहने के लिए वैयाकरण

---

1. म० म० चन्द्रकान्ततर्कालङ्कार महाशय ने लिखा है कि ये सब सूत्र स्पष्टरूप से वेदान्त मत का अनुवाद करते हैं। अवश्य व्याख्याकारों ने सूत्रों के तात्पर्य को दूसरी तरह से वर्णन किया है। फेलोशिप का लेक्चर पञ्चम-वर्ष ४७ पृ०।

सिद्धान्तमञ्जूषा नामक ग्रंथ में कहा है कि[1] गौतम विज्ञानवाद का खण्डन करने से तथा उक्त स्थल में वाचस्पति मिश्र भी गौतम के सूत्र के द्वारा उस तरह की व्याख्या करने से अनिर्वचनीयतावाद गौतम का सूत्रसम्मत सिद्धांत है—यह अर्थतः व्यक्त होता है। अर्थात् गौतम ने श्रुतिमूलक अद्वैत मत का खण्डन नहीं किया है किंतु विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए अद्वैत मत में ही अपना सम्मति सूचित की है। यहाँ वाचस्पति मिश्र की व्याख्या से भी यही ज्ञात होता है।

किन्तु महर्षि गौतम के पूर्वोक्त विज्ञानवाद के खण्डन से ही कैसे उनकी अद्वैत मत में सम्मति है—यह हम किसी भी प्रकार से समझ नहीं पाते। अन्यान्य अद्वैतवादी आचार्यों ने भी तो विज्ञानवाद का खण्डन किया है। तो क्या इससे उन लोगों को भी अद्वैतवादी कहा जा सकता है? और वाचस्पति मिश्र की व्याख्या से भी यह कैसे समझा जाता है? परन्तु वाचस्पति मिश्र ने अन्यत्र गौतम के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए उनके किसी किसी सूत्र से वेदान्तसम्मत अद्वैतवाद का खण्डन ही किया है—यह भी तो देखना आवश्यक है। सर्वशास्त्रदर्शी नागेश भट्ट ने वह नहीं देखा है—यह मैं कह नहीं सकता।

जो कुछ भी हो, उपसंहार में यह कहना आवश्यक है कि कणाद तथा गौतम के सूत्रों से यह सहज ही में समझा जाता है कि वे अद्वैतवादी नहीं हैं। क्योंकि उन्होंने परमाणु की नित्यता स्वीकार करते हुए 'आरम्भवाद' की ही व्याख्या की है। शङ्कराचार्य ने उक्त मत का खण्डन करते हुए वैशेषिक सम्प्रदाय का मत कहकर उल्लेख करने से गौतम के मत का प्रतिवाद नहीं किया है—यह भी कहा नहीं जा सकता। क्योंकि महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन में *कणाद की अपेक्षा सुस्पष्ट रूप से परमाणु की नित्यता तथा आरम्भवाद का* समर्थन किया है। आगे, आरम्भवाद की व्याख्या के समय में यह दिखाऊँगा। किन्तु वैशेषिक दर्शन में महर्षि कणाद ही पहले आरम्भवाद की व्याख्या करने से उक्त मत पहले वैशेषिक मत या कणाद मत के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। उसी प्रसिद्धि के अनुसार ही शङ्कराचार्य आदि ने उसी प्रकार से उल्लेख किया है—यही हम समझते हैं।[2]

---

१ गौतमोऽपि—'स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः' 'मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा।' 'हेत्वभावादसिद्धिरित्याह' 'एतच्च अनिर्वचनीयतावादस्यसूत्रसम्मतत्वमर्थादुक्तप्रायम्' तस्यश्रुतिमूलकत्वेन 'हेत्वभावादसिद्धिरित्यनेनखण्डनासम्भवाच्च।'—मञ्जूषा—निद्धर्यनिरूपण'—काशी चौखम्बा संस्कृत सीरीज ८७२।७३। पृ देखिए।

२ बृहदारण्यकभाष्य में (४।३।२०) शङ्कराचार्य ने 'वैशेषिका नैयायिकाश्च' इस तरह से पहले वैशेषिक सम्प्रदाय का ही उल्लेख किया है। परन्तु

आरम्भवादी कणाद तथा गौतम के मत में परब्रह्म की तरह आकाश, काल, दिशा और जीवात्मा—ये सभी द्रव्य पदार्थ भी विश्वव्यापी तथा नित्य हैं। पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय—ये चार प्रकार के परमाणु अतिसूक्ष्म तथा नित्य होते हैं। शङ्कराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य ने उक्त मत की व्याख्या करते हुए 'मानसोल्लास' ग्रंथ में कहा है—

> 'कालाकाशदिगात्मानो नित्याश्च विभवश्रते।
> चतुर्विधाः परिच्छिन्नानित्याश्च परमाणवः।
> इतिवैशेषिकाः प्राहुस्तथा नैयायिका अपि' ॥ द्वितीय अ० ॥

लेकिन अद्वैतवाद में परब्रह्म से भिन्न और कुछ भी पदार्थ नित्य नहीं है तथा माया सहित परब्रह्म अथवा परमेश्वर ही संसार का मूल उपादान कारण है। किन्तु आरम्भवाद में भिन्न भिन्न परमाणुसमूह ही भिन्न-भिन्न कार्यद्रव्यों के मूल उपादान कारण होते हैं। परन्तु अद्वैतवाद में आत्मा एक ही है, आरम्भवाद में आत्माएँ अनेक हैं। अद्वैतवाद में आत्मा चैतन्य स्वरूप है, चैतन्य या ज्ञान उसका गुण नहीं है, किन्तु आरम्भवाद में आत्मा चैतन्यरूप नहीं है, किन्तु चैतन्य या ज्ञान उसका गुण है। उसमें भी परमात्मा का ज्ञान नित्य है और जीवात्मा का अनित्य अत: समयविशेष में जीवात्मा जड़ है। अद्वैतवाद में जीवात्मा वस्तुत: निर्गुण है, ज्ञान, इच्छा तथा सुखादि अन्त:करण के ही धर्म हैं, किन्तु आरम्भवाद में जीवात्मा सगुण है और ज्ञान, इच्छा तथा सुख-दुःखादि जीवात्मा के ही वास्तविक गुण हैं। आरम्भवाद में जगत् सत्य है, किन्तु अद्वैतवाद में मायामूलक जगत् मिथ्या है। अर्थात् जगत् की पारमार्थिक सत्ता नहीं है, किन्तु व्यावहारिक सत्ता है। अन्यान्य बातें आगे व्यक्त होंगी।

ऐतरेय उपनिषद्भाष्य में (द्वितीय अध्याय में) शंकर ने 'अत्र कणादादयः कल्पयन्ति' इस सन्दर्भ के द्वारा जिस मत का उल्लेखपूर्वक प्रतिवाद किया है वह कणाद की तरह गौतम का भी मत है। इसीलिए वहाँ शंकर ने उस मत की युक्ति कहने के बाद गौतम के न्यायदर्शन के 'युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम्' १।१।१६। इस सूत्र का उल्लेख किया है। अत: शंकर ने गौतम के किसी पूर्व का उल्लेख करके उनके मत का खण्डन नहीं किया है—यह भी सत्य नहीं है। किन्तु किसी-किसी विद्वान् ने ऐसा मन्तव्य का भी प्रकाश किया है।

सातवाँ अध्याय

(आरम्भवाद की व्याख्या तथा विचार।[1])

शिष्य—कणाद तथा गौतम मत को 'आरम्भवाद' क्यों कहा जाता है? उक्त आरम्भ शब्द का अर्थ क्या है?

गुरु—परमाणु प्रभृति उपादानकारणात्मक द्रव्य में असत् अर्थात् उत्पत्ति के पहले अविद्यमान—अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति ही आरम्भ नाम से कथित होने से उक्त मत आरम्भवाद नाम से कहलाता है। उसका प्रसिद्ध प्राचीन नाम 'परमाणुकारणवाद' है। वेदान्तदर्शन के भाष्य में (२।२।११) शंकराचार्य ने भी कहा है—'परमाणुकारणवाद इदानीं निराकर्तव्य'। महर्षि गौतम ने आरम्भवाद की मौलिक युक्तियों को प्रकाश करने के लिये बाद में न्यायदर्शन के चौथे अध्याय में कहा है—'व्यक्ताद्व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात्' ४।१।११। 'व्यक्तात् कारणात् व्यक्तानामुत्पत्ति' अर्थात् व्यक्त कारण से व्यक्त कार्य की उत्पत्ति होती है—यह प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध है। भाष्यकार ने कहा है—'व्यक्तञ्च खलु इन्द्रियग्राह्यम्' तत्सामान्यात् कारणमपि व्यक्तम्' अर्थात् यद्यपि इन्द्रिय से ग्राह्य द्रव्य ही व्यक्त शब्द का अर्थ है किन्तु उन सभी कार्य द्रव्यों का मूल कारण परमाणु भी उनके सजातीय हैं। अतः इस सूत्र में व्यक्त शब्द से परमाणु भी गृहीत हुआ है। परन्तु इस सूत्र के 'व्यक्तात्' इस पद से सूचित हुआ है कि सांख्यशास्त्र के वक्ता महर्षि कपिल के द्वारा उक्त 'अव्यक्त' अर्थात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति महर्षि गौतम को अभिमत नहीं है। 'प्रकृति परिणामवाद' महर्षि गौतम का अभिमत नहीं है, अपितु आरम्भवाद ही उनका सम्मत है। न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने भी इस सूत्र की व्याख्या में कहा है—'व्यक्तादिति कपिलाभ्युपगत-त्रिगुणात्मकाव्यक्तरूपकारणनिषेधेन परमाणूनां शरीरादौ कार्ये कारणमाह'।

सारांश यह है कि प्रत्यक्षमूलक अनुमान के द्वारा अदृष्ट या अतीन्द्रिय मूलकारण परमाणु का अस्तित्व सिद्ध होता है—यहाँ इस सूत्रसे महर्षि गौतम का विवक्षित है। अत आगे भाष्यकार ने भी कहा है—'दृष्टो हि रूपादिगुण-

---

१. बहुत पाठकों की सुविधा होगी ऐसा समझकर यहाँ से लेकर तीन अध्याय गुरु तथा शिष्य के प्रश्नोत्तर के रूप में लिखे गये हैं।

युक्तेभ्यो मृत्प्रभृतिभ्यस्तथाभूतस्यद्रव्यस्योत्वाद, तेन चादृष्टस्यानुमानम्'। तात्पर्य यह है कि रूपादि गुण विशिष्ट मृत्तिका आदि स्थूल भूतों से तज्जातीय अन्य द्रव्य (घटादि द्रव्य) की उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिए इसी दृष्टान्त से अदृष्ट अर्थात अतीन्द्रिय मूलकारण परमाणु समूह अनुमान प्रमाण से सिद्ध हैं। परन्तु घटादि द्रव्य में जो रूप रसादि विशेष गुण उत्पन्न होते हैं उनके मूल परमाणुओं में भी तज्जातीय विशेष गुण अनुमान से सिद्ध हैं। क्योंकि द्रव्य के उपादान कारण के जो सब विशेष गुण हैं—तज्जन्य ही उसके कार्य द्रव्य में तज्जातीय विशेष गुण उत्पन्न होते हैं—यह भी बहुत द्रव्यों में *प्रत्यक्ष* सिद्ध है। जैसे लाल सूतों से बने हुए कपड़ों में लाल ही रङ्ग उत्पन्न होता है कभी भी नील रूप नहीं। इसीलिए कहा गया है—'कारणगुणा. कार्यगुण *मारभन्ते*'। *अर्थात् कारण द्रव्यगत गुण कार्य द्रव्य में तज्जातीय गुण* को उत्पन्न करता है। किन्तु यह नियम विशेष गुण के सम्बन्ध में ही कहा गया है।[१]

शिष्य—सांख्यसूत्रकार महर्षि कपिल ने कहा है—'नाणुनित्यता, तत्कार्यत्व श्रुते' ५।८७। परमाणु के कार्यत्व या अनित्यत्व के विषय में श्रुति है अतः परमाणु नित्य नहीं हो सकता है। परमाणु के अनित्यत्व के विषय में श्रुति प्रमाण रहने पर और किसी दूसरे प्रमाणों से उसका नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता है। इसलिए उक्त मत श्रुति विरुद्ध ही है।

---

१ मानसोल्लास ग्रन्थ में शंकराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य ने आरम्भवाद के वर्णन में कहा है—

'परमाणुगता एव गुणा रूपरसादयः।
कार्ये समानजातीयमारभन्ते गुणान्तरम्॥'

टीकाकार रामतीर्थ ने लिखा है—'समानजातीयमिति विशेषगुणाभिप्रायम्' इत्यादि। अतः उस मत में दो परमाणुओं की द्वित्वसंख्या से द्व्यणुक में जो परिमाण उत्पन्न होता है वह संख्या के विजातीय गुण होने पर भी उक्त नियम में व्यभिचार नहीं है। क्योंकि संख्या तथा परिमाण द्रव्यमात्र के सामान्य गुण हैं। व विशेष गुण नहीं हैं। विशेष गुण का कोई लक्षण भी कहा नहीं जा सकता है यह बात के किसी वेदान्ती विद्वान् के कहने से भी मध्यनैयायिक गण विशेष गुण के निर्दोष लक्षण कहने में असमर्थ नहीं हुए हैं। विस्तार के भय से उन सब दुर्बोध बातों का प्रकाश करना यहाँ सम्भव पर नहीं है। रूप आदि चौबीस प्रकार के गुणों के बीच विशेष गुण तथा सामान्य गुण का विभाग 'मार्गी परिच्छेद' में भी मिलेगा।

गुरु—परमाणुओं के अनित्यत्व के बारे में कौन श्रुतिप्रमाण है—यह तो सांख्यसूत्रकार ने नहीं कहा है। भाष्यकार विज्ञानभिक्षु भी उसको दिखाने में समर्थ नहीं हुए हैं। किन्तु उन्होंने (विज्ञानभिक्षु) उक्त सांख्यसूत्र के भाष्य में कहा है कि यद्यपि कालवश लोपादि हो जाने से अब हम लोग उस उस श्रुतिवाक्य को उपलब्ध नहीं कर पाते तथापि महर्षि कपिल का उक्त सूत्र ५व—अण्व्यो मात्रा विनाशिन्योदशार्द्धानाञ्च याः स्मृता' १।२७। इस मनुस्मृति से वह श्रुतिवाक्य अनुमेय होता है। विज्ञानभिक्षु की विवक्षा यह है कि पूर्वोक्त कपिल सूत्रात्मक स्मृति और मनुस्मृति जब श्रुतिमूलक हैं तब इन स्मृतियों से इसके समानार्थक मूलभूत श्रुतिवाक्य अनुमान प्रमाण से सिद्ध है। इस तरह की श्रुति 'अनुमितश्रुति' कहलाती है।

किन्तु विज्ञानभिक्षु की इस बात के उत्तर में कहना यह है कि 'नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुते' यह सूत्र जो महर्षि कपिल का ही सूत्र है—यही सर्वसम्मत नहीं है। विज्ञानभिक्षु के यह कहने पर भी सांख्यशास्त्र के अनेक अंश विलुप्त हो गये हैं—यह उन्होंने भी पहले कहा है।'

परन्तु महर्षि गौतम ने पहले—'नाणुनित्यत्वात्' (४।२।२४) इस सूत्र के द्वारा यह स्पष्ट कहा है कि परमाणु नित्य है एवं बाद में विचारपूर्वक परमाणु के निरवयवत्व का समर्थन करके नित्यत्व का भी समर्थन किया है। अतः गौतम के उन सब सूत्रों के आधार पर 'परमाणु का नित्यत्व' बोधक मूलश्रुति का भी अनुमान कर सकते हैं तथा 'कालक्रम से वे श्रुतियाँ लुप्त हो जाने से हम लोग उनको उपलब्ध नहीं कर पाते'—यह भी विज्ञानभिक्षु की तरह हम कह सकते हैं। यह तो कभी सर्वसम्मत नहीं हो सकता है कि कपिल के सांख्यसूत्र श्रुतिमूलक हैं और गौतम के न्यायसूत्र श्रुतिमूलक नहीं हैं।

अपि च विज्ञानभिक्षु ने जो 'अण्व्यो मात्राविनाशिन्यो दशार्द्धानाञ्च याः स्मृताः' इस मनुवचन से परमाणु का अनित्यत्व समझा है—वह हम लोग समझ नहीं पाते। क्योंकि उक्त वचन में 'दशार्धानाम् मात्रा विनाशिन्य.' इस बात के द्वारा दश का आधा अर्थात् क्षित्यादि पाँच भूतों की मात्राओं = सूक्ष्मअंशों—(सांख्यशास्त्रसम्मत पञ्चतन्मात्राओं) को ही विनाशी कहा गया है तथा उन्हीं मात्राओं अर्थात् पञ्चतन्मात्राओं की सूक्ष्मता व्यक्त करने के लिए 'अण्व्य.' इस विशेषण पद के द्वारा अणु परिमाण विशिष्ट कहा गया है। उक्त वचन के

१ 'कालार्कं भक्षितं सांख्यशास्त्रं ज्ञानसुधाकरम्।
कलावशिष्टं भूयोऽपि पूरयिष्ये वचोऽमृतैः'॥
(सांख्यप्रवचन भाष्य के प्रारम्भ में विज्ञानभिक्षु का श्लोक)

पहले गुणवाचक 'अणु' शब्द के ही स्त्रीप्रत्ययान्त 'अण्वी' शब्द के प्रथमा बहु वचन में 'अण्व्य' ऐसा प्रयोग हुआ है। यह जानना आवश्यक है कि पूर्वोक्त परमाणु के अर्थ में 'अणु' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। सारांश यह है कि *मनुसंहिता के उक्त वचन में मात्रा शब्द का अर्थ परमाणु नहीं है।*

परन्तु कणाद तथा गौतम के मत में आकाश विभु अर्थात् सर्वव्यापी एवं नित्य द्रव्य है। इसलिए उसका मूलकारण कोई परमाणु नहीं है। किन्तु सांख्य आदि के मत में आकाश का मूलकारण तन्मात्र (शब्दतन्मात्र) है। उक्त वचन में भी मात्रा शब्द से आकाश का वह सूक्ष्म अंशरूप तन्मात्र भी गृहीत हुआ है। इसलिए उस मात्रा शब्द से परमाणु का ग्रहण नहीं हो सकता है। वस्तुतः पञ्चतन्मात्राएँ ही कणाद तथा गौतम का सम्मत परमाणु नहीं है। उनसे उत्पन्न कोई सूक्ष्म भूत भी परमाणु नहीं है। किन्तु पृथिवी आदि चार भूतों का जो सर्वापेक्षया सूक्ष्म अंश—जिसकी उत्पत्ति तथा विनाश एवं किसी तरह का परिणाम या विकार नहीं है वही कणाद तथा गौतम का अभिमत परमाणु है। उत्पत्ति तथा विनाश के कारण नहीं रहने से वह (परमाणु) नित्य है।

शिष्य—क्या न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय ने उक्त रूप परमाणु का बोधक कोई *श्रुति प्रमाण दिखाया है? या उन्होंने भी उस श्रुति का अनुमान ही किया है?*

गुरु—महानैयायिक उदयनाचार्य ने श्वेताश्वतर उपनिषद् के 'विश्वतश्च क्षुरुत' इत्यादि *सुप्रसिद्ध मन्त्र*[1] को *ही आरम्भवाद की मूलश्रुति* कहकर प्रदर्शित किया है।

उन्होंने कहा है कि उक्त मन्त्र के तृतीय चरण में जो पतत्र शब्द प्रयुक्त हुआ है उसका अर्थ परमाणु है। परमाणु समूह गतिशील हैं इसलिए गत्यर्थक पत धातु से निष्पन्न 'पतत्र' शब्द उस परमाणु की वैदिक संज्ञा है। उक्त मन्त्र के अन्तिम वाक्यार्थ में—पतत्रैः परमाणुभिः सजनयन् समुत्पादयन् संधमति संयोजयति—इस तरह की व्याख्या से ज्ञात होता है कि परमेश्वर सृष्टि से पहले उन नित्य परमाणु समूहों का अधिष्ठान करते हुए उन्हीं परमाणुओं से सृष्टि

---

१ *विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतः पात् । सबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः'* ।—श्वेताश्वतर ३।३। पतन्ति परमाणुरूपप्रधानाधिष्ठेयत्वम्। ते हि गतिशीलत्वात् पतत्र व्यपदेशा पतन्तीति। 'संधमति सजनयन्निति च व्यवहितोपसर्गं सम्बन्ध तेन संयोजयति समुत्पादयन्नित्यर्थः'। (देखिये—न्यायकुसुमाञ्जलि, पञ्चमस्तबक तृतीय-कारिका की व्याख्या का अन्तिम भाग)।

करने के लिये पहले उनमें संयोग उत्पन्न करते हैं। सारांश यह हुआ कि उक्त मन्त्र में पतत्र शब्द का अर्थ पूर्वोक्त नित्य परमाणु है। पक्षी के पतत्र (पक्ष) की तरह परमाणु वायु की सहायता से उड़ जाता है। सुतराम् पक्षिसदृश होने के कारण भी उक्त मन्त्र में वह पतत्र नाम से कहा जा सकता है।

अवश्य उदयनाचार्य की इस व्याख्या को अन्य सम्प्रदायों ने ग्रहण नहीं किया है और न करेंगे। परन्तु भिन्न भिन्न मतों के समर्थक अन्यान्य आचार्यगण भी श्रुति की व्याख्या करने में अनेक स्थलों में कष्ट कल्पना करने के लिए बाध्य हुए हैं तथा कितने स्थलों में गौण या लाक्षणिक अर्थों की भी व्याख्या की है, यह भी को अस्वीकार करना सम्भव नहीं है। जो भी हो, परमाणु की अनित्यता में किसी श्रुति को नहीं दिखाने पर उसके नित्यत्व साधक अनुमान प्रमाण से ही परमाणु की नित्यता सिद्ध होती है। यह कहने पर आपका और क्या वक्तव्य है?

शिष्य—अनुमान प्रमाण से भी परमाणु की नित्यता कैसे सिद्ध होगी? किसी द्रव्य के साथ किसी अन्य द्रव्य का संयोग होने पर उस द्रव्य के किसी अंश में ही वह संयोग होता है। समूचे अंशों में कोई संयोग नहीं होता है। किन्तु आपके द्वारा कहे गये परमाणु का जब कोई अंश या अवयव नहीं है तब उसके साथ अपर परमाणु का संयोग सम्भव ही नहीं है। अतः परमाणु का संयोग मानने से उसका अवयव भी स्वीकार करना होगा तब तो उसे नित्य नहीं कहा जा सकता है।

परन्तु निरवयव परमाणु के साथ अपर परमाणु का संयोग मानने पर भी उस संयोग से उत्पन्न जो द्रव्य होगा वह तो स्थूल नहीं हो सकता है। इसलिए 'परमाणु कारण' वाद सिद्ध नहीं होता है। शारीरकभाष्य में आचार्य शङ्कर ने भी इन सारी बातों को कहा है।

गुरु—परमाणु का खण्डन करने के लिए महायान बौद्ध संप्रदाय ने ही इस तरह की बहुत सी बातें कही थीं। अभी संक्षेप में उन लोगों की बात आप से कहता हूँ। विज्ञानवादी प्रसिद्ध बौद्धाचार्य वसुबन्धु ने अपनी 'विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि' ग्रन्थ के विंशतिका' कारिका में कहा है—

'न तदेकं नचानेकम् विषयः परमाणुशः।
नचते संहता यस्मात् परमाणुर्न सिद्ध्यति ॥
षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णांसमानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥'[१]

---

१. वसुबन्धु की अन्यान्य कारिकाएं तथा उनकी व्याख्या मेरे संपादित तथा बङ्गीय साहित्य परिषद से प्रकाशित न्यायदर्शन के पाँचवें खण्ड के १०५ पृ० में द्रष्टव्य है।

हीनयान बौद्ध सम्प्रदाय के वैभाषिक प्रस्थान का सम्मत बाह्य विषय के अस्तित्व का खण्डन करने के लिये वसुबन्धु यहाँ प्रथम कारिका के द्वारा कहा है,—इन लोगों का स्वीकृत बाह्य विषय को अवयवी रूप एक भी नहीं कहा जा सकता है, अनेक भी नहीं कहा जा सकता है तथा न उसे संहत या पुञ्जीभूत कहा जा सकता है न तो मिलित परमाणु समष्टि रूप ही, क्योंकि परमाणु ही सिद्ध नहीं होता है। क्यों नहीं सिद्ध होता है इसको समर्थन करने के लिए दूसरी कारिका से कहा है कि परमाणु को स्वीकार करके दूसरे परमाणु के साथ उसका संयोग मानने से परमाणु ही सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि मध्यस्थित किसी परमाणु के साथ जब उसके ऊर्ध्व अध तथा चतुष्पार्श्व (चारों तरफ)—इन छः दिशाओं से छः परमाणु आकर युगपत् यानी एक ही समय में संयुक्त होते हैं तब उस परमाणु के छः भाग हैं—यह मानना पड़ेगा क्योंकि उस परमाणु के एक देश में एक ही समय में छः परमाणुओं का संयोग संभव नहीं है। परमाणु के जिस देश में किसी एक परमाणु का संयोग होता है उस प्रदेश में उसी समय में अन्य परमाणु का संयोग हो नहीं सकता है। इसलिये यह मानना होगा कि उक्त स्थल में उस मध्यस्थित परमाणु के अलग अलग छः अंश या प्रदेश में भिन्न भिन्न छओ परमाणुओं का संयोग होता है। तब उसे परमाणु ही नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जिसका अंश नहीं है तथा जो सबों से सूक्ष्म है वही पर परमाणु के रूप से स्वीकृत हुआ है, और यदि उसी मध्यस्थित परमाणु के एक प्रदेश में एक काल में छओ परमाणुओं का संयोग माना जाय तो—'पिण्डः स्यादणुमात्रकः' अर्थात् उन सातों परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न द्रव्य या पिण्ड स्थूल नहीं हो सकता है इसलिए वह द्रव्य नहीं हो सकता, क्योंकि किसी द्रव्य के भिन्न भिन्न अंशों में अन्यान्य द्रव्यों के संयोग से ही वह द्रव्य स्थूल अथवा द्रव्य होता है।

किन्तु महर्षि गौतम ने भी पहले पूर्वपक्ष के रूप में परमाणु का सावयवत्व समर्थन करने के लिये पूर्वोक्त बातों को ध्यान में रखते हुये अन्तिम सूत्र कहा है—'संयोगोपपत्तेश्च' ४।२।२४। बाद में उक्त पूर्वपक्ष का खण्डन करने के लिये सिद्धान्तसूत्र कहा है—'अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेध' ४।२।२५। यानी परमाणु का जो निरवयवत्व है उसका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता है। अर्थात् पूर्वोक्त युक्तियों से परमाणु का सावयवत्व सिद्ध नहीं होता है। *क्यों नहीं सिद्ध होता है?* इसी के निराकरण के लिये कहा है—'अनवस्था-कारित्वात्'—अर्थात् पूर्वोक्त हेतु से परमाणु के अवयव या अंश के सिद्ध होने से उसी हेतु से उस अवयव का अवयव तथा पुनः उस अवयव का अवयव मानने से अनन्त अवयव परम्परा की सिद्धि की आपत्ति हो जाती है। इस प्रकार

की आपत्ति का नाम अनवस्था है। अतः पूर्वपक्षवादियों का यह हेतु अनवस्था दोष में प्रयोजक होने से उसके द्वारा परमाणु का अवयव सिद्ध नहीं हो सकता है। पूर्वपक्षवादी अवश्य ही कहेंगे कि प्रमाण सिद्ध अनवस्था दोष नहीं है—यह तो सभी के द्वारा स्वीकार के योग्य है। इसलिये महर्षि गौतम ने इस सूत्र के आगे कहा है—"अनवस्थानुपपत्तेश्च" अर्थात् इस तरह की अनवस्था की उपपत्ति न होने के कारण वह नहीं मानी जा सकती है।

तात्पर्य यह है कि जो अनवस्था प्रमाण द्वारा उपपन्न है तथा जिसे स्वीकार करने से कोई आपत्ति नहीं होती है उसी अनवस्था को स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि उस तरह की अनवस्था प्रमाण सिद्ध होने से यह दोष नहीं होता है। किन्तु परमाणु के अवयव की अनवस्था मानी नहीं जा सकती है। क्योंकि यदि परमाणु का अवयव तथा उस अवयव का अवयव आदि अनन्त अवयव माना जाय अर्थात् सावयव द्रव्य की अवयव विभाग का कहीं अन्त ही नहीं हो तो जैसे पर्वत के अवयव विभाग का अन्त नहीं है वैसे ही सरसों (अलसी) के अवयव विभाग का भी कहीं अन्त नहीं होगा। ऐसी स्थिति में सरसों तथा पर्वत ये दोनों ही अनन्त अवयव विशिष्ट होने से दोनों की तुल्यता माननी पड़ती है। अर्थात् सरसों तथा पर्वत इन दोनों का गुरुत्व एवं परिमाण तुल्य ही मानना होगा। किन्तु यह स्वीकार करना सम्भव नहीं है। क्योंकि यह प्रमाण सिद्ध सत्य है कि सरसों के गुरुत्व तथा परिमाण की अपेक्षा पर्वत के गुरुत्व एवं परिमाण अधिक हैं। इस सत्य का अपलाप करके अपने मन के समर्थन के लिए पर्वत तथा सरसों को कदापि तुल्य परिमाण नहीं माना जा सकता है। ऐसे किसी भी क्षुद्र तथा वृहत सावयव वस्तु को सम परिमाण नहीं कहा जा सकता है।

अतः यह स्वीकार करना ही होगा कि सरसों के अवयव परम्पराओं का विभाग करते करते ऐसे किसी छोटे अंश में उस विभाग का अन्त होता है जिसका फिर कोई अंश नहीं है। वही अतिक्षुद्र अंश ही परमाणु है। इसी तरह से पर्वत के अवयव के तथा उसके अवयव आदि अवयव परम्परा का विभाग होने पर अन्त में जिस अत्यन्त सूक्ष्म अंश में उस विभाग का अन्त होता है वही परमाणु है। इस स्थिति में सरसों के अवयव परम्पराओं की संख्या से पर्वत की अवयव परम्पराओं की संख्या अधिक होने पर सरसों से पर्वत बड़ा है—यह सिद्ध होने पर उन दोनों की तुल्य परिमाणता की आपत्ति हो नहीं सकती।

शिष्य—एक सरसों का अंश तथा पुनः उसका भी अंश प्रभृति अवयव परम्पराओं के सम्पूर्ण विभाग होने पर अन्त में कुछ रहता नहीं है। तब तो

शून्य ही पर्यवसित रहा। अतः आपके द्वारा कहे गये परमाणु नाम के अतिसूक्ष्म अंश का अस्तित्व कैसे सिद्ध हो सकता है?

गुरु— सरसों की अवयव परम्पराओं का सर्वथा विभाग हो जाने पर अन्त में यदि कुछ बचता नहीं है तो उस अन्तिम विभाग की स्थिति कहाँ होगी? उस चरम विभाग का भी तो कुछ आश्रय द्रव्य होना चाहिये तथा दृष्टान्त के रूप में श्रुति भी कहती है—'वालाग्र शतभागस्य शतधा कल्पितस्य च' (श्वेताश्वतर)। किन्तु किसी केश के अग्रभाग के शतांशों के शतांश का अंश अलीक होने पर वह तो उस स्थल में दृष्टान्त नहीं कहा जा सकता है। अतः चरम विभाग का आश्रय अतिसूक्ष्म द्रव्य अवश्य है—इसकी सिद्धि पूर्वोक्त श्रुति से भी होती है।

महर्षि गौतम ने भी सर्वाभाववादियों के मत का खण्डन करते हुए पहले कहा है—'न प्रलयोऽणुसद्भावात्' ४।२।१६। अर्थात् 'प्रलय' (सभी विषयों का अभाव) नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि यह नहीं माना जा सकता है कि अन्य द्रव्य की अवयव परम्परा के चरम विभाग के बाद और कुछ नहीं बचता है। क्योंकि परमाणु की सत्ता है। गौतम के तात्पर्य को व्यक्त करते हुए वात्स्यायनने भाष्य में कहा है—'विभागस्य च विभज्यमानहानिर्नोपपद्यते' तात्पर्य यह है कि जिन दो द्रव्यों का विभाग होता है उन्हें विभज्यमान द्रव्य कहते हैं। विभाग मात्र ही उन दोनों द्रव्यों में उत्पन्न होगा और रहेगा। इसलिए यह कभी उपपन्न नहीं होता है कि चरम विभाग उत्पन्न हुआ है। किन्तु उसका आधार वह विभज्यमान द्रव्यों नहीं है। अर्थात् चरम विभाग के बाद कुछ रहता नहीं है। क्योंकि निराश्रय विभाग अलीक है। अतः उस चरम विभाग का आश्रय दोनों द्रव्य अवश्य स्वीकार योग्य होने से परमाणु सिद्ध होता है क्योंकि वे दोनों अतीन्द्रिय द्रव्य ही दो परमाणु हैं।

प्रचलित मत में दो परमाणुओं के संयोग से जो सर्वप्रथम द्रव्य उत्पन्न होता है उसका नाम 'द्वयणुक' है। एवं तीन द्वयणुकों के संयोग से, जिस द्वितीय द्रव्य की उत्पत्ति होती है उसका नाम 'त्रसेरणु' है। वह त्रसरेणु स्थूल अन्य द्रव्यों में पहला द्रव्य है। पहले-पहले उसी में स्थूलत्व या महत् परिमाण उत्पन्न होने पर उसका प्रत्यक्ष होता है। गवाक्षों के रन्ध्र से जो गतिशील सूक्ष्म रेणु देखा जाता है, उसी का नाम 'त्रसरेणु' है। त्रस शब्द का अर्थ जंगम है अतः एव जंगम अर्थात् गतिशील रेणु को त्रसरेणु कहा जाता है। जो कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि 'त्रसरेणु' एक सुप्राचीन पारिभाषिक संज्ञा है। क्योंकि भगवान् मनु ने भी कहा है—

जालान्तर गते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
'प्रथमतत्प्रमाणानां त्रसरेणु प्रचक्षते ॥'८।१३२।'

परमाणु का परिचय देते हुए महर्षि गौतम ने बाद में कहा है—'परवा-त्रुटेः' ४।२ १७—अर्थात् त्रुटि के बाद ही परमाणु है। वाचस्पति मिश्र प्रभृति पूर्वाचार्यों ने कहा है कि पूर्वोक्त त्रसरेणु का ही दूसरा नाम 'त्रुटि' है। नव्य-नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि ने अपने मतानुसार कहा है—'त्रुटावेव विश्रामात्'। अर्थात् उनके अपने मतानुसार जन्यद्रव्य की अवयव परम्पराओं के विभाग का विश्राम प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थ त्रसरेणु में ही है। उस त्रसरेणु का दूसरा कोई अंश न रहने से वही सबों की अपेक्षा सूक्ष्म तथा नित्य द्रव्य है। कितने मीमांसकों का भी यही मत है। किन्तु महर्षि गौतम ने पूर्वोक्त सूत्र से 'पर' शब्द तथा अवधारणार्थक 'वा' शब्द का प्रयोग करके त्रसरेणु के बाद ही परमाणु अर्थात् त्रसरेणु परमाणु नहीं है यह स्पष्ट व्यक्त किया है। परन्तु परमाणु अतीन्द्रिय है यह उन्होंने पहले ही (२।१।३६ सू० के अन्त) में 'अतीन्द्रियत्वा-दणूनाम्' इस युक्ति के द्वारा स्पष्ट किया है। वैशेषिकदर्शन में महर्षि कणाद के 'तस्य कार्यं लिङ्गम्' ४।१ २इस सूत्र से भी मूलकारण परमाणु का अतीन्द्रियत्व ही व्यक्त हुआ है। चरकसंहिता में भी शरीरस्थान (सप्तमाध्याय में) शरीर के मूल अवयव परमाणु समूहों को अतीन्द्रिय स्पष्ट ही कहा गया है।

शिष्य—गौतम ने भी प्रत्यक्ष सिद्ध त्रसरेणु ही क्यों परमाणु को नहीं कहा है? क्या वह नहीं कहा जा सकता है? त्रसरेणु का भी अंश या अवयव है—इसमें प्रमाण क्या है?

गुरु—परमाणु पुञ्जवादी वैभाषिक बौद्ध संप्रदायों के बीच किसी सम्प्रदाय ने गवाक्ष के रन्ध्र से सूर्य किरणों में दृश्यमान त्रसरेणु को ही परमाणु मानकर परमाणुओं की प्रत्यक्षता का समर्थन किया था। किन्तु बौद्ध सम्प्रदाय के प्रबल प्रतिपक्षी महानैयायिक वार्तिककार उद्योतकर ने न्यायवार्तिक में उक्त मत का उल्लेख करके खण्डन करने के लिये कहा कि दृश्यमान त्रसरेणु का भी अंश या अवयव है, क्योंकि वह (त्रसरेणु) हमलोगों के बहिरिन्द्रिय से ग्रहण योग्य है। कितने दृश्यमान विषयों में यह प्रत्यक्षसिद्ध विषय है कि बहिरिन्द्रिय से

---

१. महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी कहा है—'जालसूर्य्यमरीचिस्थं त्रसरेणुरजः स्मृतम्' (आचार अध्याय ३६० श्लोक) वहाँ टीकाकार अपरार्क ने भी व्याख्या की है—गवाक्ष प्रविष्टादित्यकिरणेषु यत्सूक्ष्मं वैशेषिकोक्तनीत्या द्व्यणुकत्रयारब्धं दृश्यते रजः तत् त्रसरेणुरितिमन्वादिभिः स्मृतम्'। वीरमित्रोदय नामक स्मृति निबन्ध में भी यह व्याख्या देखी जाती है।

जिस द्रव्य का ग्रहण होता है वह सावयव ही रहता है। अतः इसी दृष्टान्त से अनुमान प्रमाण के द्वारा यह सिद्ध होता है कि त्रसरेणु का भी अवयव या अंश है।

उद्योतकर के इस अनुमान का अनुसरण करके ही न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्यों ने—'त्रसरेणुः सावयवः चाक्षुषद्रव्यत्वात् घटवत्' इसी अनुमान से त्रसरेणु के सावयवत्व का साधन किया है। जिन्होंने त्रसरेणु में ही अवयव विभाग का विश्राम स्वीकार किया था उनका कहना यह है कि पूर्वोक्त रूप से *अनुमान करने पर त्रसरेणु के अवयव का अवयव तथा पुनः* उसका अवयव मानना होगा, इस तरह से अनन्त अवयवों को मानने से अनवस्था दोष होता है और परमाणु भी सिद्ध नहीं होता है। किन्तु अनवस्था दोष के बारे में महर्षि गौतम की अपनी बातें पहले ही कही जा चुकी हैं। त्रसरेणु के अवयव विभाग के कहीं विश्राम नहीं मानने से सरसों तथा पर्वत के तुल्य परिमाण की आपत्ति होती है। यह भी मैंने पहले ही कहा है। अतः उक्त त्रसरेणु के अवयव विभाग का किसी एक सूक्ष्म द्रव्य में विश्राम स्वीकार करना ही होगा। *वही अतिसूक्ष्म अतीन्द्रिय द्रव्य ही परमाणु है।*

यहाँ यह भी कहना आवश्यक है कि त्रसरेणु का छठवाँ भाग ही परमाणु है—यह महर्षि कणाद तथा गौतम ने नहीं कहा है। उनके सूत्रों में इस तरह *की कोई बात नहीं है। न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय के परवर्ती बहुत से आचार्यों* के मत से त्रसरेणु का अंश है एवं उसका भी अंश है—यह अनुमान प्रमाण से सिद्ध है। त्रसरेणु का अवयव द्व्यणुक है, एवं द्व्यणुक का अवयव परमाणु है—यही न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय में प्रचलित मत है। उक्त विषय में मतान्तर भी है। जो कुछ भी हो, मूल बात यही है कि उक्त रूप निरवयव परमाणु अवश्य स्वीकार्य होने पर दोनों परमाणुओं का संयोग भी अवश्य ही स्वीकार करना होगा। क्योंकि दो परमाणुओं के संयोग तथा विभाग के बिना सृष्टि एवं प्रलय *हो नहीं सकते हैं। परमाणुपुञ्जवादी वैभाषिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत किसी* सम्प्रदाय ने,पुञ्जीभूत परमाणुओं के बीच एक परमाणु अपर परमाणु को स्पर्श नहीं करता है—अर्थात् परमाणुओं में परस्पर संयोग ही उत्पन्न नहीं होता है—इस मत का भी समर्थन किया था, बौद्धग्रन्थ तत्त्वसंग्रहपञ्जिका में बौद्धाचार्य 'कमलशील' की व्याख्या से यह बात ज्ञात होती है। भाष्यकार वात्स्यायन के विचार से ज्ञात होता है कि परमाणु पुञ्जवादी वैभाषिक बौद्ध सम्प्रदाय विशेष संयोग को अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार नहीं करते थे किन्तु दो द्रव्यों की विशेष प्रत्यासत्ति यानी निकटवर्तिता विशेष ही संयोग है। किन्तु वात्स्यायन

ने (२।१।३६ सूत्र के भाष्य में) विशेष विचारपूर्वक उक्त मत का खण्डन करते हुए संयोग को अतिरिक्त गुण पदार्थ के रूप में समर्थन किया है।

वस्तुत. कणाद तथा गौतम के मत में दो परमाणुओं का संयोग मानना आवश्यक है। अन्यथा दो परमाणुओं से पहले द्व्यणुक नामक अवयवी द्रव्य उत्पन्न हो नहीं हो सकता। द्व्यणुक नाम के अवयवी के दो अवयव अर्थात् अशभूत दो परमाणु ही उसका उपादान कारण के नाम से स्वीकृत हुआ है। क्योंकि उपादान भूत अवयवों के परस्पर संयोग के बिना अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति ही नहीं होती, जैसे घट के उपादान दो अवयवों (कपाल तथा कपालिका नामक दो अशों) के विलक्षण संयोग के बिना घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती तथा सूत्रों (सूत्रों) के परस्पर विलक्षण संयोग के बिना वस्त्र उत्पन्न नहीं हो सकता। परन्तु महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन के द्वितीय और चतुर्थ अध्याय में विचारपूर्वक अवयव से पृथक् अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति का समर्थन करते हुये कहा है कि प्रत्यक्ष सिद्ध सभी द्रव्यों को परमाणु पुञ्जरूप मानने पर किसी भी द्रव्य का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं होता है। प्रत्येक परमाणु अतीन्द्रिय है तो उसकी समष्टि का भी प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। मिलित परमाणु समष्टि को प्रत्येक परमाणु से भिन्न पृथक् द्रव्य नहीं कहा जा सकता है। यदि मिलित परमाणु समष्टि को परमाणु से भिन्न पृथक द्रव्य माना जाय तो दो परमाणुओं के संयोग से अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति के क्रम से स्थूल अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति ही स्वीकार करना अच्छा है।

शिष्य—तब उस मत में संयोग मात्र ही अव्याप्यवृत्ति है यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि दो परमाणुओं का संयोग स्वीकार करने से उसको प्रादेशिक संयोग नहीं कहा जा सकता है। अतएव उस संयोग को व्याप्यवृत्ति ही कहना होगा। किन्तु प्रत्यक्ष मूलक अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है कि संयोग मात्र ही अव्याप्यवृत्ति है।

गुरु—अव्याप्यवृत्ति शब्द का तुमने क्या अर्थ समझा है ? संयोग मात्र ही अपने आश्रय द्रव्य के किसी प्रदेश या अंश में ही रहता है, सर्वांश व्याप्त करके नहीं रहता है, इस अर्थ में संयोग मात्र को अव्याप्यवृत्ति नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि आत्मा और मन का संयोग उस तरह का नहीं है। आत्मा का कोई अंश या प्रदेश नहीं होता है। कणाद तथा गौतम के मत में मन भी परमाणु की तरह निरवयव तथा अतिसूक्ष्म द्रव्य पदार्थ है। अतः यह अवश्य मानना होगा कि आत्मा और मन का संयोग प्रादेशिक नहीं है। तब यह नहीं कहा जा सकता है कि निरवयव द्रव्यों में संयोग उत्पन्न ही नहीं होता है।

महानैयायिक उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्व विवेक में बौद्ध मतों के खण्डन के लिए बहुत सी बातें कही हैं।

पूर्वोक्त विषय में उनकी बातों का समर्थन करते हुए टीकाकार रघुनाथ शिरोमणि ने वहाँ कहा है कि किसी दो द्रव्यों के संयोग की उत्पत्ति में जैसे वे दोनों द्रव्य कारण हैं वैसे ही उनका भी अवयव या अंश उनका कारण नहीं है। संयोग के प्रति उसके आधार किसी द्रव्य के अंश विशेष को कारण कहना आवश्यक नहीं है। तब जिस द्रव्य का अवयव होता है उस द्रव्य के अवयव में ही संयोग उत्पन्न होता है। क्योंकि संयोग का स्वभाव है कि सावयव द्रव्य के किसी अंश में ही वह उत्पन्न होता है किन्तु निरवयव द्रव्य का संयोग इस तरह का हो ही नहीं सकता। क्योंकि उस द्रव्य का अवयव या प्रदेश या अंश ही नहीं है। तब अनेक मूर्त द्रव्यों के साथ परमाणु का जो संयोग उत्पन्न होता है वह भी भिन्न भिन्न दिशाओं में ही उत्पन्न होता है। परमाणु के निरवयव होने पर भी पूरब पश्चिम प्रभृति दिशाविशेष में ही अन्य परमाणु या अन्यान्य मूर्त द्रव्य के साथ उसका जो संयोग उत्पन्न होता है वह संयोग भी अव्याप्यवृत्ति कहा जा सकता है। क्योंकि जैसे ही देशविशेष से अवच्छिन्न पदार्थ अव्याप्यवृत्ति कहलाता है उसी प्रकार दिशाविशेष से अव-च्छिन्न पदार्थ भी अव्याप्यवृत्ति है। लेकिन उक्त स्थल में वह दिशाविशेष परमाणु का अपना कल्पित प्रदेश नहीं है—वह पूरब पश्चिम आदि दिशा है। किसी किसी ने संयोग-विशेष को व्याप्यवृत्ति भी स्वीकार किया है।

शिष्य—परमाणुओं को निरवयव मानने पर दूसरे परमाणुओं के साथ संयोग होने से किसी द्रव्य की उत्पत्ति होने पर भी उस द्रव्य में प्रथिमा या स्थूलत्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। परमाणुओं में परस्पर संयोग स्वीकार करने पर भी स्थूल द्रव्य की सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है—यह तो आपने नहीं कहा है एवं जैसे दो परमाणुओं का संयोग होता है वैसे ही तीन या उनसे अधिक परमाणुओं का भी परस्पर संयोग होना चाहिए। तब, तीन या उससे भी अधिक परमाणुओं के संयोग से भी किसी द्रव्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होगी। तीन द्व्यणुकों के संयोग से जैसे त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है वैसे ही दो द्व्यणुकों के संयोग से भी किसी द्रव्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होगी—यह भी तो कहना है।

गुरु—इन सभी विषयों का उत्तर अवश्य वक्तव्य है। पहले यह कहना आवश्यक है कि आरम्भवादी न्यायवैशेषिक सम्प्रदायों के मत में बहुत परमाणु किसी द्रव्य का उपादान कारण नहीं होती है। श्रीमान् वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका और भामती में वैशेषिक संप्रदाय के 'परमाणुता:

प्रक्रिया" का वर्णन करते हुए उनके इस सिद्धान्त में युक्ति कही है कि यदि किसी घट के सम्पादक सभी परमाणुओं को उस घट का साक्षात् उपादान कारण माना जाए तो मुद्गरी से उस घट को चूर-चूर कर देने पर एक ही बार में उन परमाणुओं का ही परस्पर विभाग होगा। क्योंकि द्रव्य के उपादान कारण जो अवयव समुदाय हैं उनके विनाश या विभाग के बिना उनमें उत्पन्न द्रव्य का विनाश कभी हो ही नहीं सकता है। किन्तु परमाणु समुदायों के नित्य होने से उसका विनाश कभी सम्भव ही नहीं है, तब उसके विभाग से ही इस स्थल में घट का विनाश कहना होगा। अतः, मुद्गरी के आघात से उस घट के उपादान रूप सभी परमाणुओं के विभाग अथवा विश्लेष होने से उस घट के किसी अवयव का तो प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। क्योंकि परमाणु समूह अतीन्द्रिय है। किन्तु मुद्गरी के आघात से उस घट के चूर-चूर हो जाने पर भी वहाँ उस घट के छोटे-छोटे अवयवचूर्ण मिट्टी आदि देखे जाते हैं। अतएव यह मानना होगा कि वे परमाणु समूह उस घट का उपादान कारण नहीं हैं। अतः घट के चूर चूर हो जाने पर भी उसी समय सभी परमाणुओं का विभाग नहीं होता है।

दो परमाणुओं में बहुत्व संख्या के नहीं रहने से उनका (दोनों परमाणु) परस्पर संयोग ही सर्वप्रथम द्रव्य उत्पन्न करते हैं। उसी द्रव्य का नाम द्व्यणुक है। उस द्व्यणुक का परिमाण भी अणु परिमाण है। क्योंकि महर्षि कणाद ने द्रव्य में महत्परिमाण उत्पन्न करने के लिए (१) उस द्रव्य के उपादान कारण में बहुत्व संख्या अथवा (२) महत्परिमाण या (३) प्रचय विशेष यानी शिथिल संयोग विशेष को ही कारण कहा है।[१] किन्तु पहले उत्पन्न द्व्यणुक नामक द्रव्य के उपादान कारण दोनों परमाणुओं में न तो बहुत्व संख्या है, न महत्परिमाण है, न तो तूलपिण्ड की तरह उसमें शिथिल संयोग विशेष भी है। अतः कारण के अभाव में द्व्यणुक नामक द्रव्य में महत् परिमाण की उत्पत्ति कैसे होगी। किन्तु उसमें भी दोनों परमाणुओं की द्वित्वसंख्या से अणु परिमाण की ही उत्पत्ति होती है। इसलिए वह द्व्यणुक भी अणु कहा गया है। किन्तु त्रसरेणु के उपादान कारण तीन द्व्यणुकों में बहुत्व संख्या के रहने से त्रसरेणु में महत् परिमाण या स्थूलत्व

---

१. 'कारणबहुत्वात् कारणमहत्त्वात् प्रचयविशेषाच्च महत्'। शारीरक भाष्य में (२।२।११) शङ्कराचार्य के द्वारा उद्धृत कणादसूत्र। प्रचलित वैशेषिक दर्शन की पुस्तक में—'कारणबहुत्वाच्च' ७।१।९। इस तरह का सूत्र देखा जाता है। शङ्करमिश्र (उपस्कार के लेखक) से पहले ही उक्त कणाद सूत्र विकृत हो गया है—यह उनकी व्याख्या से भी ज्ञात होता है।

उत्पन्न होता है। अतः त्रसरेणु का प्रत्यक्ष होता है। कारण के अभाव से द्व्यणुक में महत्परिमाण की उत्पत्ति नहीं होने से द्व्यणुक का प्रत्यक्ष नहीं होता है।

इसी तरह से दो द्व्यणुकों के संयोग से किसी द्रव्य की उत्पत्ति मानने से उसमें *स्थूलत्व या महत्परिमाण उत्पन्न नहीं हो सकता है। क्योंकि उन दोनों* द्व्यणुकों में बहुत्व संख्या तथा महत् परिणाम प्रभृति पूर्वोक्त तीनों कारणों में से एक भी नहीं है। अतः दो द्व्यणुकों के संयोग से किसी द्रव्य की उत्पत्तिमानने पर वह भी द्व्यणुक के बराबर ही होगा, वह द्रव्य स्थूल द्रव्य नहीं हो सकता है। इसलिए दो द्व्यणुकों के संयोग से किसी द्रव्य की उत्पत्ति मानना व्यर्थ है—इसलिए नहीं माना गया है। किन्तु तीन द्व्यणुकों के संयोग से त्रसरेणु *नामक प्रथम स्थूल द्रव्य की उत्पत्ति मानी जाती है तथा उसी के उपादान कारण* के रूप में पहले अणु परिमाणात्मक द्व्यणुक नामक द्रव्य की उत्पत्ति मानी जाती है। अन्यथा उपादान कारण के अभाव में त्रसरेणु की उत्पत्तिही नहींहो सकती है। एक ही बार में छओ परमाणुओं को त्रसरेणु का साक्षात् कारण नहीं कहा जा सकता है।

आरम्भवाद का मूल असत्कार्यवाद है।

पहले ही कहा जा चुका है कि परमाणु प्रभृति उपादान कारण में द्व्यणुक आदि कार्य द्रव्य पहले किसी भी रूप में नहीं रहता है। उत्पत्ति से पहले कार्य असत् है—इस मत का नाम असत्कार्यवाद है। यही असत् कार्यवाद आरम्भवाद का मूल है। क्योंकि 'सत्कार्य' वाद से आरम्भवाद की उपपत्ति नहीं हो सकती है। अत महर्षि कणाद तथा गौतम ने असत्कार्यवाद का ही समर्थन *किया है। मीमांसक सम्प्रदाय भी* 'असत्कार्यवाद' को स्वीकार करता हुआ आरम्भवादी है। किन्तु न्याय तथा वैशेषिक सम्प्रदाय के मत में यही विशेषता है कि सभी जीवों के सभी कर्मों का अध्यक्ष महेश्वर की स्वेच्छा से समय पर प्रलय तथा पुनः सृष्टि होती है। आदि सृष्टि करनेवाला महेश्वर ही पहले जीवों की अदृष्ट समष्टि तथा उन सब नित्य परमाणु रूप प्रकृति में ईक्षण करते हैं। वे *ही सभी जीवों के सभी अदृष्टों के अधिष्ठाता हैं।* अतः सृष्टि से पहले अधिष्ठाता के अभाव में अचेतन अदृष्टजन्य परमाणुओं में संयोगजनक क्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती है, यह भी नहीं कहा जा सकता। सबसे पहले वायु परमाणु में तथा किसी दूसरे मत में जल परमाणु में क्रिया उत्पन्न होती है।

वैशेषिक मत में 'सृष्टिसंहार विधि' प्रशस्तपादभाष्य में देखिए।

---

१ वैशेषिक दर्शन मे—'क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत्' ९।१।१।

न्यायदर्शन में—'उत्पादव्ययदर्शनात्, बुद्धिसिद्धन्तुतदसत ४।१।–४८।४९ सू० देखिए।

शिष्य—असत् कार्यवाद कैसे माना जा सकता है ? जो असत् है क्या उसकी उत्पत्ति हो सकती है ? तब आकाशकुसुम आदि का भी क्यों उत्पत्ति नहीं होती है ? तथा जो पदार्थ पहले अपने उपादान कारण में किसी रूप से नहीं रहता है उसकी उत्पत्ति होने पर जैसे तिल से तेल उत्पन्न होता है उसी तरह से बालुका से भी तेल क्यों नहीं उत्पन्न होता है। किन्तु जिस कार्य का उद्भव जिस कारण से होता है उस कारण के साथ उस कार्य का सम्बन्ध रहना आवश्यक है अतः कार्यमात्र अपने उपादान कारण में किसी रूप से विद्यमान रहता है—यह मानना होगा। श्री भगवान् ने भी स्पष्ट कहा है—'नासतो विद्यतेभावो नाभावो विद्यते सतः' (गीता २।१ ४९) अर्थात् असत की उत्पत्ति नहीं है तथा सत् का विनाश नहीं है ।

गुरु—'सांख्यतत्व कौमुदी' में सांख्य मत के अनुसार सत्कार्यवाद का समर्थन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने भी भगवद्गीता के उक्त श्लोकार्द्ध को उद्धृत अवश्य किया है, किन्तु भगवद्गीता के उक्त स्थल में आत्मा का नित्यत्व प्रतिपादन के अवसर पर सत्कार्यवाद का उल्लेख अनावश्यक तथा असङ्गत है। इस श्लोक के द्वारा कहा जाता है कि आत्मा में असत् अर्थात् अविद्यमान शीत, उष्ण प्रभृति की सत्ता नहीं है तथा सत् स्वभाव आत्मा का अभाव अर्थात् विनाश कदापि नहीं होता है। टीकाकार श्रीधर स्वामी ने भी सीधे रूप से उक्त प्रकार अर्थ को ही व्याख्या की है। मीमांसाचार्य पार्थसारथि मिश्र ने 'शास्त्र दीपिका' के तर्कपाद में भगवद्गीता के उक्त श्लोक का उल्लेख करते हुए आत्मा के नित्यत्व का प्रतिपादन करते हुए बीच में कहा है कि इस श्लोक के द्वारा सत्कार्यवाद का कथन सङ्गत नहीं है। भाष्यकार रामानुज ने इस श्लोक के भाष्य में स्पष्ट ही लिखा है—'अत्र सत्कार्यवादस्यासङ्गतत्वात् तत्परोऽयं श्लोक'।

और जो कहा गया है—कि जो असत् है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है—इसके उत्तर में कहना यह है कि जो पूर्ण रूप से असत् अर्थात् अलीक है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है—यह सत्य है किन्तु घट आदि कार्य तो एकदम अलीक नहीं है। उत्पत्ति के बाद जिसकी सत्ता सिद्ध होती है उसे अलीक नहीं कहा जा सकता है। यदि कहा जाय कि उत्पत्ति के पहले घट आदि कार्य का अस्तित्व नहीं रहने से धर्मी के अभाव में असत्वरूप धर्म भी वहाँ नहीं रह सकता है। किन्तु सत्कार्यवादियों के मत में भी यह मानना होगा कि उत्पत्ति के पहले घट के उपादान उस मृत्तिका में घटत्व रूप से घट नहीं रहता है। तब वहाँ तो घट की असत्ता माननी ही होगी। क्योंकि घटत्व विशिष्ट द्रव्य ही घट शब्द का वाच्य अर्थ होता है, अतः सत्कार्यवादियों के मत में घटात्मक धर्मी के

नहीं रहने पर भी उसमें असत्त्वरूप धर्म रहता ही है। काल के भेद से असत्त्व तथा सत्त्व ये दोनों धर्म रह सकते हैं। और जो कहा गया है कि जैसे तिल से तैल का उद्भव होता है वैसे वालुका से भी तैल क्यों नहीं उत्पन्न होता है—इसके उत्तर में कहना है कि तिल तैल का कारण है वालु तैल का कारण ही नहीं है। तिल से तैल को उत्पन्न होता हुआ देखकर ही उसमें तैल की कारणता का निश्चय हुआ है किन्तु वालुका से तैल का उद्भव नहीं देखने से वालुका में तैल की कारणता का निश्चय नहीं हुआ है। और सत्कार्यवादी ने ही पहले यह कैसे निश्चय किया है कि उसी मृत्तिका (मिट्टी) विशेष में ही वह घट वर्तमान रहता है और सूत्र (सूत) आदि में वह नहीं रहता है। उन्होंने भी तो मृत्तिका विशेष से ही घट की उत्पत्ति देखकर ही यह निश्चय किया है। अन्यथा वे भी इसको कभी जान नहीं सकते थे। इसलिये मृत्तिका विशेष ही घट का उपादान कारण होने से उसीमें पहले अविद्यमान घट की उत्पत्ति होती है, सूत्र आदि घट का उपादान कारण नहीं होने से उसमें घट की उत्पत्ति नहीं होती है—ऐसा कहने में बाधा क्या है?

सत्कार्यवादी सांख्य सम्प्रदाय की अंतिम बात यह है कि उपादान कारण तथा कार्य वस्तुतः अभिन्न हैं। उपादान मृत्तिका के रूप में वह घट पहले से यद्यपि वर्तमान है तथापि उससे कार्य रूप में उसके आविर्भाव के लिये कारण के व्यापार की आवश्यकता होती है। किन्तु वैसा होने पर भी उस आविर्भाव को तो असत् ही कहना पडेगा। सत्कार्यवादी अपने सिद्धान्त के भङ्ग के डर से वह कहने में असमर्थ होकर उस आविर्भाव को भी सत् कहने में बाध्य होने पर उनके मत में उस आविर्भाव के लिये भी कारण का व्यापार अनावश्यक होता है। क्योंकि पहले उस घट की तरह उस घट का आविर्भाव भी विद्यमान रहने पर कुम्भकार किसके लिये प्रयत्न करेगा। यदि कहा जाय कि उस आविर्भाव के आविर्भाव के लिये कुम्भकार प्रयत्न करता है तो भी तो उस आविर्भाव को असत् ही कहना पड़ेगा। अन्यथा उस आविर्भाव का आविर्भाव, फिर उसका भी आविर्भाव प्रभृति अनन्त आविर्भाव के स्वीकार से सत्कार्यवादियों के मत में अनवस्था दोष अनिवार्य है।

किन्तु उस घट को पहले असत् के रूपमें स्वीकार करने से उसकी उत्पत्ति के लिये कारण का व्यापार आवश्यक तथा सार्थक है एवं उसकी उत्पत्ति की उत्पत्ति फिर उसकी भी उत्पत्ति स्वीकार करने से जो अनवस्था दोष होता है वह नहीं होगा। क्योंकि वे सभी उत्पत्ति वस्तुतः उस घट से अभिन्न पदार्थ हैं। किन्तु तो भी घटमात्र गत घटत्व नामक धर्म एवं उत्पत्ति मात्रगत उत्पत्तित्व नामक धर्म का

परस्पर भेद रहने से अर्थ पुनरुक्त दोष नहीं होता है। क्योंकि एक धर्म को लेकर एक ही पदार्थ की पुनरुक्ति होने से अर्थ पुनरुक्त दोष होता है। अर्थात् जैसे 'घट: कलश' ऐसा प्रयोग करने पर घटत्व और कलसत्व एक ही धर्म होने से अर्थपुनरुक्त दोष होता है। ऐसे 'घट उत्पद्यते' इस प्रकार का प्रयोग करने से अर्थ-पुनरुक्त दोष नहीं होता है। क्योंकि घट की उत्पत्ति वस्तुत उस घट से अभिन्न पदार्थ होने पर भी उत्पत्तिमात्र उससे अभिन्न नहीं हैं। अतएव उत्पत्तिमात्र में रहने वाला जो उत्पत्तित्व नामक धर्म है, वह घटत्व से भिन्न होने से पूर्वोक्त वाक्य में अर्थपुनरुक्त दोष हो नहीं सकता है। इस तरह के और अनेक सूक्ष्म विचार करके न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय ने असत् कार्यवाद का ही समर्थन किया है। सत्कार्यवाद की तरह उक्त असत् कार्यवाद भी अति प्राचीन मत है।[1] श्री मद्भागवत के दशम स्कन्ध में वेदस्तुति के बीच (८७।२५) उक्त असत्कार्यवाद का प्रकाश किया गया है।

शिष्य—तैत्तिरीय उपनिषद की द्वितीय वल्ली के प्रथम भाग में—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्यादि श्रुतिवाक्य एवं तृतीय वल्ली के प्रथम भाग में—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिवाक्य के द्वारा ज्ञात होता है कि वही परब्रह्म जगत का निमित्तकारण होता हुआ भी उपादानकारण है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुतिवाक्य के 'यतः' पद घटक पञ्चमी विभक्ति से 'यत्' शब्द ग्राह्य परब्रह्म सभी भूतों का उपादानकारण है।—यह स्पष्ट ही ज्ञात होता है। क्योंकि पाणिनि ने सूत्र कहा है।—'जनिकर्तुः प्रकृतिः' १।४।३०। इस सूत्र के प्रकृति पद का अर्थ उपादानकारण है। शारीरक भाष्य में (१।४।२३) शङ्कराचार्य ने भी यही कहा है। ऐसी स्थिति में पार्थिव, जलीय, तैजस तथा वायवीय—चार प्रकार के इन परमाणुओं का समूह सभार्त व अन्य भूत पदार्थों का मूल कारण है; एव पचम भूत आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है, वह नित्य है—यह कैसे माना जा सकता है? 'आकाश संभूतः' इस तरह के स्पष्टार्थक श्रुतिवाक्य के रहने पर भी आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है—यह मत कैसे माना जा सकता है?

गुरु—सभी जगहों में पाणिनि के सूत्र के अनुसार उपनिषदों के तात्पर्य की व्याख्या नहीं की जाती है। उक्त तैत्तिरीय उपनिषद के द्वितीय वल्ली में—'अन्नाद्वै प्रजाः जायन्ते' एवं बाद में—'अन्नाद् भूतानि जायन्ते' इस तरह की श्रुतियाँ भी हैं। पाणिनि के उक्त सूत्र में प्रकृति शब्द का अर्थ केवल उपादान

---

१. इस विषय मे विस्तृत विचार के लिए मेरे संपादन बगला न्यायदर्शन के चतुर्थखण्ड के २११।४३ पृष्ठों को देखिए।

कारण नहीं है किन्तु कारणमात्र उसका अर्थ है—यह भी बहुसम्मत मत है। क्योंकि उत्पत्ति क्रिया के कर्तृकारक का निमित्त कारण बोधक शब्द से भी पञ्चमी विभक्ति का बहुत प्रयोग है।[1] 'आकाशः सम्भूतः' इस श्रुतिवाक्य से आकाश की उत्पत्ति अवश्य ज्ञात होती है किन्तु न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय के मत में उक्त श्रुति वाक्य के 'सम्भूत' शब्द से अभिव्यक्ति रूप गौण उत्पत्ति ही समझनी चाहिये। परब्रह्म से आकाश उत्पन्न नहीं हुआ है किन्तु अभिव्यक्त हुआ है—यही तात्पर्य है। क्योंकि आकाश विभु अर्थात् सर्वव्यापी है। अतएव उसकी उत्पत्ति असंभव है। किन्तु अनुमान प्रमाण की तरह शब्द प्रमाण से भी आकाश की नित्यता सिद्ध होती है। आकाश के नित्यत्ववाद के समर्थन के लिये वेदान्त-दर्शन के द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद में वात्स्यायन ने भी पूर्वोक्त तात्पर्य में कहा है—'गौण्यसंभवात् ॥ शब्दाच्च' ॥३।४।

भगवान् शङ्कराचार्य ने पूर्व पक्ष रूप में उक्त मत की व्याख्या करते हुए यथोक्त सूत्र के भाष्य में कहा है कि[2] आकाश में पृथिवी आदि द्रव्यों का

---

१ सिद्धान्त कौमुदीकार भट्टोजि दीक्षित ने भी उस सूत्र की व्याख्या की है— जायमानस्य हेतुरपादान स्यात्'। ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते।' तत्त्वबोधिनी *व्याख्याकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने यहाँ लिखा है—'इह प्रकृतिग्रहण हेतुमात्र* परमितिवृत्तिकृन्मनम्। पुत्रात्प्रमोदो जायते इत्युदाहरणात्'। इसी मत के अनुसार 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' ग्रन्थ के कारक प्रकरण मे अपादान की व्याख्या *के अवसर मे जगदीशतर्कालङ्कार ने भी—'धर्मादुत्पद्यते सुखम्' एवं 'दण्डाज्जा-*यते घटः' इस तरह के प्रयोग का उल्लेख किया है। 'व्युत्पत्तिवाद' के पञ्चमी-प्रकरण मे गदाधर भट्टाचार्य ने भी पाणिनि के उक्तसूत्र मे प्रकृति शब्द का *अर्थ कारण मात्र है—यह स्पष्ट कहा है। उन्होंने इसके समर्थन के लिये* भट्टिकाव्य के प्रथम सर्ग से—'प्राक्कैकपीतो भरतस्तोऽभूत्' तथा 'वायो-र्जातः' 'दण्डाद् 'घटो जायते' इत्यादि प्रयोगों को प्रदर्शित किया है। वस्तुतः *'मनुसंहिता' के—आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्न ततः प्रजा। ३।७६।* एवं 'भागवत' के—'ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात्' १।३।२१ एवं भग-वद्गीता के—'सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते। २।६२। इस *तरह के बहुत प्रामाणिक प्रयोगों का प्रदर्शन किया जा सकता है।* मतान्तर मे इन सब स्थलों मे हेतु के अर्थ मे पञ्चमी का प्रयोग हुआ है।

२. पृथिव्यादिवैधर्म्याच्च विभुत्वादिलक्षणादाकाशस्य अजत्वसिद्धिः। तस्माद्यथा लोके आकाश कुरु आकाशो जात इत्येवंजातीयको गौण प्रयोगो भवति यथा च घटाकाशः करकाकाशो गृहाकाश इत्येकस्यापि आकाशस्य इत्येव

वैधर्म्य विभुत्व आदि रहने के कारण आकाश का अजत्व या अनुत्पत्ति सिद्ध होती है। अतएव जैसे भूगर्भ में पहले से ही आकाश रहने पर भी उसकी अभिव्यक्ति या प्रकाश नहीं होता है—किन्तु मिट्टी को खुनने से उसी विद्यमान आकाश का ही प्रकाश होता है। उसी तरह सृष्टि के प्रारम्भ में परमेश्वर के द्वारा नित्य विद्यमान आकाश का प्रकाश होता है। अत जैसे मिट्टी के खुनने वाले से कहा जाता है—"आकाश कुरु' यानी आकाश बनाओ—इस तरह का गौण प्रयोग होता है एव मिट्टी खुनने के बाद—'आकाशो जातः यानी 'आकाश बन गया है' ऐसा गौण प्रयोग होता है उसी तरह से—'आकाश सम्भूत'—ऐसा गौण प्रयोग हुआ है—यहा समझना पडेगा।

आगे—'शब्दाच' इस ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शंकराचार्य बृहदारण्यक उपनिषद् के—'वायुश्चान्तरिक्षञ्चैतदमृतम्' (२।३।३) इस श्रुतिवाक्य एव 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य' एव तैत्तरीय उपनिषद् के—'आकाशशरीर ब्रह्म' 'आकाश आत्मा'—इन सभी श्रुतिवाक्यों को उद्धृत करते हुये समझाया है कि पूर्वपक्षियों के मत में भी आकाश की नित्यता श्रुति सिद्ध है, अत—'आकाश. सम्भूत' इस श्रुतिवाक्य में 'सम्भूत' शब्द आकाश के लिए गौणार्थक है। एक ही 'सम्भूत' शब्द एक ही जगह में गौणार्थक तथा दूसरी जगह में मुख्यार्थक हो सकता है। बादरायण ने आगे जाकर दृष्टान्त के द्वारा समर्थन करते हुए तृतीय सूत्र कहा है—स्याच्चैकस्य ब्रह्म शब्दवत्' २।३।५। भाष्यकार शंकराचार्य ने बादरायण के तात्पर्य को व्यक्त करते हुए कहा कि उक्त तैत्तरीय उपनिषद् के—'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपोब्रह्म' (३।२) इस वाक्य में जैसे ब्रह्मन् शब्द का प्रयोग पहले मुख्य अर्थ में तथा बाद में गौण अर्थ में हुआ है, वैसे ही—'आकाशः सम्भूत' इस श्रुतिवाक्य में भी 'सम्भूत' शब्द का गौण तथा मुख्य अर्थ में प्रयोग हो सकता है।

परब्रह्म की तरह आकाश को भी नित्य पदार्थ होने पर परब्रह्म के अद्वितीय कहने वाली श्रुति तथा एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की श्रुति कैसे उपपन्न होगी? इसके उत्तर में न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय की बात भी वहाँ बाद में शंकराचार्य ने कही है। किन्तु संसार के निर्माता ईश्वर संसार का केवल निमित्त कारण है (उपादान कारण नहीं है। इस मत के समर्थन के लिए शंकराचार्य ने पहले जो युक्तियाँ कही हैं' वे भी अवश्य देखने योग्य हैं। उन

जातिदिषु मेदव्यपदेशो गौणो भवति। वेदेऽपि 'आरण्यानाकाशेष्वालभेरन् इति'। एवमुत्पत्तिश्रुतिरपि गौणी द्रष्टव्या। शारीरक भाष्य (२।३।३)

१ वेदान्तदर्शन का—'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् १।४।२३।
इस सूत्र के भाष्य म शङ्कराचार्य ने पूर्वपक्ष का समर्थन करते हुए कहा है—

सभी युक्तियों का ज्ञान हो जाने से न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय के प्राचीन परम्परागत अनेक युक्तियाँ भी समझी जायेंगी। 'भामती' टीकाकार वाचस्पतिमिश्र प्रभृति उन सब प्राचीन युक्तियों की व्याख्या कर गये हैं। अवश्य बाद में शङ्कराचार्य ने उपनिषदों के अनुसार वेदान्त सूत्रों की व्याख्या करते हुए विचारपूर्वक अंत:सिद्धान्तरूप में इसी का समर्थन किया है कि आकाश भी अनित्य है तथा परमेश्वर ही आकाश आदि जगत् प्रपञ्चों का निमित्तकारण होते हुए भी उपादानकारण हैं। अन्यथा छान्दोग्य उपनिषद् का एक ब्रह्म के ज्ञान से सभी विषयों के ज्ञान का उपदेश तथा इसके लिये अनेक दृष्टान्त जो कहे गये हैं वे उपपन्न नहीं हो सकते हैं। क्योंकि उपादानकारण तथा उसके कार्य में वास्तविक भेद नहीं रहने से उपादान कारण ज्ञात होने से ही उनके सभी कार्यों का ज्ञान होता है। अतः परमेश्वर का जगदुपादानत्व श्रुतिसिद्ध होने से वही प्रकृत सिद्धान्त है।

किन्तु उक्त मत में भी आकाश को नित्य कहने वाले पूर्वोद्धृत श्रुतिवाक्यों के यथाश्रुत अर्थ की रक्षा नहीं हुई है। परन्तु न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय के मत में परमेश्वर की संसार के प्रति उपादानकारणता युक्तिसङ्गत नहीं होने से वह शास्त्रार्थ नहीं हो सकता है। इन लोगों के मत में यह नहीं कहा जा सकता है कि जैसे मिट्टी घट का उपादानकारण है, सूत्रों का समूह वस्त्र का उपादान कारण है, उसी प्रकार परमेश्वर संसार का उपादानकारण है। क्योंकि उपादान कारण भूतद्रव्य पदार्थगत रूपादि विशेष गुण से ही उनके कार्यभूत द्रव्य में सद्गुणसजातीय रूपादिविशेषगुण उत्पन्न होता है। जैसे लाल सूतों से बना हुआ वस्त्र लाल ही होता है, नीलवर्ण का नहीं होता है। किन्तु चेतन परमेश्वर से उनका कार्य जड़ जगत विजातीय या अयन्य

---

* 'तत्र निमित्तकारणमेव तावत् केवलस्यादिति प्रतिभाति कस्मात्? ईक्षापूर्वककर्तृत्वश्रवणात्। ईक्षापूर्वकञ्च कर्तृत्वं निमित्तकारणष्वेव कुलालादिषु दृष्टम्। ईश्वरत्वप्रसिद्धेश्च। ईश्वराणांहि राजवैवस्वतादीनां निमित्तकारणत्वमेव केवलं प्रतीयते। तद्वत् परमेश्वरस्यापि निमित्तकारणत्वमेव युक्तम् प्रतिपत्तुम्। कार्यञ्चेदं जगत् सावयवमचेतनमशुद्धञ्च दृश्यते। कारणेनापि तस्य तादृशेनैव भवितव्यम्। कार्यकारणयोः सारूप्यदर्शनात्'। इत्यादि। के भामती टीका में वाचस्पति मिश्र ने इस मत की व्याख्या के लिए एक श्लोक लिखा है—

'ईक्षापूर्वक-कर्तृत्वम्, प्रभुत्वमसरूपता।
निमित्तकारणष्वेव नोपादानेषु कर्हिचित्॥

विमदृश होने से उनको जगत् का उपादान कारण नहीं कहा जा सकता है। परन्तु परमेश्वर ईक्षणपूर्वक संसार के सृष्टिकर्ता हैं और वे ही बाद में संहारकर्ता भी हैं। श्रुति ने कहा है—'स ऐक्षत'। सतोऽसृजत। सतपस्तप्त्वा इद सर्वमसृजत।' 'यस्य ज्ञानमयतपः'। ज्ञान ही उनकी तपस्या है। वे ज्ञानपूर्वक अर्थात् पूर्व कल्प में सृष्ट जगत की पर्यालोचनापूर्वक उसी के अनुसार पुनः जगत की सृष्टि करते हैं। किन्तु जो इस तरह से सृष्टिकर्ता हैं उनका निमित्तकारणत्व ही युक्तिसङ्गत है, जैसे यह लोकसिद्ध है कि विचार पूर्वक गृह आदि का कर्ता तथा सहर्ता व्यक्ति उस गृह का निमित्त कारण होता है।

परन्तु जो उपादान कारण के अध्यक्ष या अधिष्ठाता हैं—वे निमित्तकारण ही हैं। श्री भगवान् कहते हैं—

'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्तते॥'

उक्त श्लोक से ज्ञात होता है कि परमेश्वर प्रकृति का अध्यक्ष या अधिष्ठाता होने से वे असाधारण निमित्तकारण हैं। यह भी ज्ञात होता है कि परार्द्ध में निमित्तकारण बोधक 'हेतु' शब्द से उनका वह निमित्तकारणत्व ही व्यक्त किया गया है। अन्यथा यहाँ उस 'हेतु' शब्द के प्रयोग करने का प्रयोजन क्या है? प्रकृति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में अवश्य होता है। किन्तु नपुंसक लिङ्ग 'प्रधान' शब्द तथा 'प्रकृति' शब्द का अर्थ उपादान कारण होता है—यह प्रसिद्ध है। 'प्रधान प्रकृतिः स्त्रियाम्'। (अमरकोष) पूर्वोद्धृत भगवद्गीता के उस श्लोक के प्रकृति शब्द का अर्थ उपादान कारण है। परमेश्वर उसके अध्यक्ष या अधिष्ठाता हैं। उन के अधिष्ठान के बिना अचेतन उपादान कार्य का जनक नहीं हो सकता है। न्याय वैशेषिक संप्रदाय के मत में वह मूल उपादान कारण चारों प्रकार के परमाणु हैं[1] और वे परमेश्वर उन उपादान

---

[1] भाष्यकार शङ्कराचार्य ने अपने मत के अनुसार उस श्लोक के 'प्रकृति' शब्द की व्याख्या की है—'मम माया त्रिगुणात्मिका अविद्यालक्षणा प्रकृतिः।' किन्तु न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय अपने मत के अनुसार उस श्लोक में उपादान-कारण बोधक 'प्रकृति' शब्द से परमाणुओं को ही ग्रहण करते हैं। न्याय कुसुमाञ्जलि के पञ्चम स्तवक की तृतीय कारिका की व्याख्या में श्वेताश्वतर उपनिषद् के 'विश्वतश्चक्षुरुत' इत्यादि मन्त्र की तात्पर्य व्याख्या करते हुये उदयनाचार्य ने कहा है—'पतत्रैः परमाणुभिः प्राधानाधिष्ठे यत्नम्'। बाद में चतुर्थकारिका की व्याख्या में उन्होंने भगवद्गीता के 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः इत्यादि

कारणों के अधिष्ठाता संसार के असाधारण निमित्त कारण हैं। इसलिए वे (परमेश्वर) शास्त्रों में संसार के सनातन बीज के रूप से भी कहे गये हैं। 'भाषा परिच्छेद' के मङ्गलाचरण श्लोक में नैयायिक विश्वनाथ ने भी कहा है—'*तस्मै नमः कृष्णाय संसार महीरुहस्य बीजाय*'।

वस्तुतः परमेश्वर संसार का उपादान कारण न होने पर भी उपादान कारण के सदृश हैं। उपादान कारण जैसे अपने कार्य का आश्रय है वैसे परमेश्वर अपने कार्य रूप सभी संसारों का चरम आश्रय हैं। उपादानकारण में जैसे उसके कार्य प्रोत या अनुस्यूत रहते हैं उसी तरह से परमेश्वर में सकल संसार अनुस्यूत रहता है। अतएव ईश्वर का सर्वाश्रयत्व आदि को सुव्यक्त करने के लिए शास्त्रों में अनेक स्थलों में नाना भावों से वे उपादान कारण की तरह कहे गये हैं। अनेक प्रकारों के उपमा तथा रूपक अलङ्कारों के द्वारा ईश्वर *का सर्वाश्रयत्वादि व्यक्त करता हुआ वेही (ईश्वर ही) सर्वश्रेष्ठ कारण है*—यही व्यक्त किया गया है। श्री भगवान् ने भी कहा है[1]—

'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥'' गीता, ७।७।

उपनिषद् में यह अवश्य उपदेश किया गया है कि एक ब्रह्म के ज्ञान से सभी विज्ञात हो जाते हैं। किन्तु उससे ईश्वर में संसार की उपादान कारणता

श्लोकार्द्ध भी उद्धृत किया है। वहीं 'प्रकाशटीका'कार वर्धमान उपाध्याय ने व्याख्या की है 'प्रकृति परमाणुः' ॥

१ भाष्यकारशङ्कराचार्य ने व्याख्या की है—'मत्तः परमेश्वरात् परतरमन्यत् कारणान्तरं किञ्चिन्नास्ति न विद्यते, अहमेवजगत्कारणमित्यर्थः।' किन्तु *परतरशब्द से श्रेष्ठ अर्थ ही ज्ञात होता है। टीकाकार श्रीधरस्वामी ने भी* यहाँ व्याख्या की है—मत्तः सकाशात् परतरं श्रेष्ठम् जगतः सृष्टिसंहारयोः स्वतन्त्रं कारणं किञ्चिदपिनास्ति'। किन्तु उक्त श्लोक के अन्त में कहा गया 'सूत्रे मणिगणा इव' यह दृष्टान्तवाक्य कैसे सुसङ्गत तथा सार्थक होगा—यह विचार करना आवश्यक है। इस दृष्टान्त से सरलतया यही ज्ञान होता है कि सूत्र में ग्रथित मणिसमूह जैसे उस आश्रयभूत सूत्र से वस्तुतः भिन्न पदार्थ *हैं उसी तरह से संसार के आश्रय चेतन परमेश्वर से उसका आश्रित जगत्* वस्तुतः भिन्न है। भाष्यकार शङ्कराचार्य ने इस श्लोक में अनुक्त दृष्टान्त का उल्लेख करके व्याख्या की है—'दीर्घतन्तुषुपटवत् सूत्रे च मणिगणवत्।' किन्तु उस श्लोक में—दीर्घतन्तुषु पटवत्' ऐसा चतुर्थचरण ही क्यों नहीं कहा गया है—यह भी विचारणीय है।

सिद्ध नहीं होती हैं। क्योंकि 'योगिनस्ते प्रपश्यन्ति भगवन्तमधोक्षजम्'। योगी लोग ही योगज सन्निकर्ष से उनका अर्थात् भगवान् महेश्वर का अलौकिक मानसप्रत्यक्ष करते हैं। वेही महेश्वर सभी वस्तुओं के कर्ता सभी वस्तुओं के आश्रय तथा सर्वान्तर्यामी हैं। जिस समय मुमुक्षु योगी सर्वकर्तृत्व, सर्वाश्रयत्व तथा सर्वान्तर्यामित्व रूप में उस महेश्वर का प्रत्यक्ष करते हैं उस समय में संसार के सभी पदार्थ ही उस योगी के अलौकिक प्रत्यक्ष का विषय होने से उनके सभी ज्ञात हो जाते हैं। उस समय में उस योगी को अश्रुत विषयश्रुत हो जाता है। अमत-मत हो जाता है तथा अविज्ञात विषयों का साक्षात्कार हो जाता है। चरम ब्रह्म साक्षात्कार के फल स्वरूप मुमुक्षु योगियों के अपनी आत्मा के साक्षात्कार होने पर भी उस समय में उनके पूर्वोक्त सभी श्रवण मनन आदि सफल हो जाते हैं। उस समय में उनको और कुछ ज्ञातव्य नहीं रहता है। सारांश यह हुआ कि परमेश्वर के संसार का केवल निमित्त कारण होने पर भी उनके ज्ञान से सभी वस्तुओं के ज्ञान की उपपत्ति हो सकती है। मध्वाचार्य प्रभृति ने भी अपने मत के अनुसार इसका उपपादन किया है।

अवश्य छान्दोग्य उपनिषद के छठवें अध्याय में एक विज्ञान से सर्वविज्ञान का दृष्टान्त प्रदर्शन के लिये आगे कहा गया है—'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणम् विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्'—इत्यादि। शारीरक भाष्य में (१।४।२३) शङ्कराचार्य ने बाद में इस श्रुति को उद्धृत करते हुए कहा है—'हस्युपादान गोचर एवाम्नायते'। इसके मत में दृष्टान्त बोधक इन सभी श्रुतिवाक्यों का तात्पर्य यह है कि उपादान के ज्ञान होने से सभी विषयों का ज्ञान हो जाता है। जैसे एक मिट्टी के पिण्ड रूप उपादान कारण के ज्ञान से उसके कार्य सभी मृन्मय (मिट्टी के बने हुए) द्रव्यों का ज्ञान होता है। क्योंकि उपादानकारण से उसका कार्य वस्तुत भिन्न नहीं है। अतएव उपादानकारण ही सत्य है परन्तु उसमें कल्पित कार्य मिथ्या है। इसीलिए बाद में कहा गया है—'मृत्तिकेत्येव सत्यम्'।

लेकिन प्राचीन काल से छान्दोग्य उपनिषद् के इन सभी श्रुति वाक्यों की तात्पर्य व्याख्या अनेक तरह से की गयी है। परवर्ती समय में भी आचार्य शङ्कर कृत तात्पर्य व्याख्या का बहुत प्रतिवाद हुआ है। वस्तुत शङ्कराचार्य की व्याख्या में भी बहुत वक्तव्य है। पहली बात तो यह है कि इन सभी श्रुतिवाक्यों में एक मृत्पिण्ड प्रभृति उपादानकारण रूप में ही गृहीत हुआ है—यह सरल रूप से नहीं समझा जाता है। क्योंकि कोई एक मृत्पिण्ड सभी मृन्मय द्रव्यों का उपादानकारण नहीं होता है। किन्तु छान्दोग्य उपनिषद में वहीं बाद में कहा

गया है—'यथा सौम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणम्' इत्यादि, यानी एक ही नख को काटने वाला अस्त्र ज्ञात होने पर सभी 'कार्ष्णायस' (कृष्ण लोह से निर्मित द्रव्य) ज्ञात होते हैं। किन्तु कोई एक नखच्छेदक अस्त्र सभी कृष्णलोह निर्मित द्रव्यों का उपादान कारण नहीं होता है। उक्त स्थल में 'सर्व' शब्द का अर्थ सङ्कोच करके किसी एक मृत्पिण्ड को उससे निर्मित सभी मृन्मय द्रव्यों के उपादानकारण रूप में जानने से भी यह कैसे सम्भव होगा यह भी विचारणीय है। जो मिट्टी का पिण्ड घट का उपादानकारण होता है वही बाद में दूसरे मृन्मय द्रव्यों का उपादानकारण होता है—यह सर्वत्र संभव ही नहीं होता है।

किन्तु शङ्कराचार्य के मत में मृत्तिका भी तो पारमार्थिक सत्य नहीं है। अब, यह भी विचारणीय है कि—'मृत्तिका इत्येव सत्यम्' यह कैसे सङ्गत होगा और इस वाक्य में मृत्तिका शब्द के बाद 'इति' शब्द का प्रयोग क्यों हुआ है। और यह भी विचारणीय है कि मृत्तिका को व्यवहारिक सत्य मानने पर पारमार्थिक सत्य परब्रह्म का दृष्टान्त वह कैसे होगा। अवश्य कोई भी दृष्टान्त सभी अंशों में समान नहीं होता है—यह बात सत्य है। और यह सभी मतों के अनुसार मान्य है कि छान्दोग्य उपनिषद् में कहे गये दृष्टान्त सभी अंशों में समान नहीं हो सकते हैं। किन्तु घट आदि मृन्मय द्रव्यों का उपादान कारण मृत्तिका यदि व्यवहारिक सत्य ही है तो घट आदि द्रव्य को एकान्ततः असत्य या असत् नहीं कहा जायगा। किन्तु घटादि-द्रव्य कल्पित मिथ्या है, उपादानकारण मृत्तिका से यथार्थ में उसका कोई भेद नहीं है—यह सर्वसम्मत न होने से इसको दृष्टान्त नहीं कहा जा सकता है। असत्कार्यवादी न्यायवैशेषिक संप्रदाय ने उपादान कारण तथा उसके कार्य में वास्तविक भेद का ही समर्थन किया है। तत्ववादी मध्वाचार्य भी जगत् के कर्ता परमेश्वर से जीव तथा जगत् में ऐकान्तिक भेदवाद के ही प्रधान समर्थक हैं।

जो भी हो, प्रकृत विषय में संक्षेपतः एक प्रकार से यही वक्तव्य है कि उक्त श्रुतिवाक्य में नित्यार्थक 'सत्य' शब्द से स्थायित्व मात्र ही विवक्षित है। यह भी हम समझ सकते हैं, और उससे पहले 'वाचारम्भण' शब्द से अस्थायित्व विवक्षित है। 'वाचा' शब्द का अर्थ वाक्य तथा 'आरम्भण' शब्द का अर्थ उत्पत्ति या सृष्टि है। 'वाचया संज्ञाशब्दयुक्तवाक्येन आरम्भणं सृष्टिरेव', ऐसी व्याख्या से ज्ञात होता है कि 'वाचारम्भण' शब्द का अर्थ सृष्ट वस्तु है। क्योंकि सृष्ट वस्तु मात्र ही उसके संज्ञाविशेषयुक्त वाक्य के सहारे सृष्ट होती है। जैसे मिट्टी से घट आदि किसी द्रव्य के निर्माण से पहले निर्माता 'मैं घट

बनाऊँगा' अथवा (ढक्कन) 'शराव' 'बनाऊँगा' इस तरह से किसी संज्ञा विशेष से युक्त वाक्य का अवलम्बन करता है। अन्यथा विविध नामों के विविध प्रकारों के द्रव्य की सृष्टि नहीं हो सकती है। परमेश्वर की सृष्टि भी उसी तरह की है—यह श्रुतिसिद्ध है[1]। सभी सृष्ट भाव पदार्थ विनश्वर तथा अस्थायी हैं, अतः ज्ञात होता है कि उपनिषद में अस्थायित्व के तात्पर्य में ही 'वाचारम्भण' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इसीसे पूर्वोक्त श्रुतिवाक्यों का यह तात्पर्य भी ज्ञात होता है कि घट आदि द्रव्य तथा मृत्तिका (मिट्टी) में कार्यकारणभाव को जानने वाले व्यक्ति किसी मृत्पिण्ड को देखकर उसी समय उससे होने वाले सभी मृन्मय द्रव्यों को जान लेते हैं। कैसे वह ज्ञात होता है? इसलिये बाद में कहा गया है—

वाचारम्भण विकारो नामधेयम्' इत्यादि। अर्थात् वे उस समय में समझ सकते हैं कि इस मिट्टी से विविध मृन्मय द्रव्यों का निर्माण होता है किन्तु वे सभी विकारभूत द्रव्य तथा उन द्रव्यों का पृथक् पृथक् नाम वाचारम्भण यानी अस्थायी है।

किन्तु—'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' उन सभी मृन्मय द्रव्यों का मूल मिट्टी ही स्थायी है। मृत्तिका शब्द के बाद प्रकारार्थक 'इति' शब्द के द्वारा व्यक्त हुआ है कि मृत्तिकात्व प्रकार से यानी मृत्तिकात्व रूप से ही मृत्तिका स्थायी है किन्तु घटत्व आदि रूप से वह स्थायी नहीं है।

इस तरह से योगी जब संसार के कर्ता के रूप में उस ईश्वर का प्रत्यक्ष करते हैं जब वे समझते हैं कि परमेश्वर के द्वारा निर्मित समग्र संसार कुछ भी स्थायी नहीं है किन्तु परमेश्वर ही केवल चिरस्थायी सत्य है। उक्त रूप से एक परमेश्वर के ज्ञान से ही तब उनको संसार का तत्व-साक्षात्कार हो जाता है। अतः उस समय में उन लोगों को अश्रुत विषयश्रुत हो जाता है। अमत मत हो जाता है तथा अविज्ञात विज्ञात (साक्षात्कृत) हो जाता है। और अन्तिम ब्रह्म ज्ञान के फल में उनका अपना आत्मसाक्षात्कार हो जाने से वे उस समय में कृतकृत्य हो जाते हैं। तब उन्हें और कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रह जाता है।

---

१. भगवान् शङ्कराचार्य ने भी कहा है—तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दाः मनसि प्रादुर्बभूवुः, पश्चात्तदनुगतानर्थान् ससर्जेति गम्यते, तथा च श्रुतिः—'स भूरिति व्याहरत्, स भूमिमसृजत्' (तैः ब्राः २।२।४।२) इत्येवमादिका भूरादि शब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान् सृष्टान् दर्शयति'।—शारीरक भाष्य (१।३।२८)।

किन्तु उक्त मत में परमेश्वर में जीव तथा जगत् के भेद का दर्शन होने पर भी परमेश्वर के अनुग्रह की प्राप्ति के लिए पहले उनको सर्वस्वरूप के रूप में ध्यान करना होगा। सर्वत्र ब्रह्म की भावना तथा भेद में अभेद का ध्यान, साधकों का अवश्य कर्तव्य उपासनाविशेष है। इसीलिए शास्त्रों में विविध स्थलों में तथा परमेश्वर की अनेक स्तुतियों में उन (ईश्वर) के सर्वस्वरूपत्व का वर्णन हुआ है। इस तन्त्र में 'जगद्धात्री कल्प' में जगद्धात्री स्तव के पहले पाठ करते हैं—

'परमाणुस्वरूपे च द्व्यणुकादिस्वरूपिणि।
स्थूलातिस्थूलरूपे च जगद्धात्रि! नमोऽस्तु ते॥'

आठवाँ अध्याय

(कणाद तथा गौतम के सिद्धांत उनके स्वकल्पित नहीं हैं।)

शिष्य—आप महर्षि कणाद तथा गौतम के मतों को श्रुतिविरुद्ध नहीं कहेंगे यह मैंने समझा है। किन्तु शास्त्रों में यही तो कहा गया है कि अक्षपाद गौतम प्रणीत न्यायदर्शन में तथा कणाद प्रणीत वैशेषिक दर्शन में कोई कोई अंश श्रुतिविरुद्ध है। अतः वह अंश परित्याज्य है।

गुरु—ऐसा किस शास्त्र में कहा गया है? शास्त्र में यदि यह कहा गया होता तो भगवान् शंकराचार्य प्रभृति पूर्वाचार्यों ने उसे क्यों नहीं कहा है? क्या वे लोग उस शास्त्र-वचन को नहीं जानते थे? और यदि अर्वाचीन विद्वान् विज्ञान भिक्षु के द्वारा उद्धृत पराशरोपपुराण के वचन को[1] तुम शास्त्र कहकर स्वीकार करते हो तो उनके ही द्वारा उद्धृत पद्मपुराण के वचन का क्या अपराध है? सांख्य प्रवचन भाष्य के आरम्भ में विज्ञान भिक्षु—'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेवच' इत्यादि वचनों को उद्धृत किया है। उन सब वचनों के द्वारा शंकराचार्य के द्वारा व्याख्यात 'मायावाद' को अवैदिक तथा प्रच्छन्न बौद्धमत कहा गया है। किसी-किसी वैष्णव आचार्य ने भी उन सब वचनों को उद्धृत किया है, परन्तु 'अद्वैत ब्रह्मसिद्धि' ग्रन्थ में काश्मीरक सदानन्द यति—'सांख्यकृद्भिक्षोदाहृतम्' यह कह कर सांख्य भाष्यकार विज्ञानभिक्षु के द्वारा उद्धृत 'अक्षपादप्रणीतेच' इत्यादि दोनों श्लोकों का उद्धरण देकर अपने मतका समर्थन करने पर भी उनके ही उद्धृत—'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च' इत्यादि वचन का विचार या उल्लेख क्यों नहीं किया है?

यदि यह कहते हो कि विज्ञानभिक्षु के द्वारा उद्धृत अद्वैतवाद के निन्दा-बोधक वे सब वचन असङ्गत या विरुद्धार्थ होने से वे प्रमाण नहीं हो सकते; परवर्ती समय में इन सभी श्लोकों को बनाकर पद्मपुराण में जोड़ दिया गया है, तो मैं भी इससे सहमत हूँ। किन्तु तब ऐसी स्थिति में विज्ञानभिक्षु के उद्धृत

---

1. 'अक्षपादप्रणीते च काणादे च सांख्ययोगयोः।
त्याज्यः श्रुतिविरुद्धांशः श्रुत्येकशरणैर्नृभिः।
जैमिनीये च वैयासे विरुद्धांशो न कश्चन
श्रुत्या वेदार्थविज्ञाने श्रुतिपारं गतौ हि तौ।'
('सांख्य प्रवचन भाष्य में विज्ञानभिक्षुका उद्धृत वचन')

उक्त वचनों को '(अक्षपादप्रणीते च' सदानन्द यति कैसे प्रमाणों के रूप में स्वीकार करेंगे ? उस वचन में कहा गया है कि न्याय, वैशेषिक, एव सांख्य योग दर्शनों में श्रुतिविरुद्ध अश है। जैमिनि के मीमासा दर्शन में तथा व्यास के वेदान्तदर्शन में श्रुतिविरुद्ध कोई भी अश नहीं है। क्योंकि वे दोनों ही वेद के पारगत थे। किन्तु क्या अद्वैतवादी शकराचार्य के मत में भी जैमिनि के पूर्व मीमासा दर्शन में श्रुतिविरुद्ध कोई अश नहीं है ? वेदान्तदर्शन के देवता धिकरण प्रकरण के भाष्य में शकराचार्य ने देवताओं के भी शरीर होते हैं एव उन लोगों को भी ब्रह्म विद्या का अधिकार है—इस सिद्धान्त के समर्थन में इसके विरुद्ध जैमिनि के मतों का जो खण्डन किया है—क्या यह इनके मत में श्रुति विरुद्ध नहीं है ? तब शकराचार्य के अद्वैतवाद को मानने वाले सदानन्द यति भी विज्ञान भिक्षु के द्वारा उद्धृत उक्त वचनों का प्रामाण्य मान सकते। क्योंकि स्पष्ट कहा गया है—"जैमिनीये च वैयासे विरु न कश्चन'

परन्तु कोई समन्वय की व्यर्थवासना से न्याय आदि दर्शनों के मतों वेदान्त सिद्धान्त के अविरुद्ध कहने पर भी उक्त वचनों का प्रामाण्य नहीं सकते। लेकिन परवर्ती काल में अद्वैत मतनिष्ठ कोई महामनीषी भी वि भिक्षु के द्वारा उद्धृत उन वचनों को शिरोधार्य करके दूसरे दूसरे दर्शन मतों को छोड़ते हुए निःशकचित्त से इस वेदान्तदर्शन के मत का अनुसरण सकते हैं"—आदि बातों को भी लिख गये हैं।[१] किन्तु उक्त वचन के अनु जैमिनि के दर्शन में भी श्रुतिविरुद्ध अश न रहने पर वह भी परित्याज्य होगा ? वेदान्तदर्शन के निजी सिद्धान्त क्या हैं इसके बारे में भी अनेक प्रति

---

१ अद्वैतमतनिष्ठ महामहोपाध्याय चन्द्रकान्त तर्कालकार महोदय ने आदि दर्शनों के मतों को वेदान्त सिद्धान्त का अविरुद्ध कहकर विज्ञानभि द्वारा उद्धृत पराशरोपपुराण के—अक्षपाद प्रणीतेच इत्यादि दोनों श्लोक उद्धरण देते हुये एव उसी के अनुसार जैमिनि दर्शन म कुछ भी वेद विरुद्ध नहीं है—ऐसा कह कर लिखा है— पराशर कहते है—अन्य दर्शनों म अश श्रुतिविरुद्ध भी है। इस स्थिति म महाजनों के उपदेश को ही शिरो करके हम अन्य दर्शनों के मतों को छोड़कर निःशङ्क होकर वेदान्तदर्शन अनुसरण कर सकते हैं। इससे कुछ भी अनिष्टापत्ति की आशका नहीं है। प्र साहस के साथ यह कहा जा सकता है कि वेदान्त सिद्धान्त की उपेक्षा क अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों के अनुसरण म ही अनिष्टापत्ति की सम्भावना। देखिए—फ्लोसफिक लेक्चर पञ्चम वर्ष पृ० ५१ तथा १८० पंक्ति।

प्राचीनमत है। अतः निःशंकचित्त से वेदान्तदर्शन के किस मत का अनुसरण करना चाहिए यह भी हम निःशंकचित्तसे कह नहीं सकते इसलिए विज्ञानभिक्षुके द्वारा उद्धृत उक्त वचन को आश्रय करने से ही सभी विवादों की निवृत्ति की आशा कहाँ है ? अवश्य महाभारत के भीष्मपर्व में कहा गया है—'अचिन्त्याः खलु ये भावास्तान्न तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥'५।१२।

दूसरे स्थल में उक्त वचन के परार्द्ध में—'नाप्रतिष्ठित तर्केण गम्भीरार्थस्य निश्चय' ऐसा पाठ है। यह उस श्लोक की व्याख्या में नीलकण्ठ ने कहा है। वास्तव में अप्रतिष्ठित तर्क से गम्भीर तत्त्व अर्थात् अतिदुर्ज्ञेय अचिन्त्य अलौकिक तत्त्व का निर्णय नहीं हो सकता है। यहाँ तर्क पद का अर्थ अनुमान है। श्रुति-निरपेक्ष स्वबुद्धिकल्पित तर्क एवं श्रुति का विरोधी तर्क अप्रतिष्ठित तर्क कहलाता है। इसी को कुतर्क भी कहते हैं। वेदान्तदर्शन के—'तर्काप्रतिष्ठानात्' इत्यादि सूत्र में भी तर्क को ही अप्रतिष्ठा कहा गया है।[१] शंकराचार्य ने भी तर्कमात्र को अप्रतिष्ठित नहीं कहा है। क्योंकि ऐसा कहा ही नहीं जा सकता है, किन्तु वेदान्तदर्शन के द्वितीय सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने कहा है—'श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपगतत्वात्।' पहले उनकी ये सब बातें कह चुका हूँ।

फलित कथन यह है कि अलौकिक या अचिन्त्य के बारे में श्रुति के अनुकूल अनुमानात्मक तर्क ही ग्राह्य है। इसी तात्पर्य से कूर्मपुराण में कहा गया है—'श्रुतिसाहाय्यरहितमनुमानं न कुत्रचीत्'। किन्तु यह तो मैं नहीं कह सकता कि महर्षि कणाद तथा गौतम श्रुति को जानते ही नहीं थे। अथवा जानते हुए भी उसकी अपेक्षा नहीं करके केवल तर्क से ही इन सभी मतों का समर्थन

[१] अद्वैतमतनिष्ठ महामहोपाध्याय चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार महाशय ने न्याय आदि दर्शनों के मतों को वेदान्त सिद्धान्त का अविरुद्ध कहकर विज्ञानभिक्षु के द्वारा उद्धृत पराशरोपपुराण के—'अक्षपादप्रणीते च' इत्यादि श्लोकों का उद्धरण देते हुए एवं उसीके अनुसार जैमिनिदर्शन में कुछ अंश वेद विरुद्ध अंश नहीं है—ऐसा कहकर लिख गये हैं—'पराशर कहते हैं—अन्य दर्शनों में कुछ अंश श्रुतिविरुद्ध भी है। इस स्थिति में महाजनों के उपदेश को ही शिरोधार्य करके हम अन्य दर्शनों के मतों को छोड़कर निःशङ्क होकर वेदान्त दर्शन का अनुसरण कर सकते हैं। इससे किसी अनिष्टापत्ति की सम्भावना नहीं है। प्रत्युत साहस के साथ यह कहा जा सकता है कि वेदान्त के उपदेश करके अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों के अनुसरण से ही अनिष्टापत्ति की सम्भावना है। देखिए—फेलोसिप लेक्चर, पञ्चमवर्ष, पृ० ७१ तथा १०८।

कर गये हैं। अथवा उन्होंने शास्त्र की अपेक्षा अनुमानात्मक तर्क को प्रबल कहा था। क्योंकि उन्होंने भी शास्त्रविरुद्ध अनुमान का प्रामाण्य नहीं माना है। अतएव महर्षि गौतम ने किसी विषय के प्रतिपादन में अपना सिद्धान्त समर्थन करने के लिये कहा है—'श्रुतिप्रामाण्याच्च' ३।१।३१। महर्षि कणाद ने भी आत्मा की अनेकता का सिद्धान्त समर्थन करने के लिये अन्तिम सूत्र कहा है—'शास्त्रसामर्थ्याच्च' ३।२।२१। और बहुत स्थलों में कणाद ने किसी-किसी विषय की सिद्धि में वेद को ही प्रमाण कहकर उस विषय में अनुमान स्वतन्त्र रूप से प्रमाण नहीं—यही व्यक्त किया है। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि कणाद तथा गौतम का सिद्धान्त उन लोगों के स्वकल्पित हैं।

वस्तुतः ऋषिप्रतिपादित सभी सिद्धान्तों का मूल वेद है। किन्तु वेद के अनेक अंश विलुप्त हैं तथा अनेक सुप्राचीन पद्य एवं अनेक सूत्र भी लुप्त हो गये हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में (२।४) देखा जाता है "श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैव एतानि सर्वाणि निःश्वसितानि।" अतः यह भी हम समझ सकते हैं कि न्यायदर्शन के मूलभूत अनेक श्लोक तथा सूत्र प्राचीनकाल में विद्यमान थे।

वस्तुतः न्यायशास्त्र वेद का उपाङ्ग है—यह पुराण में ही कहा गया है। बाद में महर्षि गौतम के न्यायसूत्र की रचना करने पर भी वे अपनी बुद्धि के बलपर किसी पृथक् किसी न्यायशास्त्र के स्रष्टा नहीं थे। भाष्यकार वात्स्यायन ने भी अन्त में कहा है कि अक्षपाद ऋषि को न्यायशास्त्र प्रतिभात हुआ था और जिन अद्वैतवादी सदानन्द यति ने—'अक्षपादप्रणीते च' इत्यादि वचन उद्धृत किया है उन्होंने ही बाद में कहा है कि गौतम आदि ऋषि न्याय प्रभृति शास्त्रों के स्मरण करनेवाले हैं। परन्तु बुद्धिपूर्वक उसका निर्माण करने वाले नहीं हैं।[1]

परन्तु प्राचीन काल से ही वेद के विविध अर्थवाद वाक्यों का आश्रय लेकर अनेक प्रकार से उन वाक्यों की व्याख्या करते हुए द्वैतवादी एवं अद्वैतवादी आचार्यगण अनेक सिद्धान्तों का प्रचार कर गये हैं। उन सिद्धान्तों को तथा उनके प्रतिपादक सांख्य आदि दर्शनों को प्राचीन काल में 'प्रवाद' नाम से भी कहा गया है। 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ में महामनीषी भर्तृहरि ने भी ऐसा कहा है।[2]

---

१ गौतमादिमुनीनां तत्तच्छास्त्रस्मारकत्वमेवयुज्यते न तु बुद्धिपूर्वं कर्तृत्वम्। तदुक्तम् ब्रह्माद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मारकाः नतु कारका' इति।

(अद्वैतब्रह्मसिद्धि, प्रथममुद्गर)

२ तस्यार्थवादरूपाणि निश्चित्य स्वविकल्पजाः।
एकत्विनां द्वैतिनाञ्च प्रवादा बहुधामताः' ॥ ७ ॥

योगदर्शन के भाष्य में (४।२१) व्यासदेव ने भी कहा है—'सांख्ययोगादयस्तु प्रवादाः।'[1]

अतएव यह भी मानना होगा कि वेद के अर्थ की व्याख्या में भेद होने से भी अनेक मतभेद का प्रकाश हुआ है। तब यह भी हम कैसे कह सकते हैं कि कौन मत श्रुतिविरुद्ध और कौन मत श्रुतिसम्मत है। किसी भी आचार्य ने श्रुतिविरुद्ध अनुमानात्मक तर्क का प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया है। यह अवश्य ही सत्य है कि एक ही समय में एक ही स्थान में भूत, भविष्य तथा वर्तमान सभी तार्किकों को इकट्ठा करके तर्क के द्वारा सभी के ऐकमत्य से किसी सिद्धान्त का निर्णय करना सर्वथा असम्भव है।

परन्तु भूत, भविष्य तथा वर्तमान सभी वेदव्याख्यासमर्थ पण्डितों को एकत्रित करके सबों के ऐकमत्य से प्रकृतवेदार्थ का निर्णय करना भी तो सर्वथा असम्भव है। तर्क से सिद्धान्त के निर्णय करते समय जैसे तार्किकों के बुद्धि भेद से तर्क के भेद के कारण नाना मतभेद अवश्यम्भावी हैं उसी प्रकार वेद की व्याख्या से सिद्धान्त का निर्णय करते समय भी तो व्याख्या के भेद से नाना मतभेद अवश्यम्भावी है। क्योंकि विचार के बिना अति दुर्बोध वेदार्थ का निर्णय हो ही नहीं सकता। तर्क के बिना भी वेदार्थ का विचार हो नहीं सकता। शंकराचार्य ने भी कहा है कि वेदार्थ के विषय में विवाद उपस्थित होने पर तर्क विशेष से ही प्रकृतार्थ का निश्चय करना है। आगे आकर मनुवचन से भी इन्होंने इसकी पुष्टि की है।[2]

अतः वेदार्थ के विषय में जब तर्क सबों को मान्य है तब तर्क के भेद से वेदार्थ में भी मतभेद अवश्य ही होगा। बिना विवाद के जब तक वेदार्थ का निर्णय नहीं हो जाता है, तब तक कोई भी विद्वान् किसी के तर्क को वेदविरुद्ध करके प्रमाणित नहीं कर सकते हैं। इसलिये अलौकिक तथा अचिन्त्य तत्त्वनिर्णय के लिये श्रुतिदेवी का आश्रय करने पर भी सभी विवादों की निवृत्ति की आशा कहाँ है!

---

१. सांख्यश्च योगश्च त एवादयो येषां वैशेषिकादिप्रवादानाम्, सांख्ययोगादयः प्रवादाः। (वाचस्पति मिश्र कृतटीका)

२. अयमर्थं विप्रतिपत्तौ वाक्याभासनिराकरणेन सम्यगर्थनिर्धारणम् तर्केणैव वाक्यवृत्तिनिरूपणेन क्रियते। मनुरपि चैवं मन्यते—

'प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता।' इति
आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥" १२।१०५–१०६।
इति च ब्रुवन्।—शारीरक भाष्य २।१।११।

शिष्य—बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है 'असङ्गोऽह्यय पुरुष' ४।३।१५। और बाद में पहले काम तथा सङ्कल्प आदि का उल्लेख करके कहा गया है—'एतत्सर्वमन एव'। बाद में भी स्पष्ट कहा गया है—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिता'। अत उन सभी श्रुतिवाक्यों से यह तो स्पष्ट प्रतत होता है कि जीवात्मा असङ्ग है अर्थात् निर्गुण तथा निर्लिप्त है और इच्छा विशेषात्मक काम तथा उसका कारणज्ञान और उसका फल सुख दुःख आदि मन का ही धर्म है। एव 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि सुप्रसिद्ध श्रुति महावाक्य के द्वारा स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि जीवात्मा परब्रह्म से वस्तुत अभिन्न है। अब यह तो मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि गौतम तथा कणाद का उक्त मत किस प्रकार श्रुतिविरुद्ध नहीं है।

गुरु—इस विषय में बहुत कहा जा सकता है किन्तु मैं यहाँ संक्षेप में ही न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय की बातें तुम्हें अपनी बुद्धि के अनुसार कह रहा हूँ।

पहली बात तो यह है कि—'असङ्गोह्यय पुरुष' इस श्रुति वाक्य के 'असङ्ग' पद का निष्क्रिय या निर्विकार अर्थ है। इनसे यह नहीं सिद्ध होता है कि आत्मा यथार्थत निर्गुण है। कोई कोई कहते हैं कि (सङ्ग सघात का पर्याय है, अतएव) असङ्ग पद का आत्मा सघात रूप नहीं है—यह अर्थ होता है। आत्मा असहत पुरुष है—इसी अर्थ में उस पद का तात्पर्य है जिसमें विविध वस्तुओं का सङ्ग या सश्लेष रहता है वही सहत पदार्थ है किन्तु आत्मा उस तरह का नहीं है, आत्मा अनेक वस्तुओं का समष्टिरूप नहीं है।

अवश्य बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है—"एतत् सर्वं मन एव"। किन्तु वहाँ पहले मन, वाक्य और प्राण को जीवात्मा के ज्ञान का प्रधान साधन कहने के लिए पहले मन के साथ जीवात्मा का विलक्षण संयोग नहीं होने से जीवात्मा का ज्ञान आदि उत्पन्न नहीं होता है—यही कहा गया है।

बाद में—'मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति, इस वाक्य से यह कहा गया है कि जीवात्मा का दर्शन आदि ज्ञान का प्रधान साधन है। पश्चात् काम आदि का उल्लेख करके कहा गया है।'[१] 'एतत्सर्वं मन एव'। किन्तु इस श्रुति के अन्तिम वाक्य से यही ज्ञात होता है कि काम आदि को मन ही कहा गया है। उसका धर्म नहीं। कारण और कार्य में अभेद के प्रकाश से काम आदि के

---

१ 'त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनोवाचं प्राणम् ता यात्मनेऽकुरुता यत्रमना अभूव नादर्शं म यत्रमना अभूवम् नाश्रौषमिति, मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। काम सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।'—बृहदारण्यक १।५।३।

उत्पादक कारण समूहों में मन का प्राधान्य बतलाना ही उसी तरह के प्रयोग का उद्देश्य है। उसी को औपचारिक प्रयोग कहते हैं। जैसे अन्यत्र भी श्रुति ने कहा है—'अन्न वै प्राणिनां प्राणाः'। यह सर्वसम्मत औपचारिक प्रयोग है। क्योंकि अन्न ही प्राण नहीं है। वास्तव तत्र यह है कि—'एतत्सर्वं मन एव' इस वाक्य से यह नहीं सिद्ध होता है कि काम आदि मन के धर्म हैं। किन्तु 'मनसाह्येव पश्यति, मनसाश्रृणोति' इस वाक्य से यह अवश्य ज्ञात होता है कि ज्ञान आत्मा का ही धर्म है। क्योंकि जीवात्मा ही मन के द्वारा दर्शन तथा श्रवण करता है। तथा वह ज्ञान उस (आत्मा) में उत्पन्न होता है, अर्थात् जीवात्मा उस ज्ञान का आश्रय है—यही समझा जाता है।

परन्तु प्रश्न उपनिषद् में जीवात्मा के स्वरूप वर्णन के प्रसंग में कहा गया है कि—'एष हि द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष' ।४।९। उस श्रुति के द्रष्टा आदि पद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीवात्मा चक्षु आदि इन्द्रियों से होने वाले सभी प्रत्यक्षज्ञान का तथा अन्यान्य सभी ज्ञान का भी कर्ता है। जीवात्मा उन सभी ज्ञानों का आश्रय न होने पर उन सबों का कर्ता नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ज्ञान का आश्रयत्व ही ज्ञान का कर्तृत्व है। आगे जाकर कहा गया है—'विज्ञानात्मा'। भाष्यकार शङ्कराचार्य ने इसकी व्याख्या की है—'विजानातीति इत्यर्थः'। वेदान्तदर्शन में महर्षि बादरायण ने कहा है—'तद्गुण सारत्वात् तुतद्व्यपदेश प्राज्ञवत्' २।३।२९। श्री भाष्यकार आचार्य रामानुज ने इसकी व्याख्या की है—'तद्गुणसारत्वात् विज्ञान गुण सारत्व तु आत्मनो विज्ञान मिति व्यपदेशः। विज्ञान मेवाऽस्य सारभूतोगुण'। आचार्य रामानुज के मत में जीवात्मस्व प्रकाश अणु चैतन्य स्वरूप होने पर भी जन्य ज्ञान उसका सारभूत या प्रधान गुण है। किन्तु न्याय तथा वैशेषिक सम्प्रदाय के मतानुसार गुण पदार्थ द्रव्य में आश्रित है, आत्मा ज्ञान का आश्रय विभु एवं द्रव्य पदार्थ है, वह ज्ञानस्वरूप नहीं है। किन्तु आत्मा विज्ञानस्वभाव है, अतएव विज्ञान शब्द से भी शास्त्रों में कहा गया है।

इस तरह से जीवात्मा ही शुभ तथा अशुभ कर्मों का कर्ता और उन कर्मों के फलों का भोग करने वाला है। अतएव जीवात्मा के लिए ही शास्त्रों में शुभ तथा अशुभ कर्मों की विधि तथा निषेध उपदिष्ट हुआ है। श्रीकृष्ण भगवान् ने भी अर्जुन से कहा है—'नियत कुरु कर्म त्वम्' (गीता ३।८)

प्रश्न उपनिषद् के पूर्वोक्त श्रुति वाक्य में भी जीवात्मा को कर्ता कहा गया है। उसी के अनुसार वेदान्तदर्शन में—"कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' २।३।३३। इत्यादि अनेक सूत्रों के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि जीवात्मा कर्ता है। आचार्य रामानुज ने श्रीभाष्य में उन सूत्रों से आत्मा के वास्तविक कर्तृत्व

की ही व्याख्या की है। भगवद्गीता के—'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' इत्यादि श्लोक से भगवान् को यह विवक्षित नहीं है कि आत्मा में यथार्थ कर्तृत्व का अभाव है—यह भी कहकर आचार्य रामानुज ने अपनी इस व्याख्या का समर्थन किया है।[1] किन्तु उन्होंने भी प्रश्नोपनिषद् के उक्त वेदवाक्य के अनुसार जीवात्मा में ज्ञान आदि गुण के अस्तित्व का समर्थन किया है। बृहदारण्यक में कहा है—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ४।४।७ *किन्तु इससे पहले 'आत्मनस्तु कामाय' इस तरह के वाक्य भी तो अनेक बार कहे* गये हैं। अतः उससे तो ज्ञात होता है कि सरल रूप से यह काम इच्छाविशेष रूप तथा काम्य सुख ये दोनों ही आत्मा के गुण हैं। इसीलिए न्याय तथा वैशेषिक सम्प्रदाय ने यही समझकर कहा है कि इच्छा साक्षात् सम्बन्ध से जीवात्मा के धर्म हैं तथा ज्ञान प्रयत्न सुख एवं दुःख आदि भी साक्षात्संबन्ध से जीवात्मा के धर्म हैं। परन्तु मनस् के साथ *विलक्षण संयोग के बिना जीवात्मा*

---

१ श्रीभाष्यकार आचार्य रामानुज ने भगवद्गीता के—'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। *अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते*' ३।२७। इस श्लोक का उद्धरण देते हुए कहा है कि जीवात्मा में वास्तविक कर्तृत्व नहीं है—सभी जीवों का मैं ही कर्ता हूँ—इस तरह का ज्ञान भ्रमात्मक है—यही इस श्लोक का तात्पर्य है। किन्तु सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन त्रिगुणात्मिका प्रकृति का सम्बन्ध प्रयुक्त ही जीवात्मा का सांसारिक कर्मों का कर्तृत्व होता है। अन्यथा केवल जीवात्मा किसी कार्य का कर्ता नहीं हो सकता है—यही इसका तात्पर्य है। भगवद्गीता में आगे जाकर भी—'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः' इत्यादि श्लोक से उक्त तात्पर्य को ही व्यक्त किया गया है। आचार्य रामानुज ने भगवद्गीता के अन्यान्य श्लोकों का उद्धरण देकर अपने द्वारा व्याख्यात तात्पर्य का समर्थन किया है। न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय के आचार्य ने भी उन गीता श्लोकों का यही तात्पर्य है, इस प्रकार की व्याख्या की है, किन्तु उन लोगों के मत से उक्त श्लोक के प्रकृति शब्द का अर्थ है जीवात्मा का अदृष्ट। सत्त्व, रजस् तथा तमस् ये सब जीव के अदृष्टविशेष का ही नाम है, उसी अदृष्ट से जीव का ज्ञान तथा इच्छा उत्पन्न होने से जीव अनेक कर्म करते हैं। इसी तात्पर्य से श्रुति ने कहा है—'गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता' (श्वेताश्वतर ५।७।) फलित वचन यह है कि मैं कर्ता हूँ—जीव का ऐसा ज्ञान भ्रमात्मक नहीं है किन्तु मैं ही कर्ता हूँ—मैं कर्ता होने में स्वाधीन हूँ—यह ज्ञान भ्रम है। अतः इसी तात्पर्य से भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है—'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते।'

में वे सब नहीं हों तो आत्मासयुक्त मन में भी परम्परा सम्बन्ध से आत्मा के वे सब धर्म रहते हैं। अत इसी परम्परा सम्बन्ध के तात्पर्य में श्रुति ने कहा है—'कामा येऽस्य हृदिश्रिता'। तथा साक्षात् सम्बन्ध के तात्पर्य से श्रुति ने कहा है—'आत्मनस्तु कामाय'। इस तरह के साक्षात् सम्बन्ध के तात्पर्य से इस ससार में मेरा ज्ञान मेरी इच्छा, मेरा सुख, मेरा दुःख ऐसा प्रयोग होता है। और पर म्परा सम्बन्ध के तात्पर्य से मेरे मन का ज्ञान, मन की इच्छा, मन का सुख, मन का दुःख ऐसा भी प्रयोग होता है आदि व्यवहार भी होता है। आत्मा में उत्पन्न सुख आदि साक्षात् सबन्ध कर ही नैयायिक विश्वनाथ पञ्चानन ने भी सिद्धान्तमुक्तावली के आरम्भ में कहा है—'मनसो मुद वितनुताम्'।

असली बात यह है कि महर्षि कणाद तथा गौतम ने यह नहीं माना है कि जीवात्मा निर्गुण है एव ज्ञान आदि उसके वास्तविक गुण नहीं हैं। मैं जानता हूँ, मैं इच्छा करता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ—इत्यादि सार्वजनिक बोध को उन्होंने भ्रम नहीं कहा है। मीमांसक प्रभृति और अनेक सप्रदायों ने भी ज्ञान आदि को आत्मा का ही वास्तविक गुण कहा है। और यह भी तो तुम्हारा चिन्तनीय है कि वस्तुत आत्मा म यदि कोई गुण पदार्थ नहीं है तो श्वेताश्वतर उपनिषद् के—'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव' ५।८। इत्यादि वाक्यों की उपपत्ति कैसे होगी।

और 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतिवचनों का उल्लेख जो तुमने किया है उन श्रुतियों के सम्बन्ध में न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय का वक्तव्य यह है कि उन सब वाक्यों के द्वारा जीव और परब्रह्म में अभेद ही तत्त्व है—ऐसा उपदेश नहीं किया गया है। किन्तु—'सोऽहम्' यानी मैं ब्रह्म हूँ इस तरह के ध्यान की कर्त्तव्यता उपदिष्ट हुई है। अर्थात् उक्त रूप से आत्मोपासना के विधान में ही उन सब वाक्यों का तात्पर्य है। प्राचीन मीमांसक सम्प्रदाय ने अपने मत के अनुसार उपनिषद् के अर्थवाद वाक्यों का उपासना रूप क्रियाविशेष में ही तात्पर्य बतलाया है। किन्तु न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय ने उसको स्वीकार नहीं किया है।

शिष्य—छान्दोग्य उपनिषद् के छठवें अध्याय में आरुणि तथा उनका पुत्र श्वेतकेतु के सवाद में किसी तरह की उपासना की बातें नहीं है। किन्तु ब्रह्मतत्त्व आदि का ही उपदेश किया गया है। उस अध्याय के द्वितीय खण्ड के प्रथम भाग में कहा गया है—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'। आगे कहा गया है—'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि। पश्चात् तीसरे खण्ड में कहा गया है—'सेय देवतैक्षत हन्ताऽहमिमास्तिस्रो देवताऽनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति'। फिर आठवें खण्ड से सोलहवें खण्ड तक

उपसंहार में कहा गया है—'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदम् सर्वं तत् सत्यम् स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इस तरह के उपक्रम तथा उपसंहार से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह संसार ब्रह्मात्मक है—ब्रह्म से पृथक संसार की यथार्थ सत्ता नहीं है। जीव भी यथार्थ में ब्रह्म ही है। आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को तत्व का उपदेश ही किया है कि ये सब उस ब्रह्म से अभिन्न हैं, एक ब्रह्म ही सत्य है, वही आत्मा है। हे श्वेतकेतो 'त्वम् तत् (ब्रह्म) असि'—तुम वही ब्रह्म हो। अतः उक्त श्रुति वाक्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीव परब्रह्म से यथार्थतः अभिन्न है। अन्यथा इस वाक्य में ('तत्त्वमसि') में 'असि' रूप क्रियापद का प्रयोग व्यर्थ हो जाता है। सरल रूप से शास्त्र वाक्य का जो अर्थ जाना जाता है—क्या उसे प्रकृत अर्थ करके ग्रहण नहीं किया जा सकता है?

गुरु—बहुत से शास्त्र वाक्यों के द्वारा सरल रूप से यह भी तो ज्ञात होता है कि जीवात्मा परब्रह्म से भिन्न है। मैं इसे बाद में कहूँगा। अब यह कहो तो सही कि—'सर्ववाद्यमया घण्टा'—यह एक शास्त्रवाक्य है। किन्तु क्या उक्त वाक्य से तुम यही समझोगे कि घण्टा सभी वाद्यों से अभिन्न है? तथा शास्त्र वाक्य है—'शालग्राम स्वयं हरिः'—किन्तु शालग्राम शिला जो हरिपूजन का प्रतीक है क्या वही वस्तुतः स्वयं हरि है? उक्त वाक्यों से सरल रूप से तो यही ज्ञात होता है। वृषोत्सर्ग क्रिया में वृष की प्रदक्षिणा करके यजमान जो मन्त्र पढ़ेगा उसके शुरू में ही कहा गया है—'धर्मोऽसि त्वचतुष्पाद'।[१]

उक्त वाक्य में 'असि' रूप क्रियापद का भी प्रयोग है। किन्तु क्या इससे तुम यही समझोगे कि वही वृष (बैल) वास्तव में चार पाँवों को धारण करने वाला धर्म है? यथार्थ में वह वृष चतुष्पाद धर्म नहीं है। किन्तु वृष का उत्सर्ग करने वाला यजमान को उस काल में उसको चतुष्पाद धर्म के रूप में भावना करनी है—यही उस वाक्य का तात्पर्य समझना पड़ेगा। इसी तरह जो व्यक्ति शालग्राम शिला में हरि की पूजा करेंगे, वे तब उस शालग्राम शिला को स्वयं हरि के रूप से भावना करेंगे—यही 'शालग्राम स्वयं हरिः' इस शास्त्र वाक्य का तात्पर्य है। ऐसे ही पुजारी घण्टा में सभी वाद्यों की भावना करेंगे तथा अन्य वाद्य के अभाव में भी केवल घण्टावाद्य के द्वारा भी उनकी पूजा सम्पन्न होती है—यही 'सर्ववाद्यमयीघण्टा'—इस शास्त्रवाक्य का तात्पर्य है अर्थात् पूर्वोक्त तात्पर्य में ही शास्त्र में ये सब वाक्य कहे गये हैं। शास्त्र में

---

[१] धर्मोऽसि त्वं चतुष्पाद्[illegible] प्रियास्त्विमाः।
चतुर्णां पोषणार्थाय मयोत्सृष्टास्त्वया सह' इत्यादि मत्स्यपुराण का मन्त्र स्मार्तरघुनन्दन कृत उद्दीप वृषोत्सर्गतत्त्व में देखना है।

विधिवाक्य के न कहने पर भी बहुत से स्थलों में अर्थवाद वाक्य से ही विधि वाक्य समझना पड़ता है।

'सर्ववाद्यमयी घण्टा' इस अर्थवाद वाक्य की तरह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'सर्वं ब्रह्ममय जगत्' इत्यादि अर्थवाद वाक्यों के द्वारा भी भावनात्मक उपासना की विधि भी हम समझ सकते हैं। तथा 'शालग्राम स्वयं हरिः' 'धर्मोऽसि त्वं चतुष्पाद' आदि अर्थवाद वाक्य की तरह "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि", "सोऽहम्" आदि अर्थवाद वाक्यों से उस प्रकार से भावनात्मक उपासना की विधि भी हम समझ सकते हैं। अर्थात् मुमुक्षु साधक को सारे संसारको तथा अपने को ब्रह्म के रूप में भावना करनी चाहिये। उनको वस्तुतः ब्रह्म न होने पर भी 'सोऽहम' मैं वह हूँ, ऐसी भावना से ईश्वर की उपासना करनी चाहिये, परन्तु मैत्रो उपनिषद् में—'सोऽहम् भावेन पूजयेत्' इस तरह से विधिवाक्य ही कहा गया है। और तुम्हारे द्वारा कथित छान्दोग्य उपनिषद् के प्रारम्भ में भी -'उपासीत' इस क्रियापद का प्रयोग हुआ है। बाद में तृतीय अध्याय में—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति शान्त उपासीत' इस वाक्य में उपासीत इस क्रियापद से उक्त रूप म उपासना का विधान की किया गया है। अन्यथा उस श्रुतिवाक्य में 'उपासीत' इस क्रियापद का प्रयोग व्यर्थ होता है।

परन्तु छान्दोग्य उपनिषद् में—'मनोब्रह्मेत्युपासीत' (३।१८।) इत्यादि श्रुति वाक्यों के द्वारा विशेष रूप से अनेक पदार्थों में ब्रह्म की भावनात्मक उपासना विहित हुई है—यह तो शंकराचार्य ने भी स्वीकार किया है तथा उन्होंने भी उसको ब्रह्म दृष्टि का अध्यास कहा है। जो यथार्थतः ब्रह्म नहीं है उसमें ब्रह्म की बुद्धि ही ब्रह्मदृष्टि का अध्यास है। वेदान्तदर्शन में भी—'ब्रह्म दृष्टिरुत्कर्षात्' ४।१।५ इस सूत्र से उक्त ब्रह्म दृष्टि का समर्थन हुआ है। भाष्यकार शंकराचार्य ने भी वहाँ उपनिषदों के अनेक वाक्यों से उसका समर्थन किया है तथा उन्होंने वहाँ दृष्टान्त रूप में विष्णु की प्रतिमा में विष्णु बुद्धि का उल्लेख किया है। निर्गुण ब्रह्मवादी शंकराचार्य ने भी शास्त्र के अनुसार शालग्राम शिला में हरि पूजा की कर्तव्यता का समर्थन करने से प्रसङ्गान्तर में पहले भी कहा है—यथा शालग्रामे हरिः'। शारीरक भाष्य (१।२।७)।

फलित कथन यह है कि न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय के मतानुसार समस्त जीव ब्रह्म से वस्तुतः भिन्न होने पर भी उन जीवों में ब्रह्म दृष्टि करनी चाहिये। सब जीवों को एक ब्रह्म के रूप में भावना करने पर समस्त जीवों में अभेद बुद्धि होती है। यद्यपि वह बुद्धि भ्रमात्मिका है तथापि उसके फलस्वरूप साधकों के आत्म पर भेदबुद्धिमूलक राग द्वेष आदि दोषों का क्षय हो जाने से चित्तशुद्धि

होती है। इसीलिए शास्त्रों में सभी जीवों में एक ब्रह्म की भावनात्मिका उपासना का उपदेश किया गया है। किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् में—'ऐतदात्म्य मिदं सर्वम्' इस श्रुति वाक्य से यह नहीं विवक्षित है कि अखिल संसार तथा जीव में परब्रह्म का वास्तविक भेद नहीं है, किन्तु तदीयत्व ही विवक्षित है। अर्थात् सकल संसार तथा जीव उसी परब्रह्म के अधीन है, उसी में प्रतिष्ठित है—यही उस श्रुति का तात्पर्य है।

यह अवश्य सत्य है कि छान्दोग्य उपनिषद् में उसी स्थल में कहा गया है कि—'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'। किन्तु इससे यह हम कैसे जान सकते हैं कि वह परब्रह्म ही प्रत्येक जीव शरीर में जीवरूप से अनुप्रविष्ट है। यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि परब्रह्म नित्यमुक्त होने पर भी बार-बार संसार के बन्धन से बद्ध होकर पुण्य तथा पाप के फल का उपभोग कर रहे हैं। उस परब्रह्म का जीवभाव अनिर्वचनीय अविद्या कल्पित तथा मिथ्या है। अतः उनका बन्धन तथा सुख दुःख का भोग आदि सभी मिथ्या है। ऐसा कहने पर वह अविद्या कहाँ रहती है यह कहना पड़ेगा। नित्य सर्वज्ञ उस परब्रह्म में अविद्या नहीं रह सकती है। यह सर्वसम्मत है कि वह (ब्रह्म) अविद्या के वशवर्ती नहीं है। यह भी उस मत के अनुसार कहा नहीं जा सकता है कि वह अविद्या जीव में रहता है। क्योंकि उस मत में वह अविद्या ही परब्रह्म के जीवभाव का कल्पक है किन्तु प्रलय काल में उसी जीवभाव के अभाव से जीव न रहने के कारण वह अविद्या कहाँ रहेगी? परब्रह्म का जीव भाव जैसे उस अविद्या की अपेक्षा रखता है उसी तरह से उसे अविद्या भी अपना आश्रय प्राप्त करने के लिए जीव की अपेक्षा रखने से अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य है। इस विषय में अद्वैतवादी वेदान्तियों के पूर्वपक्षों के उत्तर के रूप में न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय की भी बहुत सी बातें हैं। संक्षेप में उनका कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। उक्त अविद्या के खण्डन में आचार्य रामानुज के श्रीभाष्य में (२।१।१५) एवं माध्व सम्प्रदाय के न्यायामृत आदि ग्रन्थों में पाण्डित्यपूर्ण विचारों को समझने से साथ न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय के अनेक सिद्धान्तों को जान सकेंगे।

यथार्थ में उस श्रुतिवाक्य के तात्पर्य को समझने के लिये 'अनेन जीवेनात्मना' इस स्थल में तृतीया विभक्ति का क्या अर्थ है तथा विश्व व्यापी ब्रह्म का जीव के देह में अनुप्रवेश क्या है यही पहले समझना आवश्यक है। बहुत विद्वानों ने यहाँ सहार्थ में तृतीया विभक्ति का ही समर्थन करके कहा कि इससे जीव देह में जीवात्मा तथा परमात्मा के अनुप्रवेश का समकालीनत्व व्यक्त किया गया है। जीव शरीर के साथ विलक्षण संयोग ही जीवात्मा का देह में अनुप्रवेश है। अर्थात् पहले जब शरीर की सृष्टि होने पर ही भिन्न जीवात्मा के स्वकर्म

नुसार जिस देह के साथ विलक्षण संयोग रूप अनुप्रवेश होता है उसी समय सर्वदर्शी परब्रह्म स्व प्रत्यय उस जीवात्मा के साथ उसी शरीर में अन्तर्यामी रूप से अनुप्रविष्ट होते हैं। यही उस श्रुति का तात्पर्य है, अनेक विद्वानों के मतानुसार उस श्रुति वाक्य में जीव शब्द का अर्थ जीव का अन्तर्यामी ईश्वर है। आत्मन् शब्द का अर्थ है 'स्वरूप' 'जीवेनात्मना', इसकी व्याख्या है—'जीवान्तर्यामिस्वरूपेण'। पहले 'अनेन' इस एकवचनान्त पद से स्पष्ट व्यक्त किया गया है कि जो सभी जीवों का एक अन्तर्यामी है वही व्यष्टि जीव का अर्थात् प्रत्येक जीव का भी अन्तर्यामी है। उक्त श्रुति वाक्य की और भी विभिन्न व्याख्याएँ हुई हैं।

सारांश यह हुआ कि इस मत में परमेश्वर प्रति शरीरगत जीवहृदय में अन्तर्यामी रूप से अनुप्रविष्ट होते हैं।[1] परमेश्वर का अन्तर्यमन ही उनका अनुप्रवेश है तथा नित्य सिद्ध सर्वव्यापी जीवात्मा का उस हृदय देश रूप उपाधि के साथ *विलक्षण संयोग* ही उसके हृदयात्मक गुहा में प्रवेश करना है। इसी तात्पर्य से दोनों आत्माओं के बारे में श्रुति ने कहा है—'गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे' (कठ. उप ३।१)। उनमें अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट परमात्मा सकलजीवात्माओं की आत्मा है। प्रत्येक जीवात्मा उस परमात्मा का शरीर सदृश है। एक वही (परमात्मा) उन सभी जीवात्माओं में आत्मत्व रूप से अधिष्ठित है। इसी से श्रुति ने परमात्मा को आत्मस्थ एवं सर्वभूतान्तरात्मा कहा है। इसी तरह से बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण के प्रयोजन एवं तात्पर्य को समझ कर तदनुसार ही अन्यान्य श्रुतिवाक्यों का तात्पर्य भी समझना चाहिये।

किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् के—'बहुस्यां प्रजायेय' इस वाक्य से भी यह सिद्ध नहीं होता है कि परमेश्वर असंख्य जीवरूप में भी अनन्त है। न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के मतानुसार परमेश्वर पहले पति-पत्नी के रूप में तथा

---

१. श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में कहा गया है—'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति' २६।३४। वहाँ टीकाकार श्रीधर स्वामी ने भी व्याख्या की है—'जीवानाम् कलया परिकलनेन अन्तर्यामितया प्रविष्ट इति दृष्टया इत्यर्थ'। आगे जाकर दशम स्कन्ध में कहा गया है—'कृष्णमेनमवेहित्वमात्मानमखिलात्मनाम्' १४।१५। भगवान् श्रीकृष्ण सभी आत्माओं का आत्मा है—यह कहने से ज्ञात होता है कि वह (कृष्ण) जीवात्मा नहीं है। किन्तु सभी जीवात्माओं का एक अन्तर्यामी आत्मा है। अतएव श्रीधरस्वामी ने भी तृतीय स्कन्ध में उक्त स्थल में उक्त रूप व्याख्या की है। अवश्य अन्य स्थलों में इससे भिन्न व्याख्याएँ भी हैं।

पश्चात् ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र आदि के रूप में अनेक होने की इच्छा रखता हुआ उन सब प्रकृष्ट देह आदि को धारण करता है। उक्त श्रुति वाक्य के 'प्रजायेय' इस पद में प्रकृष्ट बोधक प्रशब्द से यही व्यक्त हुआ है।

किन्तु ब्रह्मा आदि के रूप में वह (परमात्मा) बहुत होकर भी यथार्थ से एक ही। अद्वितीय, एक ही वह सृष्टि आदि कार्यों के सम्पादन के लिए अपनी इच्छाशक्ति रूप माया से बहुत रूपों में अनेक हुये हैं, उनके सभी भेद जो शास्त्र में वर्णित हैं, उपाधिमूलक हैं, वास्तविक नहीं। उपनिषद् से भी अनेक स्थानों में विभिन्न रूप के उनके नाना उपाधिमूलक भेदों का वर्णन करके उन सभी भेदों का अवास्तवत्व प्रकाश करने के लिये नाना प्रकार से पुनः पुनः उस परमेश्वर का एकत्व घोषित हुआ है। यह उन सब श्रुति वाक्य का तात्पर्य नहीं है कि उनके सिवाय और किसी का वास्तव सत्ता ही नहीं है।

और वही परमेश्वर प्रत्येक जीव तथा संसार में सर्वत्र अन्तर्यामी रूप से अनुप्रविष्ट होकर उन सभी पदार्थों का एकमात्र नियन्ता होने से उसी तात्पर्य में वह (परमात्मा) जीव तथा जगत् हुए हैं। ऐसी बात भी कही गयी है जैसे कोई महाशक्तिशाली पुरुष किसी राजा के घर में प्रविष्ट होकर उसका एक मात्र नियन्ता होने पर लोग उनके बारे में कहते हैं कि वे ही सर्वमय कर्ता एवं राजा हुये हैं। इस प्रकार के वाक्यों को औपचारिक वाक्य कहा जाता है। उपनिषद् में अनेक स्थलों में अनेक औपचारिक वाक्य तथा अनेक रूपकों का भी प्रयोग हुआ है। अतएव विचारने के बाद ही उसका तात्पर्य प्रकृत समझना चाहिये।

शिष्य—लक्षणा स्वीकार करके तथा कष्ट कल्पना करके उपनिषद् के उन सब वाक्यों का अन्य प्रकार तात्पर्य व्याख्या का कारण क्या है? जीव तथा ब्रह्म का वास्तव भेद प्रमाण सिद्ध हो तो अवश्य बाध्य होकर उन सब महावाक्यों के अन्य प्रकार तात्पर्य की कल्पना करना पड़ता है। किन्तु जीव तथा परब्रह्म में यथार्थ भेद है—इस विषय के लिए उपनिषद् में क्या प्रमाण है? यह तो अद्वैतवादी सम्प्रदाय भी मानते ही हैं कि जीव तथा परब्रह्म में औपाधिक कल्पित भेद है। उन कल्पित भेद के आधार पर ही संसार दशा में जीव के सब व्यवहार चलते हैं तथा उन कल्पित भेद के आधार पर ही शास्त्रों में विधि तथा निषेध का उपदेश हुआ है। अतः अनेक स्थलों में यही कल्पित भेद कहा गया है।

गुरु—तब अद्वैतवादी अनेक आचार्यों ने भी—'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में 'तत्' एवं 'त्वम्' पद के वाच्य अर्थ में भेद मानकर मुख्यार्थ के बाध से 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों में लक्षणा क्यों मानी है? 'आदित्यो यूपः' 'आयुर्घृतम्' इत्यादि अनेक वेद वाक्यों में भी तो लाक्षणिक प्रयोग हुआ है। तथा उपनिषदों की

व्याख्या में शङ्कराचार्य भी क्या किसी भी स्थल में कष्ट कल्पना करने के लिए बाध्य नहीं हुए हैं ? कठोपनिषद् की तृतीय बल्ली के आरम्भ में ही है—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके'। किन्तु यह सिद्धान्त विरुद्ध है कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही सुकृत कर्म के फलों का भोग करते हैं। इसी से कहीं पर अपने भाष्य में शङ्कराचार्य ने भी कहा है—'एकस्तत्र कर्मफलं भुङ्क्ते नेतरः' तथापि पातृ सम्बन्धात् 'पिबन्तौ इत्युच्यते छत्रिन्यायेन'। और भी देखना आवश्यक है शङ्कराचार्य ने भी उक्त समाधान से सन्तुष्ट न होकर शारीरक भाष्य में (१।२।११) बाद में फिर से कहा है—'अथवा जीवस्तावत् पिबति, ईश्वरस्तु पाययति, पाययन्नपि पिबतीत्युच्यते'। अर्थात् 'पिबन्तौ' इस पद से समझना चाहिये कि जीव कर्म का फल भोगता है लेकिन ईश्वर जीव को कर्मफल का भोग कराते हैं। क्या बाद में शङ्कराचार्य की उस प्रकार की कल्पना भी बाध्यता मूलक कष्ट कल्पना नहीं है ? परन्तु मुण्डक उपनिषद् में कहा है—'स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित् कुले भवति ३।२।९' उक्त वाक्य से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो उस परब्रह्म को जानता है वह "ब्रह्मैव भवति" अर्थात् ब्रह्म ही होते हैं अर्थात् ब्रह्म हो जाता है। 'अस्य कुले अब्रह्मविन्न भवति' अर्थात् उसके कुल में अब्रह्मज्ञ उत्पन्न नहीं होते हैं। यह ब्रह्मज्ञान का प्रशंसावाद है। किन्तु अद्वैत मत से यह कैसे संगत होता है कि जो वस्तुतः ब्रह्म ही है वह ब्रह्म ही होते हैं ? उनका उस स्वतःसिद्ध ब्रह्म भाव को ब्रह्मज्ञान का फल नहीं कहा जा सकता है। किन्तु मुण्डक उपनिषद् के आरम्भ में ही कहा गया है—'अथपरा, यया तदक्षरमधिगम्यते' १।१।५। किन्तु उस अक्षर परब्रह्म की प्राप्ति कौन सी वस्तु है ? भाष्यकार शङ्कराचार्य कहते हैं कि—'अविद्यायाः अपाय एव हि परप्राप्तिः नार्थान्तरम्' बन्धन का कारण अविद्या की निवृत्ति ही परप्राप्ति या ब्रह्म की प्राप्ति है। वह कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। इसी से आगे जाकर—'ब्रह्मैव भवति' इस वाक्य से केवल अविद्या की निवृत्ति मात्र ही समझनी चाहिये। अतएव शङ्कराचार्य के मत में भी उस वाक्य का यथाश्रुत अर्थ नहीं लिया जा सकता है।

परन्तु मुण्डक उपनिषद के पहले कहा गया है—'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' ३।१।३। परन्तु महान् पुरुष ब्रह्म के जिस अत्यधिक साम्य को प्राप्त करता है—वह साम्य क्या है ? भाष्यकार शङ्कराचार्य ने व्याख्या की है—"अद्वयलक्षणमेतत् परमं साम्यमुपैति प्रतिपद्यते"। किन्तु अद्वयत्व या अभेद साम्य शब्द का मुख्य अर्थ नहीं है। "साम्य" शब्द का मुख्यार्थ सादृश्य या साधर्म्य है। भगवद्गीता में भी कहा गया है—'मम साधर्म्यमागताः' १४।२। यहाँ भी शङ्कराचार्य साधर्म्य शब्द का मुख्यार्थ नहीं

लेते हैं। किन्तु मुख्यार्थ के प्राधान्य होने से ही अन्यान्य सम्प्रदाय ने उक्त साम्य तथा साधर्म्य शब्द का मुख्यार्थ ही ग्रहण किया है।

न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय के मत में भी ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्म के परम सादृश्य को लाभ करता है—यही उपर्युक्त मुण्डकोपनिषद् के वाक्य का अर्थ है। अतएव पश्चात्—'ब्रह्मैव भवति' यह औपचारिक वाक्य है।[1] उक्त वाक्य का भी तात्पर्यार्थ यह है की ब्रह्मज्ञ पुरुष ब्रह्म के अत्यधिक सदृश होते हैं। जैसे राजा के अत्यधिक सदृश होने के कारण प्रधान राजपुरुष को लोग राजा कहते हैं उसी तरह से मुक्त पुरुष ब्रह्म का अत्यधिक सादृश्य प्राप्त करने के कारण इसी तात्पर्य में श्रुति ने कहा है—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। इसी प्राचीन व्याख्या का दृष्टान्त देकर शङ्कराचार्य के शिष्य आचार्य सुरेश्वर ने मानसोल्लास में कहा है—'उपचारिक वाक्य राजवद्राज पूरुषे'। किन्तु कठोपनिषद् की प्रथम वल्ली के अन्तिम भाग में कहा गया है—

"यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥"

उक्त श्रुतिवाक्य से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैसे किसी निर्मलजल में दूसरा शुद्ध जल निक्षिप्त होने पर वह जल "तादृगेव भवति" यानी उस पूर्व जल के सदृश ही होता है। ब्रह्मज्ञानी मुनि का आत्मा अर्थात् मुक्त आत्मा "एवं भवति" अर्थात् उसी तरह का ही हो जाता है। अतः संसारिक अवस्था में जीवात्मा तथा परमात्मा का भेद ही रहता है किन्तु मोक्ष के समय में अभेद हो जाता है—यह जो अपर सिद्धान्त है वह भी उक्त श्रुतिवाक्य से नहीं समझा जाता है। किन्तु यही प्रतीत होता है कि मुक्त आत्मा स्पष्ट ब्रह्म ही नहीं हो जाता है अपितु ब्रह्म के सदृश हो जाता है। द्वैतवादी आचार्यों ने यही समझा है। लेकिन ब्रह्म के साथ मुक्त आत्माओं का कैसा सादृश्य होता है—इस विषय में उन लोगों के बीच में सम्प्रदाय भेद के कारण नाना मत हैं।

गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य जीव गोस्वामी ने स्कन्दपुराण के वचन के आधार पर उस श्रुति वाक्य की तात्पर्य व्याख्या की है कि निरञ्जन-

---

[1] गौडीय वैष्णव आचार्य बलदेव विद्याभूषण महाशय ने—'ब्रह्मैव भवति' इस वाक्य में एव शब्द से सादृश्य अर्थ की व्याख्या की है। क्यों कि अमरकोष के अव्यय वर्ग में 'एव' शब्द का सादृश्य अर्थ भी कहा गया है। बलदेव विद्याभूषण महाशय इस कोष का उल्लेख करके 'सिद्धान्तरत्न' ग्रन्थ में पूर्वोक्त—'ब्रह्मैव भवति'—इसकी व्याख्या—'ब्रह्मसदृशो भवति' इस शब्द से की है। मध्वाचार्य की व्याख्या भी इसी तरह की है।

मुक्ति लाभ के बाद उस मुक्त आत्मा को ब्रह्म के साथ जो तादात्म्य हो जाता है—वह तादात्म्य अभेदात्मक नहीं है किन्तु मिश्रतारूप है। क्योंकि परब्रह्म के जो स्वातन्त्र्य आदि नित्य विशेषण हैं वे मुक्ति के समय में भी जीव को प्राप्त नहीं होते हैं। जैसे किसी जल में यदि दूसरा जल डाल दिया जाए तो उन दोनों का तादात्म्य मिश्रतारूप ही होगा। किन्तु अभेदात्मक तादात्म्य नहीं होता है क्योंकि उस जल के मिश्रण से पूर्वस्थित जल में वृद्धि हो जाती है मिश्रतारूप तादात्म्य के कारण तब उन दोनों जलों का अविभाग हो जाने से भेद का ज्ञान हो नहीं पाता है।'

जो भी हो सराश यह है कि कठोपनिषद् के उक्त श्रुतिवाक्य में—'तादृगेव भवति एव भवति' इत्यादि उक्ति से ज्ञात होता है कि मुक्ति होने पर भी उस जीवात्मा के साथ परब्रह्म का भेद रहता है। अत. वह भेद नित्य है। किन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद् के पहले अध्याय में भी छठे मन्त्र के अन्तभाग में कहा गया है—'पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनाऽमृतत्वमेति' उक्त श्रुति वाक्य से भी सरल रूप से समझा जाता है कि जीवात्मा और परमात्मा का भेद नित्य है कल्पित नहीं क्योंकि उस श्रुति वाक्य से—'आत्मानं प्रेरितारञ्च (अन्तर्यामिणम् परमात्मानञ्च) पृथक् = भिन्नं मत्वा = ज्ञात्वा ··· तेन ज्ञानेन अमृतत्वं = मोक्षमेति = प्राप्नोति' यही अर्थ सरल रूप से जाना जाता है। तो समझा जाता है कि अपना आत्मा और परमात्मा का अभेद दर्शन मुक्ति का कारण नहीं है किन्तु पृथक रूप से उन दोनों आत्माओं का स्वरूप दर्शन मुक्ति का कारण है। अतः बाद में ही फिर से उस सिद्ध भेद की ही पुनरुक्ति हुई है।

'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ १।९। द्वौ अजौ ज्ञाज्ञौ ईशानीशौ—अर्थात् दोनों ही आत्माएँ, अज (उत्पत्ति शून्य हैं, किन्तु उन दोनों में परमात्मा ज्ञ

---

१ "सर्वसंवादिनी" ग्रन्थ में श्रीजीवगोस्वामी ने वेदान्त सूत्र की मध्वाचार्य कृत व्याख्या स्वीकार करके ही लिखा है—यथा लोके उदकमुदकान्तरे प्रक्षिप्तमेकीभूतमिति व्यवह्रियमाणमपि भिन्नवस्तुत्वात्तदन्तर्भूतमेव भवति न तु तदेव भवतीत्येव स्यादत्रापि। तथा च श्रुति.—यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ···· । स्कान्देच—उदके तूदकं सिक्तम् मिश्रमेव यथा भवेत्। न चैतदेव भवति यतो वृद्धिः प्रजायते। एवमेव हि जीवोऽपि तादात्म्यं परमात्मना प्राप्नोति नासौ भवति स्वातन्त्र्यादि विशेषणात्'। तत्त्वसन्दर्भ की व्याख्या में गोस्वामी राधामोहन भट्टाचार्य ने स्कन्दपुराण के उस वचन को उद्धृत करके तादात्म्य शब्द की व्याख्या में लिखा है—'तादात्म्य—मिश्रताम्'। नासौ भवतीति न परमात्मा भवति ॥"

(सर्वज्ञ) और जीवात्मा अज्ञ है। परमात्मा ईश होता है और जीवात्मा अनीश है।
बाद में दोनों आत्माओं में इस तरह का भेद दिखाने का प्रयोजन या उद्देश्य क्या है? परन्तु जीव अविद्या कल्पित होने पर 'द्वौ अजौ'—यह उक्ति कैसे सङ्गत होगी। तथा "द्वौ" इस पद का प्रयोजन क्या है—यह भी सोचना आवश्यक है।

'द्वौ' एवं 'अजौ' इन दोनों पदों से क्या यह नहीं ज्ञात होता है कि अनादि सत्य जीवात्मा और परमात्मा का द्वित्व या द्वैत सत्य है?

परन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद् के अन्तिम अध्याय में—एकोदेव सर्वभूतेषु गूढ़.' इत्यादि वाक्य से सभी जीवों के अन्तर्यामी निर्गुण—अर्थात् सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणों से रहित तथा सर्वजीवों के सकल कर्मों का अध्यक्ष साक्षी परमात्मा का एकत्व प्रकाशित करने के लिये पुनश्च बाद में कहा गया है—

'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् ६।१३।
एको बहूना यो विदधाति कामान् ।'

उस श्रुति वाक्य में—चेतनानां तथा बाद को फिर से 'बहूनां' इन बहुवचनान्त बहु शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है कि जीवात्मा का बहुत्व वास्तविक है। *वह कल्पित नहीं है। अन्यथा बाद को 'बहूनाम्' इस पद के प्रयोग का प्रयोजन* क्या है? अतएव उसी श्रुति से यह भी व्यक्त हुआ है कि अनन्त जीव तथा एक परमात्मा का भेद वास्तव सत्य है। जीवात्माओं का वास्तव बहुत्व वादी सभी सम्प्रदायों ने यही समझ कर जीवात्मा तथा परब्रह्म का यथार्थ भेद समर्थित किया है। उन लोगों के मत में वेदान्त दर्शन के—'भेदव्यपदेशाच्चान्यः (१।१।२१) एवं अधिकन्तु भेदनिर्देशात् (२।१।२२)' इन दो सूत्रों के द्वारा भी जीवात्मा तथा परब्रह्म का यथार्थ भेद ही कहा गया है।

उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र के द्वारा सभी लोग आपका सम्मत *अद्वैत सिद्धान्त* ही समझेंगे, यह कदापि सम्भव नहीं है।

नवम अध्याय

श्रीमद्भगवद्गीता में द्वैतवादियों की दृष्टि

शिष्य—यह सत्य है कि प्राचीनकाल से ही ऋषिगणों के बीच उपनिषद् वाक्यों के विभिन्न तात्पर्य लगा लगा कर अनेक सिद्धान्तों का प्रकाशन किया जाता रहा है। वेदान्तदर्शन के प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद में भगवान् बादरायण ने—आश्मरथ्य, औडुलोमि एवं काशकृत्स्न मुनियों के मतभेदों का उल्लेख किया है। भगवान शङ्कराचार्य के मत से काशकृत्स्न मुनि का सिद्धान्त ही श्रुति के अनुयायी होने के नाते वह सिद्धान्त ब्रह्मसूत्रकार बादरायण को भी मान्य है। बाइसवें शारीरक सूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य ने कहा है—'औडुलोमिपक्षे पुनः स्पष्टमेवावस्थान्तरापेक्षौ भेदाभेदौ गम्येते। तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते। प्रतिपिपादयिषितार्थानुसारात् 'तत्त्वमसी'त्यादि-श्रुतिभ्यः' इत्यादि। परन्तु भगवद्गीता से भी यही सिद्धान्त ज्ञात होता है। क्या भगवद्गीता में जो सिद्धान्त प्रतिपादित हैं वे अद्वैत सिद्धान्त के रूप से मान्य नहीं है?

गुरु—अवश्य ही मान्य है। किन्तु क्या यह भी हम कह सकते हैं कि भगवद्गीता में शङ्कराचार्य के द्वारा समर्थित अद्वैतसिद्धान्त ही उपदिष्ट हुआ है? कितने आचार्यों ने भगवद्गीता के द्वारा भी जीव तथा परब्रह्म में भेद मानकर द्वैतसिद्धान्त एवं कितने आचार्य द्वैताद्वैत सिद्धान्त को ही समझ कर व्याख्या और विचार के द्वारा उसका समर्थन किया है। यह भी तो हम नहीं कह सकते हैं कि उन लोगों की सभी बातें अग्राह्य हैं। उन लोगों की सभी बातें भी विचार करके ही समझनी पड़ेगी। अद्वैतवाद में अधिक आग्रह रहने के कारण पहले से ही दूसरे विरुद्ध मतों की अवज्ञा करने से विचारपूर्वक अद्वैतमत समझा नहीं जाता है।

अतएव यह भी तो देखना होगा कि भगवद्गीता में द्वैतवादियों की दृष्टि कैसी है। अद्वैतवादी भगवान् शङ्कराचार्य ने भी अपने विरुद्धपक्षवाले द्वैतवादियों की सभी बातों का उल्लेख करके ही स्वमत स्थापन में युक्ति प्रदर्शन के द्वारा बहुत विचार उपस्थित किये हैं—ये सभी बातें भी विचार पूर्वक समझना चाहिये।

शिष्य—विचार का अन्त नहीं है। किन्तु मनोयोगपूर्वक भगवद्गीता के आद्यन्त पाठ करने से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि भगवद्गीता में

जीवात्मा तथा परमात्मा का अद्वैत सिद्धान्त ही उपदिष्ट हुआ है। पहले ही भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में आत्मा का जो रूप उपदिष्ट हुआ है, वह तो परब्रह्म का ही स्वरूप है। 'य एन वेत्ति हन्तारम्' तथा—'अविनाशि तु तद्विद्धि' इत्यादि श्लोक से ज्ञात होता है कि परमात्मा ही जीवात्मा है, पश्चात् गीता के अनेक श्लोकों से सुस्पष्ट जाना जाता है कि परब्रह्म से जीव वस्तुतः भिन्न नहीं है। जीव परब्रह्म का ही अंश है।

गुरु—मनोयोग से भगवद्गीता का आद्यन्त पाठ करना भी दुःसाध्य व्यापार है। तथा जिस तरह के मनोयोग से भगवद्गीता का प्रकृत सिद्धान्त समझा जाता है वह तो बहुत साधनसापेक्ष है। जो भी हो, अन्य कथाएँ आगे कही जाएँगी। अभी पहले भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय का विचार ही करता हूँ।

'अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्' यह बात न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय के मतानुसार जीवात्मा के सम्बन्ध में भी उपपन्न होती है। क्योंकि उस मत में जीवात्मा भी परमात्मा की तरह सर्वव्यापी है। परन्तु द्वितीय अध्याय में जीवात्मा की नित्यता को समझाने के लिये उसमें बारम्बार परमात्मा के बहुत से साधर्म्य कहे गये है। किन्तु उससे यह नहीं उपपन्न होता है कि जीवात्मा परमात्मा से अभिन्न है। क्यों कि जीवात्मा में परमात्मा का जो वैधर्म्य है उससे भेद ही सिद्ध होता है। तथा जीवात्मा हन्ता नहीं है—इसका तात्पर्य है कि जीवात्मा स्वतन्त्र रूप से हन्ता नहीं है। जीवात्मा का हन्ता होना भी परमेश्वर के अधीन है। परमेश्वर ही सभी जीवों के कर्मानुसार साधु और असाधु कर्मों का करनेवाला है। श्री भगवान् ने भी बाद में कहा है—'मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' (गी० ११।३३)

किन्तु द्वितीय अध्याय में—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इत्यादि श्लोक में सत् शब्द से साधारणतः आत्मा का स्वरूप ही गृहीत हुआ है इसे स्पष्ट करने के लिये अगले श्लोक में नपुंसकलिङ्ग में तत् शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिये—'तत्-आत्मस्वरूपम्, अविनाशि तु = अविनाश्येव विद्धि।' इस तरह की व्याख्या से ज्ञात होता है कि आत्मा का स्वरूप विनाशशील नहीं है। क्यों कि 'येन सर्वमिदं ततम्" जिसके द्वारा सब व्याप्त है यानी जो सर्वव्यापी पदार्थ है वह अविनाशी है। न्याय तथा वैशेषिक के मतानुसार जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों ही सर्वव्यापी पदार्थ है। जीवात्मा को अणुत्व वादी किसी किसी वैष्णव आचार्य ने केवल जीवात्मा के सम्बन्ध में ही उक्त श्लोक की व्याख्या की है।

वारउव में गीता के द्वितीय अध्याय में आत्मा को नित्यता के प्रतिपादन के लिये पहले—'न त्वेवाहं' इत्यादि श्लोक में 'अहं' पद से परमात्मा की चर्चा होने से आगे जाकर दोनों आत्माओं का नित्यत्व सिद्ध हो जाता है—यह समझा जाता है। यहाँ यह भी वक्तव्य हो जाता है कि जीवदेह में जीवात्मा की तरह देह स्थित अन्तर्यामी परमात्मा भी अवश्य है, और जीवात्मा के नित्यत्व प्रतिपादन करने के लिए दृष्टान्त रूप से परमात्मा का अविनाशित्व कहा जा सकता है।

वस्तुत द्वितीय अध्याय के उन सभी श्लोक से जीवात्मा और परमात्मा का वास्तविक अभेद सिद्ध नहीं किया जा सकता है, *क्योंकि आत्मा का चिरस्थायित्व* प्रकाश करने के लिये श्रीभगवान् ने पहले कहा है—

'न त्वेवाहं जातु नास न त्वं नेमे जनाधिपा ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्' ॥ २।१२।

उक्त श्लोक में 'अहं' 'त्वम्' और 'इमे' इस बहुवचनान्त पद से तथा आगे जाकर 'सर्वे वयम्' इस तरह की बहुत्वबोधक उक्ति से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अर्जुन और उन महाराजाओं की आत्माएँ और परमात्मा श्रीकृष्ण परस्पर भिन्न है।

अन्यथा बाद में फिर से सर्वे वयम्' इस उक्ति का क्या प्रयोजन है! यह भी विचार करना आवश्यक है कि एकात्मवाद में 'सर्व' शब्द तथा बहुवचन का प्रयोग करना कैसे सङ्गत है? भाष्यकार शङ्कराचार्य ने भी यह सोच कर कहा है। 'देहभेदानुवृत्त्या बहुवचनम्, नात्मभेदाऽभिप्रायेण'।

परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन और युद्ध के लिये उपस्थित नृपतियों को देहभेद *मानकर उक्त श्लोक में 'सर्वे वयम्' इस तरह का बहुवचनान्त प्रयोग* आवश्यक है। परन्तु उक्त श्लोक में 'वय' इस पद से वे सभी आत्मा गृहीत हुये हैं। अतः यह समझा जाता है कि *आत्मा के बहुत्व के कथन से सभी आत्माओं* में परस्पर पारमार्थिक भेद ही व्यक्त किया गया है। अत श्रीभाष्यकार आचार्य रामानुज ने व्याख्या की है "यथाऽहं सर्वेश्वर परमात्मा नित्य इति नात्र संशय तथैव भवन्त क्षेत्रज्ञा आत्मानोऽपि नित्या एवेति मन्तव्यम्। एव भग वत सर्वेश्वरादात्मनाश्च परस्पर भेद पारमार्थिक इति भगवतैव उक्तमिति प्रतीयते'। अर्थात् सर्वेश्वर भगवान् से अन्यान्य सभी आत्माओं का परस्पर भेद पारमार्थिक है। यह उस स्थल में भगवान् ने ही कहा है।

आचार्य रामानुजने इसका समर्थन करते हुए आगे कहा है—'अज्ञान मोहित प्रति तन्निवृत्तये पारमार्थिकनित्यत्वोपदेशसमये "अहं त्वमिमे सर्वे वय-" मिति व्यपदेशात्, औपाधिकात्मभेदवादे हि आत्मभेदस्यावास्तविकत्वेन तत्त्वोपदेश-

समये भेदनिर्देशो न सङ्गच्छते'। तात्पर्य यह है कि आत्मा का भेद औपाधिक अवास्तविक होने से जिस समय में श्रीभगवान् अज्ञान से मोहित अर्जुन को अज्ञान की निवृत्ति के लिये आत्मा के नित्यत्व का उपदेश करते है उस समय अवास्तव भेद का उपदेश नहीं कर सकते हैं। तत्त्वोपदेश के समय में कल्पित मिथ्या भेद का निर्देश सगत नहीं होता है। अत उक्त श्लोक में—'अहम्' 'त्वम्' 'इमे' तथा 'सर्वे वयम्' इत्यादि उक्ति से जो आत्मा का भेद स्पष्ट रूप से कहा गया है। वह भी आत्मा के नित्यत्व की तरह पारमार्थिक ही है। यही सिद्धान्त समझा जाता है। आचार्य रामानुज ने आत्मा के वास्तविक बहुत्व को श्रुतिसिद्ध प्रतिपादित करने के लिए श्वेताश्वतर उपनिषद् के—'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्' इत्यादि श्रुतिवाक्य भी उद्धृत किये हैं।

परन्तु परमात्मा श्रीकृष्ण से अर्जुन आदि के आत्मा का वास्तव भेद न रहने पर श्रीभगवान् ने आत्मा का चिरस्थायित्व प्रतिपादन करने के लिए उक्त स्थल में अर्जुन से यह बात क्यों नहीं कही है कि आप और ये सब नरपति चिरकालसे है और चिरकाल तक ही रहेंगे। क्योंकि मैं चिरस्थायी हू, मुझसे कोई आत्मा वस्तुत भिन्न नहीं है परन्तु श्रीभगवान् ने बाद में ही अपना ईश्वरत्व प्रकाश करते हुए ही कहा है—'न मे पार्थास्ति कर्तव्य त्रिषु लोकेषु किञ्चन' इत्यादि (गी० ३।२२-२०) उनकी दोनोक इस उक्ति से यह ज्ञात होता है कि उनसे कर्म कर्त्ता जीवात्मा भिन्न है। अतएव उन्होंने अर्जुन से कहा है—'नियत कुरु कर्म त्वम्'।

शिष्य—माया का अधीश्वर परमात्मा सर्वज्ञ तथा सर्वेश्वर है, अतएव उनसे अविद्या का वशवर्ती असर्वज्ञ और अनीश्वर जीव का भेद अवश्य ही स्वीकार्य है, पर यह भेद वास्तव या काल्पनिक है यही विचारणीय है। किन्तु भगवद्गीता से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह भेद वास्तव नहीं है, अभेद ही वास्तव है। क्योंकि बाद में दसवें अध्याय में कहा गया है—'अहमा मा गुडा केश सर्वभूताशयस्थित' (श्लोक २०), पश्चात् तेरहवें अध्याय के द्वितीय श्लोक में देही जीव को क्षेत्रज्ञ कहकर तृतीय श्लोक में ही कहा गया है—'क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत'। बाद में पन्द्रहवें अध्याय में स्पष्ट कहा गया है—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत सनातन' (श्लो० १५।७) जीवलोक में ही मेरा अंश जीवभूत है—यह कहने से स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि परमात्मा ने ही सब प्राणीदेह में जीवभाव प्राप्त किया है। अत पारमार्थिक रूप से जीव ईश्वर से भिन्न नहीं है।

गुरु—भगवद्‌गीता के पन्द्रहवें अध्याय के—'ममैवांशो जीवलोके' इत्यादि श्लोक के 'अंश' शब्द से भी अद्वैतवादी ने अपने मत का समर्थन किया है—यह सच है किन्तु उक्त श्लोक के बाद सतरहवें श्लोक में कहा गया है—

'उत्तम पुरुषस्त्वन्य: परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥'

(गी० १५।१७)

इससे ज्ञात होता है कि तीनों लोकों का धारण करनेवाला अन्यय ईश्वर परमात्मा है उत्तम पुरुष है, तथा वे पूर्वोक्त क्षर और अक्षर इन दोनों पुरुषों से वस्तुत भिन्न है, अतः वह परमात्मा जीवात्मा से भी वस्तुतः भिन्न है। अन्यथा पश्चात् उक्त श्लोक का प्रयोजन ही क्या है ? उक्त श्लोक में यह नहीं कहा गया है कि उत्तम पुरुष परमात्मा केवल जड़ पदार्थ से भिन्न है। भेदवादी आचार्यों ने उक्त श्लोक में 'तु' एवं 'अन्य' शब्द से जीवात्मा से भी परमात्मा का वास्तविक भेद विचारपूर्वक समर्थन किया है : तब पूर्वोक्त 'ममैवांशो जीव-लोके' आदि श्लोकों में अंश शब्द से अभेद ही विवक्षित है—यह कैसे समझेंगे ।

परन्तु सावयव द्रव्य का अवयव अर्थात् भाग या एकदेश ही अंश शब्द का मुख्य अर्थ है। निर्विकार तथा निरवयव परब्रह्म का अवयव रूप अंश सम्भव ही नहीं है। वेदान्तदर्शन के—'अंशो नाना व्यपदेशात्' इत्यादि (२।३।४३) सूत्र के भाष्य में आचार्य शङ्कर ने व्याख्या की है —'अंश इव अंशो नहि निरवयवस्य मुख्योऽशः सम्भवति'। अर्थात् निरवयव परमेश्वर का अंश पद का मुख्यार्थ संभव न होने से उक्त सूत्र के अंश पद का अंशतुल्य रूप गौण अर्थ होता है। भगवद्‌गीता के उक्त श्लोक के भाष्य में शङ्कराचार्य ने अपने सिद्धान्त के अनुसार समाधान करने के लिए कहा है—'नैव दोषोऽविद्याकृतो-पाधिपरिच्छिन्न एकदेशोऽश इव कल्पितो यतः'। परन्तु जीव जल में प्रतिबिम्बित सूर्य की तरह अथवा घटाकाश पटाकाश प्रभृति की तरह कल्पित भेदविशिष्ट है अतएव अवास्तव है—यह अन्यान्य सम्प्रदायों ने नहीं माना है। शङ्कराचार्य के सम्मत अनिर्वचनीय अविद्या बहुत विवादग्रस्त है। परन्तु उक्त मत में परब्रह्म के रूप में जीव के सनातन होने पर भी परब्रह्म का अंश भाव एवं उनके वह कल्पित अंश सनातन नहीं है। परन्तु उक्त श्लोक में प्रथमोक्त 'अंश' पद का ही विशेषण पद बाद में 'सनातन' कहा गया है। बहुतों के मत में उस 'अंश' के सनातन नहीं होने से शेषोक्त उस विशेषण की उपपत्ति ही नहीं होती है।

वस्तुतः भगवद्गीता के उक्त श्लोक का 'अंश' शब्द गौणार्थक है, यह सभी को मान्य है। इसलिए उक्त गौणार्थक अंश शब्द से दूसरा तात्पर्य भी समझा जा सकता है। न्याय वैशेषिक आदि सम्प्रदाय के मतानुसार उस 'अंश' शब्द से परमेश्वर और जीव में प्रभुभृत्यवत् सम्बन्ध ही व्यक्त हुआ है। शास्त्र-दीपिका के तर्कपाद में मीमांसाचार्य पार्थसारथि मिश्र ने भी उक्त 'अंश' शब्द के *तात्पर्य की व्याख्या की है। और* ।२।३।४।४३। *शारीरक भाष्य में* शङ्कराचार्य के कथन से भी ज्ञात होता है कि वह व्याख्या भी प्राचीन है। अर्थात् जैसे राजा अपने आश्रित तथा कार्य संपादक आत्मीय आदि को अपना अंश कहता है वैसे ही सभी जीवों के प्रभु परमेश्वर ने सभी जीवों का अपना कार्य संपादक मानकर अपना अंश कहा है। उक्त अंश शब्द का गौण अर्थ अंशतुल्य है। जैसे जीवों के शरीर के अंश हाथ पैर आदि उस शरीर के साथ नाना कार्यों का संपादन करता है वैसे ही सभी जीव उस परमेश्वर के कार्य का संपादक होने से उसके अंशतुल्य होते हैं। वस्तुतः जीव के अस्तित्व के बिना परमेश्वर की *सृष्टि आदि कार्य संभव ही नहीं है। अतएव जीव परमेश्वर का सहकारी शक्ति-*विशेष होने के कारण भगवद्गीता में इसी तात्पर्य से पहले कहा गया है—'प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीव भूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्'—।७।५। विष्णुपुराण में भी कहा गया है अर्थात् जीव परमेश्वर की स्वरूपशक्ति से भिन्न द्वितीय शक्ति है—'विष्णुशक्ति परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा'।६।७।६१। *सहकारी अर्थ में भी 'प्रकृति' शक्ति तथा 'अंश' शब्द का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः* भगवद्गीता के उक्त श्लोक के गौणार्थक अंश शब्द से जीव और ईश्वर का वास्तव अभेद निर्विवाद सिद्ध नहीं होता है।'

---

१. जीव का अणुत्ववादी मध्वाचार्य ने 'वराहपुराण' के वचन के अनुसार परमेश्वर का स्वांश और विभिन्नांश ऐसे द्विविध अंश कहकर मत्स्य, कूर्म, वराह आदि अवतारों को उनका स्वांश अथवा स्वरूपांश कहा है। और समस्त जीवों को उनके विभिन्नांश मानकर उनसे स्वरूपतः भेद ही समर्थित किया है। तदनुसार गौडीय वैष्णवाचार्यों ने भी उक्त द्विविध अंश कहा है तथा विष्णुपुराण के (६।७।६१) वचन के अनुसार जीव को परमेश्वर की स्वरूप शक्ति *से भिन्न द्वितीय शक्ति कहा है। अतः बलदेव विद्याभूषण महोदय ने 'सिद्धान्त-*रत्न' ग्रन्थ के आठवें पाद में लिखा है—'न च तद्भिन्नोऽपि तच्छक्तित्वेन तदंशो निगद्यते" श्री चैतन्यचरितामृत ग्रन्थ में कविराज गोस्वामी ने भी सार्वभौम भट्टाचार्य के पास चैतन्यदेव की उक्ति के रूप से लिखा है—

'गीताशास्त्रे जीवरूप शक्ति करि माने, हेन जीवे अभेद कह ईश्वरेर सने ?॥

भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में पहले जीव को क्षेत्रज्ञ कहकर बाद ही में—'क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' कहा गया है। परन्तु यहाँ पूर्व-श्लोक में उक्त देहाभिमानीस्वरूप क्षेत्रज्ञ ही परवर्ती श्लोक में क्षेत्रज्ञ शब्द से गृहीत होने पर—'क्षेत्रज्ञ तञ्च मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' इसी तरह की स्पष्ट उक्ति क्यों नहीं हुई है। वस्तुतः जैसे जीवात्मा को क्षेत्रज्ञ कहा गया है वैसे ही दूसरे अर्थ में अन्तर्यामी परमात्मा को भी क्षेत्रज्ञ कहा गया है। महाभारत के शान्तिपर्व में यही अर्थ प्रकाश करके कहा गया है—'क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजञ्चापि शुभाशुभम्। तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते' (३५१) (गौडीय वैष्णवाचार्य विश्वनाथ चक्रवर्ती और बलदेव विद्याभूषण ने शान्ति-पर्वोक्त उक्त वचन के अनुसार भीष्मपर्वान्त भगवद्गीता के उपर्युक्त श्लोक की इस तरह से तात्पर्य व्याख्या की है कि जैसे प्रजागण अपने क्षेत्र को ही जानते हैं किन्तु राजा सभी के क्षेत्रों को जानता है वैसे ही प्रत्येक जीव अपने अपने शरीर रूप खेत को आत्मा कहकर जानता है—इसी अर्थ में ही पहले क्षेत्रज्ञ शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु इन सभी जीवों का स्वामी सर्वज्ञ परमेश्वर सभी जीवों के शरीर रूप क्षेत्रों को जानता है। वह (परमेश्वर) सभी जीवों के शरीरात्मक सभी क्षेत्रों में हृदयदेश में अन्तर्यामिरूप में स्थित हैं। श्रीकृष्ण ने कहा है—'क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' तथा उसी तात्पर्य से उन्होंने पहले भी कहा है—'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशय-स्थितः' (१०।२० गी०) श्रीधर स्वामी ने भी यहाँ व्याख्या की है—हे गुडाकेश! सर्वेषां भूतानाम् आशयेष्वन्तःकरणेषु सर्वसाक्षित्वादिगुणैर्नियन्तृत्वेना-वस्थितः परमात्माऽहम्'।

वस्तुतः जीवात्मा तथा परमात्मा ये दोनों ही आत्मन्‌शब्द का वाच्य है। आत्मन्‌शब्द के और भी बहुत से अर्थ हैं।

शास्त्र में किसी किसी स्थल में परमात्मारूप विशेष अर्थ में भी केवल 'आत्मन्' शब्द का प्रयोग हुआ है तथा उसे परमात्मा परमेश्वर का ही वास्त-विक एकत्व है और बहुत से उपाधि भेद से औपाधिक बहुत्व भी कहा गया है। वह सभी भूतों का अन्तरात्मा है—इस अर्थ में किसी-किसी स्थल में वह भूतात्मा भी कहा गया है तथा उसी के बारे में श्रुति ने कहा है—'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्'।

परन्तु—सभी जीवों के देह में रहनेवाला अन्तर्यामी वही महेश्वर परमात्मा उन देह में रहनेवाले जीवात्मा से वस्तुतः भिन्न पुरुष है। अतः भगवद्गीता के उक्त तेरहवें अध्याय में ही कहा गया है—'उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता

भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुष पर ॥' उक्त श्लोक में पश्चादुक्त 'पर' शब्द का 'भिन्न' अर्थ है।

शिष्य—क्या भगवद्गीता के किसी श्लोक से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीवात्मा और परमात्मा का भेद वास्तव है?

गुरु—अवश्य ही समझा जाता है। ज्ञात नहीं होने पर बहुत से सम्प्रदायों ने इसे कैसे समझा है? अभी यह बात कहेंगे। भगवद्गीता के चौदहवें अध्याय का दूसरा श्लोक देखिए—'इद ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च' ॥ इस श्लोक के साधर्म्यशब्द से ज्ञात होता है कि तत्त्वज्ञानी मुक्त पुरुषगण परमेश्वर का सादृश्य प्राप्त करते हैं। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि कविगण यद्यपि अभिन्न पदार्थ में सादृश्य वर्णन करते हैं तथापि भेदविशिष्ट सादृश्य ही साधर्म्यशब्द का मुख्य अर्थ है। भाष्यकार शङ्कराचार्य भी इसे अस्वीकार नहीं कर सके इसलिये उन्होंने उक्त श्लोक का व्याख्या करते हुये कहा है—'मम=परमेश्वरस्य साधर्म्यं मत्स्वरूपतामागताः प्राप्ता इत्यर्थो नतु समानधर्मता साधर्म्यम् क्षेत्रज्ञेश्वरयोर्भेदानभ्युपगमात् गीताशास्त्रे'।

टीकाकार आनन्दगिरि ने शङ्कराचार्य के अभिप्राय को व्यक्त करते हुए वहाँ पर कहा है 'साधर्म्यस्य मुख्यत्वे भेदप्रौव्याद् गीताशास्त्रविरोधः स्यादित्याह—नत्विति' अर्थात् उक्त श्लोक में साधर्म्यशब्द का मुख्य अर्थ लेने से मुक्त आत्मा से भी परमात्मा का भेद अवश्य मानना पड़ता है।

किन्तु यह मानने से गीताशास्त्र के सिद्धान्त का विरोध होता है अतएव गीताशास्त्र के भाष्य के अनुसार भाष्यकार शङ्कराचार्य ने व्याख्या की है—'मम=परमेश्वरस्य साधर्म्यम् मत्स्वरूपतामागताः प्राप्ताः'।

किन्तु गीताशास्त्र का यदि उक्तरूप सिद्धान्त है तो 'मत्स्वरूपत्वमागता.' इस तरह की ही उक्ति क्यों नहीं की गई? सादृश्यबोधक साधर्म्य शब्दप्रयोग का उद्देश्य क्या है? परन्तु मुक्तपुरुषगण परब्रह्म स्वरूप ही होने पर उनके औपाधिक भेद अथवा बहुत्व नहीं रह सकेंगे अतः उक्त श्लोक में 'मम साधर्म्यमागता' इस तरह से बहुवचनान्त प्रयोग कैसे सङ्गत होगा? और यह भी विचार करना आवश्यक है कि वहाँ बहुवचन प्रयोग का उद्देश्य क्या है?

परन्तु मुक्तपुरुषगण परब्रह्म स्वरूप ही होने पर उनका पुनर्जन्म आदि नहीं होता है यह कहना अनावश्यक है अतः उस व्याख्या में उक्त श्लोक के उत्तरार्ध वाक्य का विशेष सार्थकता नहीं होती है, किन्तु मुक्तपुरुषगण परमेश्वर का सादृश्य कैसा है? यह प्रश्न हो सकता है अतएव उस श्लोक के अपर अंश की सार्थकता नहीं होती है। किन्तु मुक्तपुरुषगण परमेश्वर का सादृश्य प्राप्त होते हैं कहने से वह सादृश्य कैसा है यह प्रश्न उदित हो सकता है। इसीलिए उत्तरार्ध

में कहा गया है—'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'। अवश्य और भी अनेक प्रकार का सादृश्य कहा जा सकता है। वस्तुतः भाष्यकार शङ्कर ने उक्त श्लोक में साधर्म्यशब्द का मुख्य अर्थ ग्राह्य नहीं है—इसे सिद्ध करने के लिए—'भेदानभ्युपगमाद् गीताशास्त्रे' इस कथा के द्वारा जो हेतु कहा है वह असिद्ध है। क्योंकि द्वैतवादी सभी संप्रदायों के मत से जीवात्मा और परमात्मा में वास्तव भेद ही गीताशास्त्र का सिद्धान्त है। यहाँ द्वैतवादी से विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य रामानुज तथा द्वैताद्वैतवादी निम्बर्काचार्य को भी मैंने ग्रहण किया है। क्योंकि इन लोगों के मत से भी जीवात्मा और परमात्मा का द्वैत या भेद यथार्थ है। अतः आचार्य शंकर का वह उक्त हेतु प्रतिवादियों की दृष्टि में असिद्ध है इसीसे वह प्रकृत हेतु नहीं है। यह भी सर्वसम्मत है कि जो हेतु सन्दिग्ध है वह भी असिद्ध नामक हेत्वाभास के अन्तर्गत है।

निष्कर्ष यह है कि द्वैतवादी आचार्यों ने मुख्य अर्थ के प्राधान्य से भगवद्गीता के उक्त श्लोक में साधर्म्य शब्द का भेदविशिष्ट सादृश्य रूप मुख्य अर्थ ही ग्रहण किया है। इन लोगों के मत में उक्त मुख्य अर्थ का कोई बाधक नहीं है। मुण्डक उपनिषद् के—'परमं साम्यमुपैति', कठोपनिषद् के—'एव भवति' और भगवद्गीता के—'मम साधर्म्यमागताः' इन सभी वाक्यों से मुक्त पुरुषों को परब्रह्म के साथ सादृश्यविशेष की प्राप्ति ही समझी जाती है। अतएव—'मद्भाव, ब्रह्मभाव तथा ब्रह्मभूय' इत्यादि शब्दों से उसे सादृश्य विशेष ही समझना चाहिये। अत मुक्तिसमय में मुक्त आत्मा में परब्रह्म का भेद रहने से वह भेद नित्य तथा वास्तव सत्य—यह स्वीकार करना चाहिये।

किन्तु शंकराचार्य के मत से मुक्तपुरुष की ब्रह्मभावप्राप्ति अथवा ब्रह्म प्राप्ति क्या है—यह भी समझना होगा। मुण्डक उपनिषद् के भाष्य में उन्होंने स्वयं पहले कहा है—'अविद्यायाः अपाय एव हि परप्राप्तिर्नान्यन्तरम्।' यह पहले भी कहा गया है कि इस मत में मुण्डक उपनिषद् के—'ब्रह्मैव भवति' इस वाक्य के यथाश्रुत अर्थ का ग्रहण नहीं किया गया।

परन्तु भगवद्गीता के—'क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि' इत्यादि श्लोक के भाष्य में पूर्वपक्ष का समर्थन करते हुए शंकराचार्य ने द्वैतवादियों की जो सब बातें कही हैं वे सब बातें भी ध्यान से समझनी पड़ेगी। यदि उन बातों में महत्त्व नहीं है तो शंकराचार्य ने भी क्यों उनका उल्लेख करके अपना सिद्धान्त स्थापन करने के लिए यहाँ उस प्रकार का विस्तृत विचार किया है! शंकर ने पूर्वपक्ष का समर्थन करने के लिए पहले यहाँ द्वैतवादियों की बातें कही है—

ननु सर्वक्षेत्रेषु एक एवेश्वरो नान्यस्तद्व्यतिरिक्तो भोक्ता विद्यते चेत्। तत् ईश्वरस्य संसारित्वम् प्राप्तम्, ईश्वरव्यतिरेकेण वा संसारिणोऽन्यस्याभावात् संसार-

भावप्रसङ्गः, तथोभयमनिष्टम्, बन्धमोक्षतद्धेतुशास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गात्, प्रत्यक्षादि-प्रमाणविरोधाच्च'। तात्पर्य यह है कि सभी जीवों के शरीर में एक ही ईश्वर जब होनेपर वस्तुतः ईश्वर ही सुख और दुःख का भोक्ता संसारी है—यह मानना पड़ता है। अथवा ईश्वर से भिन्न कोई संसारी आत्मा नहीं रहने से संसार का अभाव ही मानना पड़ता है। किन्तु उनमें से कोई भी पक्ष माना नहीं जा सकता है। शंकराचार्य ने बाद में द्वैतवादियों की बहुत-सी बातें कहकर अपने मत के अनुसार समाधान किया है कि ईश्वर का जीवभाव अविद्याकल्पित है अतः उनका संसारित्व तथा सुख दुःख भोग आदि सभी अविद्याकल्पित है। शंकराचार्य ने कहा है—

'चेत्रज्ञस्येश्वरस्यैव सतोऽविद्याकृतोपाधिभेदतः संसारित्वमिव भवति। यथा देहाद्यात्मत्वमात्मनः'।

किन्तु पहले भी कहा गया है कि शंकराचार्य के सम्मत यह अनिर्वचनीय अविद्या बहु विवाद ग्रस्त है।

शिष्य—महाभारत में बहुपुरुषवाद का खण्डन पूर्वक एकपुरुषवाद ही सिद्धान्तरूप में कहा गया है—आचार्य शंकर ने यह भी दिखाया है।

गुरु—शारीरक भाष्य में (३।१।१।) शङ्कराचार्य ने महाभारत के शान्ति पर्व से किन्हीं श्लोकों का उदाहरण देते हुए एकपुरुषवाद का ही सिद्धान्तरूप में समर्थन किया है सही किन्तु द्वैतवादी आचार्यों ने उस स्थल में उन श्लोकों की पर्यालोचना करके यह नहीं समझा है। महाभारत के उस स्थल में वर्णित है कि जनमेजयने वैशम्पायन के पास प्रश्न किया है कि आत्मा अनेक है अथवा एक तथा श्रेष्ठ पुरुष कौन है? एवं पुरुष की योनि अर्थात् जीव देहादि का उत्पादक कौन है? इसके उत्तर में वैशम्पायन कहते हैं कि सांख्य आदि संप्रदाय के अनुसार पुरुष अनेक। वे केवल एक पुरुष नहीं मानते। बाद में उन्होंने उन अनेक पुरुषों को अनेक मानकर ही कहा है कि उन गुणाधिक पुरुष की व्याख्या करूँगा जो अनेक पुरुषों का एकमात्र योनि है। कपिल आदि महर्षियों ने अध्यात्मचिन्ता का आश्रय लेकर सामान्य तथा विशेष रूप से नाना शास्त्रों का उपदेश किया है। किन्तु वेदव्यास विस्तार पूर्वक जिस पुरुष का एकत्व कहते हैं वह मैं तुमसे कहूँगा। बाद में उस एक पुरुष को सभी आत्माओं का साक्षीभूत अन्तर्यामी महापुरुष कहा है। अतः यह हम नहीं समझ सकते कि महाभारत के उक्त स्थल में द्वैतमत का खण्डन हो हुआ है। परन्तु हम लोग समझ सकते हैं कि उक्त स्थल में अध्यात्मचिन्तन में भान कपिल कणाद और गौतम प्रभृति ऋषियों के विभिन्न प्रकार के द्वैतमतप्रतिपादक सभी शास्त्रों का ही सम्मान रक्षित हुआ है। क्योंकि वहाँ वैशम्पायन ने कहा है—

उत्सर्गेणापवादेन ऋषिभिः कपिलादिभिः ।
अध्यात्मचिन्तामाश्रित्य शास्त्राण्युक्तानि भारत ॥
समासतस्तु यद् व्यासः पुरुषैकत्वमुक्तवान् ।
तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि प्रसादादमितौजसः ॥
ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहिसंज्ञिताः ।
सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित् ॥
तस्यैकत्वं महत्त्वञ्च स चैकः पुरुषः स्मृतः ।
महापुरुषशब्दं स बिभर्त्येकः सनातनः ॥
(शान्तिपर्व ३५० ३५१ अध्याय द्रष्टव्य)

यथार्थ में महाभारत के नाना स्थानों में नाना मतों का वर्णन है और कहीं कहीं अद्वैतमत का भी वर्णन हुआ है। भगवान शङ्कराचार्य के द्वारा समर्थित एवं प्रचारित अद्वैतमत भी वेदमूलक सुप्राचीन मत है। किन्तु यह भी अवश्य मानना होगा कि नाना प्रकार के द्वैतमत भी सुप्राचीन वेदमूलक है। पश्चात् तत्त्ववादी मध्वाचार्य प्राचीन किसी द्वैतमतविशेष का समर्थन तथा प्रचार के लिए उस मत के अनुसार उपनिषद् तथा गीता का भाष्य करते हैं। सभी मत कभी सबको रुचिकर नहीं होते हैं। क्योंकि मनुष्य की प्रकृति के वैचित्र्य से गुरुपरम्परा से नाना मतभेद प्रतिष्ठित हुए हैं। उस परमेश्वर की कृपामात्र बहुत से महर्षि तथा आचार्य उन्हीं की प्रेरणा से विभिन्न प्राचीन मतों के अनुसार ही विभिन्न सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा किये हैं। वे सभी परमगौरव एवं परमपूज्य हैं। फिर किसी किसी में उसी मायी महेश्वर की माया से मोहितबुद्धि बहुत से मनुष्यों ने अपने कर्म तथा रुचि के अनुसार नाना तरह से विरुद्ध मतों का भी उपदेश किया है। उद्धव के प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् ने स्वयं ही यह कहा है—

एवं प्रकृतिवैचित्र्याद् भिद्यन्ते मतयो नृणाम् ।
पारम्पर्येण केषाञ्चित् पाषण्डमतयोऽपरे ॥
मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि ॥
श्रीमद्भागवतम् ११।१४।८-९।)

शिष्य—नाना मतभेदों के अन्धकार में प्रकृत सिद्धान्त का निश्चय नहीं कर सकने से हमेशा जो संशय में पड़े रहते हैं उनका श्रेय. क्या है?

गुरु—युधिष्ठिर के उस तरह के प्रश्न के उत्तर में पितामह भीष्मदेव ने कहा था कि निरन्तर गुरुपूजा, वृद्धों की सभी प्रकार से उपासना और नाना

शास्त्रों का श्रवण ये ही उनका श्रेय है [1] यथार्थ में शास्त्रों में नाना मतों के रहने पर भी सब मतों की साधना के लिए प्राचीन पद्धति है। प्रकृत अधिकारी ने मतभेद प्रयुक्त संशय में पड़ कर कभी भी साधना नहीं छोड़ी है और नहीं छोड़ते हैं। क्योंकि वह जानता है—'संशयात्मा विनश्यति' (गीता) गुरु तथा वृद्धों की उपासना एवं नाना शास्त्रों का सुनकर अपने अधिकार एवं अपनी रुचि के अनुसार शास्त्रोक्त जिस सिद्धान्त पर जिसकी श्रद्धा जम जाती है वह गुरु के उपदेश के अनुसार उसी मत को लेकर साधना करता रहता है। भक्ति के अनुकूल परम साधना के अभाव से कालक्रम से जब साधक को उस परमेश्वर में परा भक्ति उत्पन्न होती है—साधक जब तद्गतप्राण तथा तद्गतचित्त होकर हमेशा प्रीतिपूर्वक उनका भजन करता है तब वे ही इस भक्त साधक को 'बुद्धियोग' देते हैं। इसी लिये भगवान् ने स्वयं कहा है—

'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगन्तं येन मामुपयान्ति ते॥ (गीता–१०।९–१०)

यथार्थतः यह श्रुतिसिद्ध है कि उन्हीं परमेश्वर में परा भक्ति और शरणागति के फलस्वरूप उन्हीं की परम कृपा से साधक उनको दर्शन करके आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं। यह सत्य नहीं कि उपनिषद् में परमेश्वर में पराभक्ति तथा शरणागति की बातें नहीं है। (तृतीय अध्याय देखिये) कठोपनिषद् की—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' (१।२।२२) यह बात भी परमेश्वर की कृपा ही की बात है तथा यही सारभूत बात है। श्रीधरस्वामिपाद ने भक्ति को ही मुक्ति का कारण कहने पर भी आत्मज्ञान को भक्ति का व्यापार कहा है। परमेश्वर में पराभक्ति के फल से उन्हीं के प्रसाद से आत्मज्ञान होता है। अतः भगवद्गीता के व्याख्यान के उक्त स्थल में श्रीधरस्वामी पाद ने कहा है—

भगवद्भक्तियुक्तस्य तत्प्रसादात्मबोधतः। सुखं बन्धविमुक्तिः स्यादिति गीतार्थसंग्रहः॥

---

१ युधिष्ठिर उवाच—
'आगमनस्य शास्त्राणां सततं संशयात्मनः।
अकृतव्यवसायस्य श्रेयो ब्रूहि पितामह॥
भीष्म उवाच—
गुरुपूजा च सततं वृद्धानां पर्युपासनम्।
श्रवणञ्चैव शास्त्राणां कूटस्थं श्रेय उच्यते॥
(महाभारत, शान्तिपर्व मोक्षधर्म, २८७ अ०)

दशवाँ अध्याय

न्यायदर्शन में ईश्वर तत्त्व

महर्षि गौतम के मत की व्याख्या करते समय यह बात कई बार कही जा चुकी है कि जीवात्मा ईश्वर से वस्तुत भिन्न है तथा ईश्वर की अनुग्रह के बिना किसी को मुक्ति नहीं हो सकती है। अत यह भी वक्त य है कि गौतम ने न्याय-दर्शन में ईश्वर के सम्बन्ध में किस प्रकार का सिद्धान्त कहा है। गौतम ने न्यायदर्शन के चतुर्थ अध्याय में निम्नलिखित तीन सूत्रों को कहा है—

'ईश्वरः कारण पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्' ४।१।१९

'न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः।' ४।१।२०।

'तत्कारितत्वादहेतु' ४।१।२१।

भाष्यकार वात्स्यायन आदि के मत से उक्त प्रथम सूत्र पूर्वपक्ष सूत्र है। महर्षि गौतम ने पहले उक्त सूत्र के द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में यह मतान्तर प्रकाशित किया है कि जीव के कर्म से निरपेक्ष ईश्वर ही कारण है, चूंकि जीवों की कर्मों की विफलता देखी जाती है। अर्थात् जब जीव कर्म करने पर भी अनेक बार विफल होता है तब जीवों के कर्म कारण नहीं है। ईश्वर ही अपनी इच्छानुसार जगत् की सृष्टि आदि तथा सभी जीवों के सुख दु.ख आदि का विधान करते हैं।

वस्तुत जीव के कर्म आदि से निरपेक्ष ईश्वर ही जगत् की सृष्टि आदि का कारण है—यह भी एक सुप्राचीन मत है। प्राचीन समय में उसीका नाम ईश्वरवाद था। बौद्ध पालिग्रन्थ महाबोधिजातक म उक्त मत का वर्णन है। (जातक पञ्चम खण्ड २२८ पृ० द्रष्ट य है) बुद्धचरित में अश्वघोष ने भी उक्त मत का उल्लेख किया है।[१]

सुश्रुतसंहिता के शारीर स्थान में भी स्वभाववाद, कालवाद, यदृच्छा-वाद तथा नियतिवाद के साथ उक्त प्राचीन ईश्वरवाद का भी उल्लेख हुआ है। चतुर्विध माहेश्वर सम्प्रदाय में अन्यतम नकुलीश पाशुपत सम्प्रदाय ने उक्त मत का ही समर्थनपूर्वक ग्रहण किया था। सर्वदर्शनसंग्रह में माधवाचार्य ने उक्त मत की व्याख्या की है। पहले महानैयायिक उदयनाचार्य ने भी न्याय

---

१ सर्वं वदन्तीश्वरतस्तथाऽन्ये तथा प्रयत्ने पुरुषस्य कोऽर्थ ।
स एव हेतुर्जगत प्रवृत्तौ हेतुर्निवृत्तौ नियत स एव ॥ ९।५३ ॥

कुसुमाञ्जलि के आरम्भ में उक्त मत को महापाशुपत सम्प्रदाय का मत कहकर उल्लेख किया है। गौतम ने पश्चात् कर्मवादियों के मत को व्यक्त करते हुए द्वितीय सूत्र कहा है—'न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः'। अर्थात् ईश्वर ही जगत् की सृष्टि आदि का कारण नहीं है। क्योंकि जीवों के कर्मों के बिना फल की निष्पत्ति नहीं होती है। तात्पर्य यह है कि जीवों को स्वीकृत कर्मजन्य धर्माधर्मात्मक अदृष्ट ही जगत् की सृष्टि आदि के प्रति कारण है। ईश्वर कारण नहीं है।

पूर्वोक्त दोनों मतों का ही खण्डन करने के लिये गौतम ने बाद में अपना सिद्धान्तसूत्र कहा है—'तत्कारितत्वादहेतुः।' अर्थात् पूर्वोक्त मतद्वय के साधक के रूप में जो हेतु कहा गया है वह अहेतु। वह हेतु क्यों नहीं है? अतः कहा है—'तत्कारितत्वात्।' तेन ईश्वरेण कारितत्वात्। 'तत्' शब्द से प्रथम सूत्रोक्त ईश्वर ही गृहीत है अर्थात् जीवों के सभी कर्म एवं उनके फल जब ईश्वर के द्वारा कराये गये हैं तब केवल ईश्वर ही या केवल अदृष्ट ही कारण है यह नहीं कहा जा सकता है। किन्तु जीवों का कर्म तथा ईश्वर दोनों ही जगत् की सृष्टि आदि के प्रति निमित्त कारण है। तात्पर्य यह है कि जीवों के कर्मजन्य धर्माधर्म की अपेक्षा नहीं करता हुआ ईश्वर ही अपनी इच्छा से जगत् की सृष्टि तथा संहार करे तो उनका वैषम्य (पक्षपात) और नैर्घृण्य (निर्दयता) दोष की अपरिहार्य-आपत्ति हो जाती है।

अतः ईश्वर जीवों के धर्माधर्मात्मक अदृष्ट के अनुसार ही संसार की सृष्टि आदि करते हैं अर्थात् जीवों के धर्माधर्मसापेक्ष कर्ता यही सिद्धान्त है। वेदान्त दर्शन में भगवान बादरायण ने भी कहा है—[1]

'वैषम्यनैर्घृण्ये न, सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति' २।१।३४।

वास्तव में, श्रुति ने स्पष्ट कहा है—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौषीतकी—ब्राह्मणम् ३।८ ''पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृहदारण्यक

---

१. भाष्यकार शङ्कराचार्य ने व्याख्या की है—'वैषम्य नैर्घृण्ये नेश्वरस्य प्रसज्येते। कस्मात्? सापेक्षत्वात्। यदि हि निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते स्यातामेतौ दोषौ वैषम्यं नैर्घृण्यञ्च न तु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति। सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते। किमपेक्षत इति चेत्? धर्माधर्मावपेक्षते इति वदामः।'

अतः सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः।

३।२।१३) 'कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः' (श्वेताश्वतर ६।११) 'स वा एष महानज आत्मान्नादो वसुदानः' , बृहदारण्यक ४।४।२४)

निष्कर्ष यह है कि परमेश्वर ही जीवों को साधु तथा असाधु कर्म कराते है। जीव कर्म करनेवाला है और परमेश्वर उन सब कर्मों के करानेवाले हैं। यानी हेतुकर्ता या प्रयोजक कर्ता है। तथा वे ही जीवों के सभी कर्मों के अध्यक्ष है यानी सब अदृष्टों के अधिष्ठाता तथा वे ही जीवों के 'वसुदान' अर्थात् सभी कर्मों का फल देने वाले हैं। अत जीवों का कर्मजन्य धर्माधर्मात्मक अदृष्ट स्वय उसका फल दान करता है उसके लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं है— यह श्रुति का सिद्धान्त नहीं है। अपितु उसी ईश्वर के अनुग्रह से ही अर्थात् सब जीव के सभी अदृष्टों के ऊपर उनके अधिष्ठान के कारण ही अदृष्ट फलजनक होते हैं। यही श्रुति का सिद्धान्त है। महर्षि गौतम ने पूर्वोक्त तृतीय सूत्र के द्वारा उक्त श्रौत सिद्धान्त को ही व्यक्त किया गया है। भाष्यकार वात्स्यायन ने भी गौतम के उस रूप तात्पर्य की ही व्याख्या की है।[1]

गौतम मत के व्याख्याता महानैयायिक उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि के प्रथम स्तवक में विचार पूर्वक युक्तियों के द्वारा भी यह समर्थन किया है कि जीवों के शुभ तथा अशुभ कर्मों से होने वाला धर्माधर्मात्मक अदृष्ट अवश्य मानना होगा। अतएव जीवों की उस अदृष्टसमष्टि के अधिष्ठातृ के रूप में नित्य सर्वज्ञ ईश्वर अवश्य स्वीकारयोग्य है।

तात्पर्य यह है कि जैसे कुल्हाड़ी आदि अचेतन पदार्थ किसी चेतन पुरुष के अधिष्ठान से ही छेदन आदि क्रिया का कारण होता है वैसे ही जीवों की अदृष्ट-समष्टि रूप अचेतन पदार्थ भी किसी चेतन पुरुष के अधिष्ठान से ही जगत् की सृष्टि आदि के प्रति कारण हो सकता है। चेतन पुरुष के अधिष्ठान के बिना अचेतन पदार्थ कदापि कार्य का जनक नहीं हो सकता है। किन्तु असर्वज्ञ जीव कभी उसके अदृष्ट का अधिष्ठाता नहीं हो सकता है। अत जो अनादि काल से असख्य जीवों के असख्य अदृष्टों का प्रत्यक्ष कर रहे हैं और किस समय में किस स्थान में किस अदृष्ट का कैसा फल होगा यह भी प्रत्यक्ष कर रहे है इस तरह के किसी सर्वदर्शी पुरुष को अवश्य मानना होगा। वे ही जीव के समूचे अदृष्टों का अधिष्ठाता है, अत वे ही जीव के सकल कर्मों का फल देने वाले

१. 'पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृह्णाति। फलाय पुरुषस्य यतमानस्येश्वर फल सम्पादयतीति। यदा न सम्पादयति तदा पुरुषकर्माफलं भवति। तस्मादीश्वरकारितत्वादहेतुः पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेरिति।'
(उक्त सूत्र का भाष्य)

हैं। इसी से श्रुति ने उसी को—'कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास' कहा है। उपर्युक्त श्रौत सिद्धान्त के अनुसार परमेश्वर साधु कर्म की तरह असाधु कर्म के भी करानेवाले हैं। क्योंकि पूर्व जन्म के जिस कर्म के फल स्वरूप इस जन्म में जो जीव जिस समय में जिस असाधु कर्म करके जिस काल में उसके जिस फल को भोगेगा वह सभी कर्मो का आध्यक्ष तथा सर्वज्ञ वे परमेश्वर ही जानते हैं और वे ही जीव के उस कर्म का फल देने वाले हैं।

अतः जीव के पूर्वजन्मकृत उस कर्म के अनुसार जीव को वह कर्मफल देने के लिये वे जब में इस जन्म से वह असाधु कर्म कराते हैं और जीव के पूर्व जन्म के वे सब कर्म भी उन्होंने तत् पूर्व पूर्व जन्म के कर्मानुसार ही कराये हैं। सृष्टि का प्रवाह या जीवों का संसार अनादि है यह मैंने पहले कहा है। सभी जीवों की सभी जन्मों में विभिन्न शरीर की सृष्टि उसके पूर्वजन्मकृत कर्मफल धर्माधर्मजन्य है इसी सिद्धान्त को प्रकाश करने के लिये महर्षि गौतम ने भी पहले कहा है—"पूर्वकृतफलानु बन्धात्तदुत्पत्तिः' ३।२।६०।

ईश्वर जीव के सभी कर्मों का कराने वाला होने पर भी जीव स्वयं उसका कर्त्ता है। अतः जिस अवस्था में जिन मनुष्यों के लिये जो क्रियाएँ पाप जनक के रूप में निर्दिष्ट है, ईश्वर से प्रेरित होकर उन कर्मों के करने पर भी

---

१ कोई कोई कहते है कि गौतम के मत मे सर्वज्ञ ईश्वर जीव के अतीत शुभ एवं अशुभ कर्म के अनुसार ही जगत् का कर्ता है तथा जीव के सुख दुःख का विधाता है अर्थात् गौतम ने शुभाशुभ कर्मजन्य धर्म तथा अधर्म नामक आत्म गुण नहीं माना है। किन्तु उक्त सूत्र मे (३।२।६०) गौतम 'पूर्वकृत' शब्द के बाद 'फल' शब्द का प्रयोग किया है। वात्स्यायन ने भी उक्त सूत्र में 'पूर्वकृत' शब्द तथा 'फल' शब्द के अर्थ की व्याख्या की है—'पूर्वशरीरे या प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भलक्षणा तत् पूर्वकृत कर्मोक्तम् तस्य फल तज्जनितो धर्माधर्मौ। परन्तु गौतम ने न्यायदर्शन के तृतीय अध्याय म भी पहले—'शरीरदाहे पातकाभावात्' (१।४) इस सूत्र में 'पातक' शब्द से अधर्म का उल्लेख किया है। बाद म तृतीय आह्निक म ४१वें सूत्र म संस्कार के उद्बोधकसमूह का उल्लेख करते हुये सबसे अन्त म धर्म और अधर्म का भी उल्लेख किया है। अतः नैयायिकसम्प्रदाय ने गौतम के सूत्र के अनुसार ही धर्माधर्म को जीवात्मा के गुण के रूप म व्याख्या की है। वैशेषिक दर्शन के पञ्चम तथा षष्ठ अध्याय मे महर्षि कणाद ने भी धर्माधर्म रूप अदृष्ट का उल्लेख किया है। वैशेषिक का आचार्य प्रशस्तपाद आदि ने भी धर्माधर्म को जीवात्मा का गुण कहा है।

तज्जन्य अपराध या पाप उनको अवश्य ही होगा, अन्यथा ईश्वर से प्रेरित होकर साधुकर्म के करने से तज्जन्य पुण्य भी क्यों होगा ? जैसे पिता के आदेश से बाध्य होकर पुत्र किसी कुकर्म को करता है तो उसका भी तज्जन्य अपराध होता है, एवं उसके कारण उसके लिए भी राजदण्ड की व्यवस्था है। उसी तरह से मानव ईश्वर से प्रेरित होकर असाधुकर्म करने पर भी तज्जन्य उनका अपराध अवश्य ही होगा। और ईश्वर भी उनके पूर्वपूर्वजन्म में कृत कर्मों के अनुसार ही उन को अनादिकाल से ही यथाकाल उन सब असाधुकर्मों में प्रेरित करते हैं। क्योंकि वे ही जीवों के सभी कर्मों का फल देने वाले हैं।

वेदान्तदर्शन में बादरायण ने भी सिद्धान्तसूत्र कहा है—'परात्तु तच्छ्रुतेः' २।३।४१। भाष्यकार शङ्कराचार्य ने पहले वहाँ पर जीवात्मा के कर्तृत्व को उपाधिनिमित्तक तथा अयथार्थ कहकर समर्थन करने पर भी बाद में उक्त सूत्र के अनुसार उस कर्तृत्व को भी उन्होंने ईश्वराधीन कहा है। जीव के किसी भी कर्म में उसका कर्तृत्व स्वाधीन नहीं है। इसलिए उक्त वेदान्त सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार शङ्कराचार्य ने भी स्पष्ट कहा है—'सर्वास्वेव प्रवृत्तिषु ईश्वरो हेतु कर्तेति श्रुतेरवसीयते। तथाहि श्रुतिर्भवति—'एष ह्येव साधुकर्म कारयति'— इत्यादि। अर्थात् जीवों के सभी कर्मों में अन्तर्यामी ईश्वर ही प्रयोजक कर्ता है— इस विषय में श्रुति ही प्रमाण है। अतः वही वास्तव सिद्धान्त है। शङ्कराचार्य ने वहाँ परवर्ती वेदान्तसूत्र के भाष्य में आशङ्कित दोषों के खण्डन के लिए स्पष्ट कहा है[1] कि जीवों का कर्तृत्व ईश्वराधीन होने पर भी जीव उन सभी कर्मों को अवश्य ही करते हैं। अन्यथा ईश्वर उसके करानेवाले अर्थात् प्रयोजककर्ता नहीं हो सकते हैं। अतएव ईश्वर जीवों के पूर्व कर्मों के अनुसार ही अनादिकाल से जीवों से कर्म कराते हैं। जीवों के संसार के अनादि होने से सभी जीवों के सभी जन्मों में ईश्वर पूर्वजन्मकृत कर्मों के अनुसार अन्य कर्मों का प्रयोजककर्ता हो सकते हैं।

उपर्युक्त वेदान्त सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार शङ्कराचार्य ने यह भी कहा है कि—'तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवितुमर्हति' अर्थात् ईश्वर

---

१. नैष दोषः, परायत्तेऽपि हि कर्तृत्वे करोत्येव जीवः, कुर्वन्तं हि तमीश्वरः कारयति। अपि च पूर्वप्रयत्नमपेक्ष्येदानीं कारयति। पूर्वतरञ्च प्रयत्नमपेक्ष्य पूर्वमकारयदित्यनादित्वात्संसारस्येत्यनवद्यम्'—

(शारीरक भाष्य २।३।४२।)

की अनुग्रह के कारण प्राप्त तत्त्वज्ञान के द्वारा ही मोक्ष की सिद्धि सम्भव है। क्योंकि यह भी श्रुतिसिद्ध वस्तु है।

तात्पर्य यह है कि ईश्वर जिसको मुक्त करने की इच्छा करते हैं उससे वे ही मुक्ति के सपादक अच्छे कर्म कराते हैं।—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' इत्यादि श्रुतिवाक्य से यह कहा गया है। अत जीव के ससार की तरह मुक्ति भी उस ईश्वर के अधीन में ही है यह भी उक्त श्रुति वाक्य से सिद्ध होता है। महर्षि गौतम ने भी—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' इत्यादि श्रुतिवाक्य के अनुसार ही पूर्वोक्त सिद्धान्त सूत्र में कहा है—'तत्कारितत्वात्'। अत' उक्त वेदान्तसूत्र के द्वारा शङ्कराचार्य ने शेषोक्त जिस सिद्धान्त की व्याख्या की है वह भी गौतम के उक्त सूत्र से सूचित हुआ है—इसमें सन्देह नहीं है। वस्तुत गौतम के मत में यह चिरप्रसिद्ध है कि परमेश्वर के अनुग्रह से ही मुक्ति के कारण तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। माधवाचार्य प्रभृति भी यह कह गये हैं।[1]

बहुत से विद्वान् कहते हैं कि कणाद ने अपने द्वारा कथित द्रव्यादि षट् पदार्थों में तथा गौतम ने अपने द्वारा कथित प्रमाणादि सोलह पदार्थों में ईश्वर का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने जिस आत्मा का उल्लेख किया है वह जीवात्मा है। क्योंकि आगे जाकर आत्मनिरूपण में उन्होंने जीवात्मा की ही तत्त्वपरीक्षा की है। इसके उत्तर में सबसे पहले यह कहना है कि गौतम ने प्रमेय पदार्थों में पहले आत्मन् शब्द से जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों का ही उल्लेख किया है और आत्मा के लक्षण सूत्र के द्वारा उन्होंने परमात्मा=ईश्वर का लक्षण भी कहा है। न्यायसूत्र की वृत्ति में विश्वनाथ आदि ने भी उसी प्रकार की ही व्याख्या की है। आगे प्रमेय पदार्थ की व्याख्या में यह कहूँगा। भाष्यकार वात्स्यायन किसी कारण से उक्त स्थल में ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या नहीं करने पर भी उनके मत में भी ईश्वर भी आत्मा है, वे जीवात्मा से भिन्न 'परमात्मा' हैं क्योंकि बाद में वात्स्यायन गौतम के 'तत्कारितत्वादहेतु' इस सूत्र के भाष्य में गौतमसम्मत ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा है—'गुणविशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः। तस्यात्मकल्पात् कल्पान्तरानु

---

[1] सर्वदर्शनसंग्रह में (अक्षपाददर्शन में) गौतममत की व्याख्या करते हुए माधवाचार्य ने भी लिखा है—'तस्मात् परिशेषात् परमेश्वरानुग्रहवशात् श्रवणादिक्रमेणात्मतत्त्वसाक्षात्कारवत पुरुषधौरेयस्य दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी नि श्रेयसमिति निरवद्यम्'।

शङ्कराचार्य विरचित 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' नामक ग्रन्थ में (वैशेषिक पक्ष पृ० २१२। एवं नैयायिक पक्ष पृ० २२८) द्रष्टव्य।

पर्गशः' । तात्पर्य यह है कि आत्मा दो प्रकार के होते हैं—जीवात्मा और परमात्मा । ईश्वर आत्मा का ही दूसरा प्रकार है । उसमें भी आत्मत्व है । अतः शास्त्र में उन्हें परमात्मा कहा गया है । वात्स्यायन आगे जाकर वहाँ पर आत्मा का अस्तित्वसाधक ज्ञान जो ईश्वर में भी है, अर्थात् ईश्वर भी ज्ञानात्मक गुण-विशिष्ट आत्मा इसका समर्थन किया है ।

वास्तव में वात्स्यायन के मत में भी ईश्वर भी आत्मा शब्द का वाच्य होने से प्रमेय पदार्थ के विभागसूत्र में गौतमोक्त आत्मन् शब्द से पूर्वोक्त द्वितीय आत्मा ही समझने चाहिये । वहाँ पर ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या के लिए अपने मत के अनुसार वात्स्यायन ने और भी जो सब बातें कही हैं उनको भी अवश्य देखना चाहिये ।

इसी प्रकार वैशेषिकदर्शन में महर्षि कणाद ने भी नौ प्रकार के द्रव्य पदार्थों में 'आत्मन्' शब्द से जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ही उल्लेख किया है । अन्यथा उनके पदार्थों की गणना में न्यूनता होती है अतः वहाँ पर 'उपस्कार' टीकाकार शङ्करमिश्र ने भी यही कहा है एवं उन्होंने अपने 'कणाद रहस्य' नामक ग्रन्थ में भी कणादसम्मत आत्मा की व्याख्या करते हुए जीवात्मा और परमात्मारूप दो प्रकार के आत्मा कहकर बाद में प्रमाणों के द्वारा सर्वज्ञ परमात्मा यानी ईश्वर के भी अस्तित्व का समर्थन किया है । प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद ने भी कणादोक्त पृथिवी आदि नौ प्रकार के द्रव्य पदार्थों का उल्लेख करके आगे जाकर कहा है—'तद्व्यतिरेकेणान्यस्य संज्ञानभिधानात्' । अर्थात् सभी पदार्थों के उपदेश के लिए प्रवृत्त महर्षि कणाद पूर्वोक्त नौ प्रकार के द्रव्यों से भिन्न किसी द्रव्य का नाम नहीं कहने से उनके मत में नौ ही प्रकार के द्रव्यपदार्थ हैं ।

इसीलिए प्रशस्तपाद के मत से भी महर्षि कणाद ने द्रव्य पदार्थ में 'आत्मन्' शब्द से परमात्मा (ईश्वर) को भी लिया है यह स्वीकार करने योग्य है । अन्यथा यह कहना आवश्यक होगा कि प्रशस्तपाद आगे जाकर सृष्टि तथा संहार के कर्ता के रूप में महेश्वर का जो उल्लेख किया है वह उनके मत से कणादोक्त कौन सा पदार्थ है । अतः प्रशस्तपाद की इसी उक्ति का समर्थन करने के लिए न्यायकन्दलीकार श्रीधरभट्ट ने अन्त में कहा है—'ईश्वरोऽपि बुद्धिगुणत्वादात्मैव' । अर्थात् बुद्धि या ज्ञान जिसका गुण है वह आत्मन् शब्द का वाच्य अर्थ है, जब नित्य ज्ञानरूप बुद्धि ईश्वर का गुण है तब वह ईश्वर भी आत्मा ही हैं, वे आत्मा से भिन्न अपरजातीय कोई द्रव्य नहीं है ।[१] अतः कणाद के द्रव्य पदार्थ

---

१. कणाद के द्वारा कहे गये रूप आदि, गुण पदार्थ जो द्रव्य पदार्थ में ही

के बीच आत्मन् शब्द से ईश्वर भी गृहीत हुये हैं। वास्तव में वैशेषिक सम्प्रदाय ने भी प्राचीनकाल से ही कणाद के सूत्रानुसार ही संसार के निमित्तकारण नित्य तथा सर्वज्ञ ईश्वर का समर्थन किया है। इसी से शारीरक भाष्य में शङ्कराचार्य ने भी कहा है—'तथा वैशेषिकादयोऽपि केचित् कथञ्चित् स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्तकारणमीश्वर इति वर्णयन्ति'—२।२।३७।

ऐसी स्थिति में कणाद तथा गौतम ने आत्मा की तत्त्व की परीक्षा के समय में परमात्मा की भी तत्त्व परीक्षा क्यों नहीं की है? इसके उत्तर में पहले यही कहना है कि कणाद तथा गौतम ने विस्तार द्वारा स्वकथित सभी पदार्थों की तत्त्वपरीक्षा नहीं की है किन्तु जिन पदार्थों की तत्त्वपरीक्षा की आवश्यकता समझी है, उन्हीं की तत्त्वपरीक्षा की है। दूसरी बात यह है कि उन लोगों के *मत से मुमुक्षु के अपने आत्मा का यानी जीवात्मा का साक्षात्कार ही संसार के* निदानरूप मिथ्याज्ञान की निवृत्ति करके मुक्ति का साक्षात् कारण होता है।

अतएव वे उसी आत्मसाक्षात्कार के उपाय के रूप में जीवात्मा का श्रुति विहित मनन जिस तरह से करना चाहिए उसीके उपदेश के लिए जीवात्मा जो देहादि से भिन्न तथा नित्य है—इसी विषय के लिए विशेष रूप से अनुमानात्मक युक्ति दिखाये गये हैं। अतः वहाँ पर परमात्मा ईश्वर के तत्त्व की परीक्षा नहीं करने पर यह प्रतिपादित नहीं होता है कि वे ईश्वर के तत्त्वज्ञान की आवश्यकता स्वीकार नहीं करते थे।

तीसरा वक्तव्य यह है कि गौतम ने न्यायदर्शन के चतुर्थ अध्याय में पूर्वोक्त तीन सूत्रों के द्वारा संक्षेप में ईश्वरतत्त्व की परीक्षा भी की है तथा कणाद ने भी जीवात्मा की परीक्षा से पूर्व ही द्वितीय अध्याय में दूसरे प्रसङ्ग में परमात्मा ईश्वर के बारे में अनुमानप्रमाण दिखाने से उसी के द्वारा सामान्यतः ईश्वर की

रहते हैं यह गुण के लक्षण में कणाद ने स्वयं ही कहा है। उनमें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग तथा विभाग—ये पाँच सामान्य गुण द्रव्य मात्र के ही गुण हैं, अतः ईश्वर के भी गुण हैं—यह समझा जाता है। तथा जगत्कर्ता ईश्वर में ज्ञान इच्छा एवं प्रयत्न ये तीन विशेष गुण अवश्य हैं। तब रूप आदि चौबीस गुणों में से ईश्वर में आठ गुण रहते हैं यह समझा जाता है। इसीसे कहा गया—महेश्वरेऽष्टौ। किसी प्राचीन सम्प्रदाय ने ईश्वर में ज्ञान से भिन्न इच्छा तथा प्रयत्न को नहीं मान कर (ईश्वर में) छः गुण कहे थे। उद्द्योतकर तथा श्रीधरभट्ट ने उक्त मत का उल्लेख किया है। किन्तु वाचस्पति मिश्र तथा उदयनाचार्य आदि ने उक्त मत नहीं माना है।

तत्त्वपरीक्षा भी की है। इसीलिए बाद में तृतीय अध्याय में आत्मा की परीक्षा करते हुए उन्होंने केवल जीवात्मा की ही तत्त्व परीक्षा की है।

अब कणाद ने किस प्रसङ्ग में कैसे ईश्वर के विषय में अनुमान प्रमाण प्रदर्शित किया है—यह भी यहाँ संक्षेप में कह रहा हूँ। कणाद ने वायु के अस्तित्व के विषय में अनुमान प्रमाण दिखा कर उसकी 'वायु' इस संज्ञा के बारे में प्रमाण प्रकाशित करने के लिए सूत्र कहा है—'तस्मादागमिकम्' २।१।१७।

अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार अनुमान प्रमाण के द्वारा वायु का अस्तित्व सिद्ध होने पर भी उसका नाम जो वायु है—यह सिद्ध नहीं होता है। अतः उसका 'वायु' यह नाम आगमिक है, अर्थात् आगम से सिद्ध है। सारांश यह है कि वेद के बिना किसी स्वतन्त्र अनुमानात्मक प्रमाण से 'वायु' यह संज्ञा प्रतीत नहीं होती है। कणाद ने इसके बाद ही दो सूत्र कहे हैं—'संज्ञाकर्मत्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् २।१।१८। प्रत्यक्ष प्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः २।१।१९।

प्रथम सूत्र से कणाद ने कहा है कि वायु आदि पदार्थों का जो संज्ञाकर्म नामकरण है वह 'अस्मद्विशिष्ट', हम लोगों से विशिष्ट पुरुष का लिङ्ग अर्थात् अस्तित्वसाधक है। द्वितीय सूत्र के द्वारा यह समझाने के लिये कणाद ने कहा है कि चूँकि कर्ता के प्रत्यक्ष से किसी वस्तु का संज्ञाकर्म यानी नामकरण होता है। तात्पर्य यह है कि उन सभी पदार्थों के प्रत्यक्ष के बिना पहले पहल उनका नामकरण नहीं किया जा सकता है। इसलिए 'वेदोक्त' वायु आदि अनेक नामों से सिद्ध होता है कि उन नामों के प्रतिपाद्य विषयों का साक्षात्कार करने वाले, पुरुष ने ही इन नाम को बताया है। अतएव जिन्होंने सबसे पहले वेद में इन नामों को बताया उसी वेदकर्ता आदि गुरु की सर्वज्ञता नित्यसिद्धा यह स्वीकारयोग्य है क्योंकि वेद रचना से अन्य किसी उपाय से ही कोई पुरुष सर्वज्ञता लाभ करके वेदोक्त उन सभी नामों को नहीं कर सकता है।

कणाद के पूर्वोक्त प्रथम सूत्र में—'अस्मद्विशिष्टानां' इस बहुवचनान्त पद से यह भी प्रतीत हो सकता है कि महेश्वर तथा ब्रह्मा आदि ईश्वर उनके बुद्धिस्थ थे। परन्तु कणाद ने पहले कहा है—'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'। उदयनाचार्य ने उस सूत्र में 'तत्' पद से ईश्वर को ही ग्रहण करके व्याख्या की है—'तेनेश्वरेण प्रणयनात्'।

परन्तु न्यायकन्दली टीका में (२१६ पृष्ठ पर) श्रीधरभट्ट उक्त सूत्र के 'तत्' पद से कणाद का क्या बुद्धिस्थ था—यह समझाने के लिए कणाद को शेषोक्त सूत्र कहकर अस्मद्विशिष्टस्य तु लिङ्गमृषे' ऐसा एक सूत्र उद्धृत किया है। वहाँ उनकी व्याख्या से उक्त सूत्र में—'अस्मद्विशिष्टस्य' यही वास्तव पाठ है यह

समझा जाता है। उक्त सूत्र में एकवचनान्त ऋषि शब्द के उल्लेख को करना आवश्यक है। इसे समझने में कुछ भी बाधा नहीं है कि उक्त 'ऋषि' शब्द से वेद कर्ता परमेश्वर महर्षि कणाद के उद्दिष्ट हैं। क्योंकि ऋषि शब्द का एक अर्थ वेदार्थद्रष्टा है। परमेश्वर ही सभी पदार्थों का आदिद्रष्टा तथा सभी के आदिगुरु हैं।

अवश्य प्रचलित वैशेषिकदर्शन में उक्तरूप सूत्र नहीं मिलता है। परन्तु यह भी नाना कारणों से समझा जाता है कि कणाद के बहुत से सूत्र लुप्त हो गये हैं। जो भी हो निष्कर्ष यह है कि कणाद किसी सूत्र में जगत्कर्ता ईश्वर का नामविशेष का उल्लेख न करने पर भी उससे यह प्रतिपादित नहीं होता है कि उन्होंने ईश्वर के विषय में कोई बातें नहीं कही है। क्योंकि ईश्वर के विषय में अनुमान प्रमाण दिखाने पर उसमें ईश्वर का नाम नहीं कहा जा सकता है। सर्वज्ञत्व अथवा जगत्कर्तृत्व आदि रूप में ही ईश्वर का अनुमान हो सकता है। इसीलिए कणाद ने पूर्वोक्त रूप से अनुमान प्रमाण प्रदर्शित किया है। महर्षि पतञ्जलि ने भी योगदर्शन में—'तत्र *निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्*'। १।२५। इस सूत्र से अपने मत के अनुसार नित्य सर्वज्ञ ईश्वर का अस्तित्वसाधक अनुमान प्रमाण ही प्रदर्शित किया है। किन्तु उसके द्वारा उस ईश्वर का नाम तथा अन्यान्य समूचे तत्त्वों की विशेष जानकारी नहीं होती है। इसलिए भाष्यकार व्यासदेव ने वहाँ पर कहा है—'तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या'। यानी उस ईश्वरका नाम तथा अन्यान्य तत्त्व वेद आदि शास्त्रों से जानने चाहिये। वैशेषिक दर्शनके पूर्वोक्त स्थल में कणाद का भी उक्तरूप तात्पर्य समझा जाता है। किन्तु वहाँ बाद में कणाद का—'तस्मादागमिकम्' इस पूर्वोक्त सूत्र की अनुवृत्ति समझ के कणाद ने वायु की तरह ईश्वर के नाम आदि भी आगमिक होने के कारण वेद आदि शास्त्रों से ही उसे जानने को कहा है—यह भी अवश्य ही समझा जाता है। सूत्रग्रन्थ में किसी किसी स्थल में पूर्वकथित सूत्र की भी आगे अनुवृत्ति सूत्रकार को अभिमत रहती है तथा सूत्रकार ऋषि आदियों के स्वल्पाक्षरसूत्र से बहुत से अर्थ सूचित होते हैं। अतएव उसका नाम सूत्र है।[१]

यह भी जानना आवश्यक है कि किसी शास्त्रकार ने शास्त्रान्तरोक्त जिन मतों का खण्डन नहीं किया है या जो मत उनके मत के अविरुद्ध है वह उनका अपना

---

१ श्रीमद्वाचस्पतिमिश्र ने लिखा है—'सूत्रञ्च बह्वर्थसूचनाद्भवति। यथाहु—लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च। सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिण'। इति 'भामती' १।१।१।

भी अभिमत है—यह 'अनुमत' नामक तन्त्रयुक्ति से ज्ञात होता है। सुश्रुत-संहिता के उत्तरतन्त्र में तन्त्रयुक्ति अध्याय में बत्तीस प्रकार की तन्त्रयुक्ति तथा उनके उदाहरण कहे गये हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अन्त में भी उन सभी तन्त्रयुक्तियों का उल्लेख देखा जाता है। उनमें एक का नाम 'अनुमत' है। न्यायदर्शन के चतुर्थ सूत्र के भाष्य के अन्त में वात्स्यायन ने भी कहा है—'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतमिति हि तन्त्रयुक्तिः'। अतएव जगत्कर्ता नित्य सर्वज्ञ ईश्वर कणाद का भी सम्मत है—यह पूर्वोक्त तन्त्रयुक्ति के द्वारा भी ज्ञात होता है।

कणाद तथा गौतम के मतानुसार वह ईश्वर नित्यज्ञान तथा आनन्दस्वरूप एवं वस्तुत निर्गुण है—यह नहीं समझा जाता है। क्योंकि कणाद के मत से ईश्वर द्रव्य पदार्थ के अन्तर्गत है, अतएव सगुण है। ज्ञान आत्मा का ही गुण है—यह गौतम ने विचारपूर्वक समर्थित किया है, अतएव प्रतीत होता है कि उनके मतानुसार भी परमात्मा भी नित्यज्ञानस्वरूप नहीं है। किन्तु नित्यज्ञान उसका गुण है। सृष्टि तथा संहार के कर्त्ता एक वे ही सर्वदा सर्वविषयक प्रत्यक्षरूप नित्यज्ञान का आश्रय है—इसी अर्थ में वे नित्य सर्वज्ञ है।[1]

गौतममत की व्याख्या करते समय भाष्यकार वात्स्यायन ने भी कहा है कि ज्ञान आदि गुण से रहित ईश्वर किसी प्रमाण का ही विषय न होने से उस प्रकार के ईश्वर को कोई भी उपपादित नहीं कर सकते हैं। अर्थात् प्रमाण के अभाव में निर्गुण तथा निर्विशेष ब्रह्म सिद्ध ही नहीं होता है।

परन्तु सर्वविषयक शास्त्र से भी यही समझा जाता है कि ईश्वर सर्वविषयक ज्ञान का आश्रय है यानी नित्यज्ञान ही उनका गुण है। वात्स्यायन का तात्पर्य यह है कि—'यः सर्वज्ञः स सर्ववित् यस्य ज्ञानमयन्तपः' (मुण्डक १।१।९)। इस श्रुतिवाक्य से ज्ञात होता है कि ईश्वर सामान्यतः तथा विशेषतः सर्वविषयक नित्यज्ञान का आश्रय है। परन्तु वायुपुराण के बारहवें अध्याय में भी महेश्वर के छः अङ्गों का वर्णन के प्रसंग में सर्वज्ञता को उनके पहला अङ्ग कहा गया है तथा ज्ञान आदि दस अव्यय पदार्थ जो सर्वदा उनमें वर्त्तमान हैं—

---

१ षड्दर्शनसमुच्चय में नैयायिकमत की व्याख्या के आरम्भ में जैन पण्डित हरिभद्र सूरि ने भी कहा है—'अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिवः। विभुर्नित्यैकसर्वज्ञो नित्यबुद्धिसमाश्रयः।' उक्त श्लोक के अक्षपाद शब्द का अर्थ अक्षपादमतावलम्बी नैयायिक। हेमचन्द्र सूरि ने—'नैयायिकस्त्वाक्षपादः' (अभिधानचिन्तामणि ग्रन्थ में कहा है)।

यह भी आगे कहा गया है। योगदर्शनभाष्य की (१।२५) टीका में श्रीमद्वाच स्पतिमिश्र ने भी वायुपुराण के वे सब वचन उद्धृत किये हैं। ईश्वर का यह ज्ञानात्मक गुण भी अन्वय या नित्य है। अत वायुपुराण में कहा गया है—'अव्ययानि दशैतानि नित्य तिष्ठन्ति शङ्करे'।

विष्णुपुराण में कहा गया है कि—'सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणा' (१।९।४३) इससे ज्ञात होता है कि सत्त्व, रजस् तथा तमस ये तीनों गुण तथा दूसरे कोई प्राकृत गुण परमेश्वर में नहीं हैं। रामानुज प्रभृति वैष्णवाचार्यों ने भी परमेश्वर के विषय में शास्त्रोक्त निर्गुणवाद का उक्तरूप अर्थ ही किया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में—'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इस वाक्य में तथा शास्त्र में अन्यत्र भी निर्गुण प्रभृति शब्द का उक्त रूप अर्थ ही समझना चाहिये।

यथार्थ में गुण का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है। सत्त्व, रज तथा तम —ये नामत्रय शास्त्रोक्त त्रिगुण तथा 'गुण' शब्द का सुप्रसिद्ध अर्थ हैं। कोषकार अमरसिंह ने कहा है—"गुणा सत्त्व रजस्तम"। यद्यपि परमेश्वर उक्त तीनों गुणों से रहित है, तथापि त्रिगुणात्मिका प्रकृति की अपेक्षा करके उसके अनुसार ही ईश्वर सृष्टि आदि का विधान करता है। नव्य नैयायिक के गुरु गङ्गेश उपाध्याय ने भी तत्त्वचिन्तामणि के मङ्गलाचरण श्लोक में प्रारम्भ में कहा है—"गुणातीतोऽपीशस्त्रिगुणसचिवस्त्र्यक्षरमय"। यहाँ पर 'रहस्य' टीकाकार मथुरानाथ तर्कवागीश ने कहा है—"सत्त्वादयश्च न्यायनये सृष्टिस्थितिप्रलयोत्पादका अदृष्टमेव एवेति नाप्रसिद्धि"। अर्थात् नैयायिक सम्प्रदाय के मत से सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय के जनक जीवगत अदृष्टविशेष हो शास्त्र में सत्त्व, रज तथा तम इन तीन नामों से कहा गया है परमेश्वर में उनके न रहने से वे गुणातीत या निर्गुण कहे गये हैं। गङ्गेश के पूर्ववर्ती उदयनाचार्य के वचन से भी प्रतीत होता है कि नैयायिक सम्प्रदाय के मत से भी सभी जीवों की अदृष्टसमष्टि ही त्रिगुणात्मिका प्रकृति है और वह माया तथा अविद्या शब्द से कही गयी है।[१]

जो भी हो, मौलिक बात यह है कि महर्षि कणाद तथा गौतम के मत से परमेश्वर नित्यज्ञान का आश्रय है।

---

१ न्यायकुसुमाञ्जलि प्रथमस्तबक के अन्तिम श्लोक में महानैयायिक उदयनाचार्य ने कहा है कि जीवगण के विचित्र जो सब अदृष्ट हैं वे सृष्टि आदि-कार्य में परमेश्वर का सहकारी कारणरूप शक्तिविशेष ही वह अति दुर्ज्ञेय

यह अवश्य सत्य है कि श्रुति ने कहा है—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'। किन्तु कणाद तथा गौतम के मतानुसार ज्ञान और आनन्द विरुद्ध स्वभाव के पदार्थ होने के कारण जो ज्ञानात्मक है वह आनन्दात्मक नहीं हो सकता। सांख्य ने स्पष्ट कहा है—'नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयो विरोधात्' दुःख निवृत्तेर्गौणः (५।६७) अर्थात् आत्मा निरवच्छिन्नदुःखाभावविशिष्ट है—इस अर्थ में ही उसमें आनन्द शब्द का गौण प्रयोग हुआ है। किन्तु आत्मा आनन्द स्वरूप भी नहीं है और उसमें आनन्दरूप गुण भी नहीं है।

आत्मा का सगुणत्ववादी न्यायवैशेषिकसंप्रदाय के बहुत से ग्रन्थकारों ने भी—'विज्ञानमानन्दम् ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य में "आनन्दम्" इस नपुंसक लिङ्ग के प्रयोग से ब्रह्म आनन्दविशिष्ट है (आनन्द स्वरूप नहीं है) तथा उनका यह आनन्द भी निरवच्छिन्न नित्यदुःखाभावरूप है—यह कहा है। परन्तु नैयायिकों के गुरु उदयनाचार्य ने कुसुमाञ्जलि के अन्त में द्वितीय श्लोक में परमेश्वर को 'आनन्दनिधि' कहा है।

न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट ने समर्थन किया है कि परमेश्वर नित्यसुखविशिष्ट है। बाद में नव्यनैयायिक रघुनाथ शिरोमणि ने भी यही स्वीकार किया है तथा उन्होंने अपनी 'दीधिति'[१] के मङ्गलाचरण में भी कहा है—'अखण्डानन्द बोधाय पूर्णाय परमात्मने।'

होने से शास्त्र में 'माया' शब्द से मुख्य या प्रधान कारण होने से 'प्रकृति' शब्दसे तथा तत्वज्ञानात्मक विद्या से नष्ट होने के कारण 'अविद्या' शब्द से भी कहा गया है। किन्तु विष्णुपुराण मे भी कहा गया है—'अविद्या कर्म संज्ञाऽन्या तृतीया शक्ति रिष्यते'। (६।७।६१) अर्थात् *कर्ता या जीव अदृष्ट रूप जो अविद्या वह ईश्वर की* तीसरी शक्ति है। यथार्थतः शास्त्रो मे माया, प्रकृति तथा अविद्या शब्दो का अनेक अर्थों मे प्रयोग हुआ है। परमेश्वर की जो अघटनघटनपटीयसी इच्छाशक्ति है, वह भी माया शब्द से कही गयी है। उदयनाचार्य आदि के मत से उसी का नाम 'आत्ममाया' है। परमेश्वर जीव की *अदृष्टसमष्टिरूप 'गुणमाया' का अधिष्ठाता है—इस अर्थ मे भी श्रुति ने उसे 'मायी' कहा है,* तस्मान्मायी सृजते विश्वमेतद्' -मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्'। (श्वेताश्वतर उपनिषद्)

१ रघुनाथ शिरोमणि का उक्त कथन उद्धृत करके किसी ने अनेक बार उनको अद्वैतमतानुरागी कहकर समर्थन किया है। पश्चात् उन्होंने "अद्वैत सिद्धि" की अपनी भूमिका (पृ० १६५) में लिखा है कि जगदीश अद्वितीय

उदयनाचार्य से पहले सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पतिमिश्र ने नैयायिक के मत का समर्थन करते हुए अपनी न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में (चतुर्थ अध्याय द्वितीय आह्निक के प्रारम्भ में) लिखा है—'विज्ञानमानन्द ब्रह्मेति श्रुतिरानन्दचैतन्यशक्त्यभिप्राया' । अर्थात् इस मत में परब्रह्म विज्ञान तथा आनन्द स्वरूप नहीं हैं किन्तु वे चैतन्यशक्तिविशिष्ट तथा नित्य आनन्द शक्तिविशिष्ट है यही उक्त श्रुतिवाक्य का तात्पर्य है। परमेश्वर की स्वाभाविक अनन्त शक्तियों में उनकी चैतन्यशक्ति तथा आनन्दशक्ति ही प्रधान हैं—इसी को प्रकाशित करने के लिये श्रुति उनके स्वरूप का वर्णन करती हुई पूर्वोक्त तात्पर्य से कहा है—'विज्ञानमानन्द ब्रह्म'। इस मत में परमेश्वर की स्वाभाविक चैतन्यशक्ति के बिना जीवों को कभी भी कोई आनन्द उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतः इसी तात्पर्य से उक्त तैत्तिरीय उपनिषद् में ही कहा गया है—'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् एष ह्येवानन्दयति'। परमेश्वर की स्वाभाविक परिपूर्ण चैतन्यशक्ति ही शास्त्र में चिच्छक्ति नाम से तथा उनकी वही परिपूर्ण आनन्दशक्ति ही ह्लादिनी शक्ति नाम से कही गई हैं। परन्तु वे ही उस शक्ति का एकमात्र आधार हैं। अतः उसी तात्पर्य में वे 'चिन्मय' 'आनन्दमय' तथा 'रस' आदि नामों से शास्त्रों में कहे गये है।

किन्तु शास्त्र में अनेक स्थलों में उनकी उसी शक्ति का प्राधान्यविवक्षावशात् और बहुत स्थलों में उस शक्तिमान् का ही प्राधान्यविवक्षावशात् तथा शक्ति और शक्तिमान् में अभेदविवक्षावशात् उस प्रकार का वर्णन किया गया है—यह भी प्रणिधानपूर्वक समझना आवश्यक है।

यथार्थ में परमेश्वर का स्वरूप अतीव दुर्ज्ञेय है। वेद आदि शास्त्रों में उसे मन तथा वचन का अगोचर कहकर तथा उनमें नाना विरोधी भावों के वर्णन

नैयायिक होते हुए भी अद्वैतवेदान्त के अनुरागी थे। क्योंकि शिरोमणि ने—'अखण्डानन्दबोधाय' पद की अद्वैतपरक व्याख्या ही उन्होंने की है। किन्तु यह बात सर्वथा मिथ्या है क्योंकि टीकाकार जगदीश ने शिरोमणि की उस उक्ति की व्याख्या की है—"अखण्डो नित्यो आनन्दबोधो यस्य तस्मै।" तथा रघुनाथ शिरोमणि ने स्वयं ही आत्मतत्त्वविवेक टीका की के अन्त में—'विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य से सर्वज्ञ परमेश्वर में नित्यज्ञान तथा नित्य आनन्द का ही समर्थन किया है—इसको देखना भी आवश्यक है। अतएव उस मङ्गलाचरण श्लोक में—'अखण्डानन्दबोधाय' इस विशेषण पद में जिसका नित्य आनन्द तथा नित्यज्ञान है—इस अर्थ में बहुव्रीहि समास ही उनका अभिप्रेत है—यह समझा जाता है।

से उनकी वह अत्यन्त दुर्ज्ञेयता ही व्यक्त की गयी है। कितने साधकों ने कितने प्रकारों से उनका ध्यान आदि करके अवस्थाविशेष में कितने प्रकारों से उनका दर्शन किया है और बहुतों ने उस रूप से ही उनकी स्तुति भी की है—उसका वर्णन करना असम्भव है। कितने साधकों ने अपने आचार्यों के उपदेशानुसार उसको अद्वितीय ज्ञानरूप समझकर ध्यान करने के समय पर उनका उसी ज्ञानरूप में ही दर्शन करके उसी रूप से ही उनकी स्तुति की है। विष्णुपुराण (१।४) में सनन्दन की उसी रूप की स्तुति वर्णित हुई है।

इसी तरह अपने आचार्य के उपदेशानुसार कितने साधकों ने उनको नित्यज्ञान आश्रय समझकर भी ध्यान आदि किये हैं—इसमें सन्देह नहीं है। माधवाचार्य ने भी सर्वदर्शनसंग्रह के प्रारम्भ में उनको नमस्कार करते हुए कहा है—'नित्यज्ञानाश्रयं वन्दे निःश्रेयसनिधिं शिवम्', श्री भगवान् ने कहा है—

'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥'

(गीता १३।२४)

परन्तु दूसरे बहुत से व्यक्ति उक्त ध्यानयोग आदि नहीं जानकर अपरापर गुरुओं से अपने अधिकार के अनुसार ध्यान आदि का उपदेश सुनकर उसी रूप से ही उपास्यदेव की उपासना करते है। वे भी गुरुओं के उपदेश में दृढ़ श्रद्धा युक्त उस उपास्य देव में पराभक्ति के प्रभाव से समय पर उनका दर्शन पाकर ज्ञानलाभ तथा मुक्तिलाभ करते हैं। अतएव भगवान् ने बाद में कहा है—

'अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥'

(गीता १३।२५।)

तथा करुणामय उन्होंने ही कहा है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४।११)। अतः जिस किसी प्रकार से ही उनका शरणागत होकर उनके पास आत्मसमर्पण करने पर ही वे तब अपने वास्तव स्वरूप का दर्शन कराते हैं। उन्हीं को प्राप्त करने के लिये नाना साधकों ने नाना मार्गों से यात्रा की है। क्योंकि मनुष्यों की रुचिविचित्रता के कारण ही सभी मार्गों में सभी की रुचि तथा अधिकार सम्भव नहीं होता है। किन्तु वर्षाकाल में सरल तथा कुटिल पथों से बहते हुये सभी पानी भिन्न-भिन्न पथ से जाते हुये भी जिस तरह अन्त में एक ही महासमुद्र को ही प्राप्त करते हैं उसी तरह से साधकगण अपनी विविध रुचि के अनुसार आचार्यों के उपदेश से वेद आदि शास्त्रों में कहे गये

भिन्न भिन्न मतों को श्रेष्ठ समझकर अवलम्बन करने पर भी समय पर उसी परमेश्वर में पराभक्ति के प्रभाव से सभी एक उन्हीं को प्राप्त करते हैं। उनका परम भक्त गन्धर्वराज पुष्पदन्त उन्हीं की कृपा से उसी महासत्य की उपलब्धि करके अपने महिम्न स्तोत्र में उनसे उपर्युक्त बात भी कहा है। अन्त में हम लोग भी उसी बात को ही कहते हैं, हे महेश्वर—

'त्रयी सांख्य योग पशुपतिमत वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव'॥

प्रथम खण्ड समाप्त।

ग्यारहवाँ अध्याय

(न्यायदर्शन में प्रमाण पदार्थ की व्याख्या)

इस ग्रन्थ के दशवें अध्याय तक प्रथम खण्ड में प्रधानतः न्यायवैशेषिक संप्रदाय के मत के अनुसार अनेक दार्शनिक सिद्धान्त यथामति विचारपूर्वक व्याख्यात हुए हैं। अब द्वितीय खण्ड में न्यायदर्शन के प्रतिपाद्य प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का परिचय का प्रकाश करणीय है। महर्षि गौतम ने पहला सूत्र कहा है—'प्रमाण प्रमेय-संशय प्रयोजन-दृष्टान्त सिद्धान्तावयवतर्क-निर्णयवाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' १।१।१। अर्थात् (१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति तथा (१६) निग्रहस्थान के (उक्त सोलह प्रकार पदार्थों के) तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस प्राप्त होता है।

यहाँ पहले यह कहना आवश्यक है कि बहुतों की यह धारणा है कि महर्षि गौतम प्रमाण आदि सोलह पदार्थों को ही मानते हैं यानी उनके मत में और कोई पदार्थ नहीं है। किन्तु महर्षि गौतम ने उक्त प्रथम सूत्र में अपने सम्मत पदार्थों की संख्या का नियम प्रकाशित नहीं किया है। उनके मत से जो किसी प्रमाण से सिद्ध होता है वही सामान्यतः पदार्थ रूप प्रमेय हैं, अतः नैयायिक संप्रदाय अनियतपदार्थवादी के रूप से कहे गये हैं। न्यायलीलावती ग्रन्थ में (१२२ पृ० में) वल्लभाचार्य ने भी कहा है—'नैयायिकानामनियतपदार्थवादित्वेन विरोधाभावात्'। वास्तव में कणाद के द्वारा उक्त द्रव्य आदि पदार्थ एवं अभाव पदार्थ भी गौतम का सम्मत है। आगे प्रमेय पदार्थ की व्याख्या में यह व्यक्त होगा। किन्तु निःश्रेयस लाभ के लिये प्रमाण आदि सोलह उपयोगी प्रकार के पदार्थ ही न्यायदर्शन के प्रतिपाद्य हैं। अतएव न्यायदर्शन के वक्ता महर्षि गौतम ने पहले सूत्र में उक्त प्रमाण आदि पदार्थों का ही उल्लेख किया है और कोई पदार्थ नहीं है यह उक्त सूत्र से उनका विवक्षित ही नहीं है।

पहले प्रतिपाद्य पदार्थ का नाम नहीं कहने से उसका निरूपण संभव नहीं है। प्रतिपाद्य पदार्थ के सामान्य नाम तथा विशेष नाम का कथन उद्देश कहलाता है। उद्देश के बाद उस उद्दिष्ट पदार्थ का लक्षण और पश्चात् उस लक्षणानुसार सन्दिग्ध विषय में विचारात्मक परीक्षा के द्वारा तत्त्वनिर्णय

करना चाहिये। अतः न्यायदर्शन की प्रवृत्ति या उपदेश का तीन प्रकार हैं—(१) उद्देश, (२) लक्षण तथा (३) परीक्षा। न्यायदर्शन के प्रतिपाद्य पदार्थों में द्वितीय प्रमेय पदार्थ सर्वश्रेष्ठ होने पर भी प्रमाण पदार्थ ही सब पदार्था का व्यवस्थापक है। क्योंकि प्रमाण के बिना कुछ भी सिद्ध नहीं होता है। इसी से महर्षि गौतम ने प्रथम सूत्र में पहले प्रमाण पदार्थ का ही उद्देश किया है। पश्चात् उक्त प्रमाण पदार्थ के विशेष निरूपण के लिये उसका विभाग करने के हेतु तीसरा सूत्र कहा है—'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'। (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, तथा (४) शब्द प्रमाण हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष आदि नाम से प्रमाण चार प्रकार के हैं, किन्तु प्रमाण किसे कहते हैं यानी प्रमाण का सामान्य लक्षण क्या है? इसको पहले न समझने पर प्रमाण का विशेष लक्षण नहीं समझा जाता है, सामान्य ज्ञान के बिना विशेष ज्ञान सम्भव नहीं है। अतएव प्रश्न उठता है कि महर्षि गौतम ने उनके द्वारा उद्दिष्ट 'प्रमाण' पदार्थ को सामान्य लक्षण नहीं कहकर पहले ही उसका विभाग क्यों किया है?

भाष्यकार आदि की व्याख्या से पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर समझा जाता है कि उक्त तृतीय सूत्र में शेषोक्त प्रमाण शब्द के द्वारा ही प्रमाण का सामान्य लक्षण सूचित होने से सूत्रकार ने यहाँ पृथक् रूप से प्रमाण का सामान्य लक्षण सूत्र नहीं कहा है। उक्त एक ही सूत्र से प्रमाण का सामान्य लक्षण एवं चतुर्विधत्व उनका विवक्षित, न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट ने यह स्पष्टरूप से कहा है—

'एकेनानेन सूत्रेण द्वयमाह महामुनिः।
प्रमाणेषु चतुः सङ्ख्यं तथा सामान्यलक्षणम् ॥'

उक्त प्रमाण शब्द वस्तुतः प्र पूर्वक 'मा' धातु से करण वाच्य में 'ल्युट्' प्रत्यय से सिद्ध है। प्र पूर्वक मा धातु का अर्थ है—प्रकृष्ट ज्ञान। वह प्रकृष्ट ज्ञान दो प्रकार का है—अनुभूति और स्मृति। परन्तु स्मृति का कारण अनुभूति को स्मृत विषय में अन्य प्रमाण कहना अनावश्यक है। क्योंकि उस स्मृत विषय में उसका पूर्वानुभूति का कारण ही प्रमाण है। किसी विषय में किसी प्रमाण से उत्पन्न पूर्वानुभूति के बिना बाद में उसकी स्मृति नहीं हो सकती। अतः उक्त स्थल में प्र पूर्वक मा धातु से प्रकृष्ट अनुभूति ग्रहणीय है। अतः प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति से प्रकृष्ट अनुभव का कारण समझा जाता है। यानी जिससे जिस विषय की यथार्थ अनुभूति होती है वही उस विषय में प्रमाण पदार्थ है। अतः यथार्थ अनुभव का करणत्व ही प्रमाण का सामान्य लक्षण है, यह उस

सूत्र के प्रमाण शब्द से सूचित हुआ है। गौतम के मतानुसार अनुमूति चार प्रकार का है। अतः उन्होंने कहा है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमिति, (३) उपमिति तथा (४) शाब्दबोध—

'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'।

प्रत्यक्ष प्रमाण की सत्ता के बिना किसी प्रमाण की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती है। इसी से महर्षि गौतम ने प्रमाण के विभाग में पहले प्रत्यक्ष प्रमाण का ही उद्देश्य करके बाद में उसका लक्षणार्थ कहा है—'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम् १।१।४।

उक्त सूत्र के इन्द्रिय शब्द से घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् , श्रोत्र तथा मन ये छः इन्द्रियाँ समझनी चाहिये। अर्थ शब्द से उन सब इन्द्रियों का ग्राह्य अलग अलग विषय समझना चाहिये। इन्द्रिय के द्वारा ग्रहणीय विषय के साथ उसके इन्द्रियग्राह्कविशेष का जो सन्निकर्षसम्बन्धविशेष वही इन्द्रियार्थसन्निकर्ष है। उक्त इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जो अव्यभिचारी ज्ञान यानी यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है उसी का नाम प्रत्यक्ष प्रमा है। गौतम ने प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण ही कहा है कि जो प्रमा ज्ञान का करण है वही प्रमाण है—यह पहले प्रमाण शब्द से सूचित होने से प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण कहने से ही प्रत्यक्ष प्रमाण का चरम कारण होने से वही मुख्य प्रत्यक्ष प्रमाण लक्षण समझा जाता है।

भाष्यकार वात्स्यायन आदि प्राचीन आचार्यों के मत से कार्य का जो चरम कारण वही मुख्य कारण है। अतएव इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ही पूर्वोक्त प्रत्यक्ष प्रमाण है तथा वह प्रत्यक्ष प्रमा भी हानबुद्धि, उपादानबुद्धि एवं उपेक्षाबुद्धि का चरम कारण होने से वह भी प्रमाण है। क्योंकि किसी विषय के यथार्थ प्रत्यक्ष हो जाने के बाद उस विषय को त्याज्य के रूप से समझने पर त्याग करता है, ग्राह्य समझनेपर ग्रहण करता है तथा उपेक्ष्य समझने पर उपेक्षा करता है। जिस बुद्धि के द्वारा त्याग देता है उसका नाम हानबुद्धि है। जिस बुद्धि के द्वारा उपादान या ग्रहण करता है उसका नाम उपादानबुद्धि है तथा जिस बुद्धि से उपेक्षा करता है उसका नाम उपेक्षाबुद्धि है। पूर्वोक्त हानादि बुद्धि ही प्रमाण का चरम फल है। अत उसका कारण जो प्रमात्मक ज्ञान है वह भी प्रमाण के रूप से स्वीकरणीय है। बहुतों के मत से महर्षि गौतम ने उसी तात्पर्य से उक्त सूत्र में प्रत्यक्ष प्रमा को ही चरम प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में व्यक्त किया है। अवश्य प्राचीन नैयायिक सम्प्रदाय ने भी प्रत्यक्ष प्रमा के प्रयोजक इन्द्रिय को भी प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है, किन्तु उन लोगों के मतानुसार उस प्रत्यक्ष प्रमा का चरम कारण जो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा उससे होने वाली जो प्रत्यक्ष प्रमा वही मुख्य प्रत्यक्ष प्रमाण है।

गगेश उपाध्याय आदि अनेक नव्यनैयायिकों ने पश्चात् विचारपूर्वक यह कहा है कि जो किसी व्यापार के द्वारा कार्य को उत्पन्न करता है वही कारणों के बीच करण नाम का कारण है। परन्तु जो कारण किसी व्यापार की अपेक्षा नहीं करके कार्य को उत्पन्न करता है वह व्यापाररहित चरम कारण करण नहीं है। अतएव विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध विशेषरूप जो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष वह प्रत्यक्ष प्रमा का करण नहीं होने से प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। किन्तु वही इन्द्रिय वहाँ पर प्रत्यक्ष प्रमाण है। क्योंकि पूर्वोक्त इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष उक्त इन्द्रिय का व्यापार है उसके द्वारा वही इन्द्रिय उस प्रत्यक्ष का कारण होता है। अत 'चक्षुषा पश्यति' 'घ्राणेन जिघ्रति' इत्यादि प्रयोग में चक्षुरादि इन्द्रिय ही दर्शन आदि प्रत्यक्ष के करण के रूप में कहे जाते हैं। क्योंकि जिसके व्यापार के बाद क्रिया की निष्पत्ति विवक्षित है वही करण है। वाक्यपदीय ग्रन्थ में शाब्दिकशिरोमणि भर्तृहरि ने भी कहा है—'क्रियायाः परिनिष्पत्ति यद्व्यापारादनन्तरम्। विवक्ष्यते यदा तत्र करणं तत् प्रकीर्तितम्।

मन के साथ आत्मा का विलक्षण संयोग तथा उस इन्द्रियविशेष के साथ मन का संयोग और उस ग्राह्य विषय के साथ उस इन्द्रिय का संयोग आदि सम्बन्ध रूप कोई सन्निकर्ष जन्यप्रत्यक्ष का कारण है। और भी बहुत से साधारण कारण है। परन्तु उनमें ग्राह्य विषय के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष को ही विशेष कारण के रूप से लेकर गौतम ने पूर्वोक्त सूत्र में जन्य प्रत्यक्ष का लक्षण प्रकाशित करने के लिये कहा है—'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्' इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य गुण, क्रिया तथा जाति आदि पदार्थों के साथ इन्द्रिय का ज्ञान संयोग रूप सम्बन्ध नहीं सम्भव है।[१] अतः उक्त सूत्र में गौतम ने संयोग शब्द का प्रयोग नहीं करके सन्निकर्ष शब्द का प्रयोग किया है। उसके द्वारा संयोग सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्यान्य सम्बन्धविशेष भी गृहीत हुए हैं। अर्थात् इन्द्रियग्राह्य विषय के साथ उस इन्द्रिय का जिस स्थल में जिस तरह का सम्बन्ध उस प्रत्यक्ष का जनक होता है वही उक्त स्थलों में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष शब्द

---

१ महर्षि कणाद ने गुण पदार्थों में संयोग का उल्लेख किया है और द्रव्य पदार्थ ही गुण का आश्रय कहा है और उनके बाद गुण और क्रिया को निर्गुण कहा है। अतः उक्त मत के अनुसार में गुण आदि पदार्थ में संयोग रूप गुण उत्पन्न नहीं होता है। द्रव्य पदार्थ में ही अन्य द्रव्य का संयोगरूप गुण उत्पन्न होता है।

(वैशेषिकदर्शन अ० १।१ १५ १६ १७ सूत्रों को देखिए)

से गृहीत हुआ है। प्राचीन न्यायाचार्य उद्योतकर ने लौकिक प्रत्यक्ष के जनक उन लौकिक सन्निकर्ष को छः प्रकार का कहा है यथा—(१) संयोग, (२) संयुक्त समवाय, (३) संयुक्त समवेत समवाय, (४) समवाय, (५) समवेत समवाय, (६) और विशेषण विशेष्य भाव।

बहिरिन्द्रियों में से चक्षुरिन्द्रिय तथा त्वगिन्द्रिय के द्वारा ही द्रव्य विशेष का प्रत्यक्ष होता है। उस प्रत्यक्ष में उस द्रव्य विशेष के साथ चक्षुरिन्द्रिय तथा त्वगिन्द्रिय का संयोग सम्बन्ध ही यथाक्रम उस द्रव्य का चाक्षुष तथा त्वाच-प्रत्यक्ष का कारण इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष है। कणाद तथा गौतम के मत में चक्षु-रिन्द्रिय तेजस पदार्थ है। प्रदीप की तरह उसकी प्रभा या रश्मि है। वही रश्मि बाहर होकर उसे ग्राह्य विषय के साथ संयुक्त होने पर उसके द्वारा उसके साथ चक्षुरिन्द्रिय का संयोग रूप सन्निकर्ष उत्पन्न होता है।

अन्यान्य बहिरिन्द्रिय अपने स्थान में रहकर ही उसके ग्राह्य विषय के साथ सन्निकृष्ट होते हैं। आगे जाकर प्रमेय पदार्थ की व्याख्या में इस विषय में गौतम का सिद्धान्त कहूँगा। चक्षुरिन्द्रिय से जैसे घट का प्रत्यक्ष होता है उसी तरह से उस घट में रहने वाले रूप और उस रूप में रहने वाली रूपत्व जाति का भी प्रत्यक्ष होता है। किन्तु उस रूप आदि के साथ चक्षुरिन्द्रिय का संयोगरूप सम्बन्ध सम्भव न होने से संयुक्त समवाय नाम का द्वितीय प्रकार का तथा संयुक्त समवेत समवाय नाम का तृतीय प्रकार का सन्निकर्ष स्वीकृत हुए हैं। कणाद के द्वारा कहा गया समवाय नाम का सम्बन्ध गौतम को भी सम्मत है। घट का रूप उस घट में समवाय सम्बन्ध से रहता है और उस रूप में रूपत्व जाति एवं नीलत्व पीतत्व आदि जाति विशेष भी समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इस मत में घट का रूप उस घट से भिन्न वस्तु है और रूपत्व आदि जाति भी उस रूप से भिन्न पदार्थ है। अतः चक्षु से संयुक्त घट के साथ उसके रूप का और उस रूप के साथ रूपत्व आदि जाति का तादात्म्य सम्बन्ध सम्भव न होने से रूप के प्रत्यक्ष में चक्षु संयुक्त तादात्म्य को एवं रूपत्व आदि जाति के प्रत्यक्ष में चक्षुःसंयुक्त तादात्म्य विशिष्ट के तादात्म्य को सन्निकर्ष नहीं कहा जा सकता है। अतः न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय ने अन्य सम्प्रदायों के सम्मत उक्त दोनों सन्निकर्षों को स्वीकार नहीं करके घट के रूप के प्रत्यक्ष में (२) चक्षुः संयुक्तसमवाय को और रूपत्व आदि जाति के प्रत्यक्ष में चक्षुः संयुक्त समवाय को इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष कहा है। उनके मत से चक्षु से संयुक्त घट के साथ उसके रूप का समवाय नाम का सम्बन्ध रहने से उस रूप के साथ चक्षुरिन्द्रिय का (२) संयुक्त समवाय नाम का सम्बन्धसन्निकर्ष सम्भव है और उस रूप के साथ रूपत्व आदि जाति

का समवाय सम्बन्ध रहने से उस रूप आदि के साथ चक्षुरिन्द्रिय का, (३) संयुक्त समवेत-समवाय नाम का सन्निकर्ष सम्भव है।

जिस पदार्थ में जो समवाय सम्बन्ध से रहता है उस पदार्थ में उसको समवेत कहा जाता है। चक्षु सन्निकृष्ट घट में समवेत यानी समवाय सम्बन्ध से विद्यमान जो रूप उसमें रूपत्व आदि जाति समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहने से उस रूपत्व आदि जाति में चक्षु संयुक्त घट में समवेत उस रूप का जो समवाय सम्बन्ध रहता है वही उक्त स्थल में संयुक्त समवेत-समवाय शब्द से समझना चाहिये। संयुक्त में अर्थात् इन्द्रिय संयोग से विशिष्ट द्रव्य में जो समवेत रहना है अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहता है उसका समवाय नामक सम्बन्ध ही उक्त "संयुक्त-समवेत समवाय" शब्द का अर्थ है। इसी तरह घ्राणेन्द्रिय से गन्ध तथा गन्धगत गन्धत्व जाति के प्रत्यक्ष में तथा रसनेन्द्रिय से रस और तद्‌गत रसत्व आदि जाति के प्रत्यक्ष में तथा त्वगिन्द्रिय से स्पर्श और तद्‌गत स्पर्शत्व आदि जाति के प्रत्यक्ष में क्रमशः उन इन्द्रियों का (२) संयुक्त समवाय तथा (३) "संयुक्त-समवेत-समवाय" नामक सन्निकर्ष समझने चाहिये। गन्ध आदि गुण विशिष्ट द्रव्य ही उक्त स्थल में क्रमशः घ्राण आदि इन्द्रियों से संयुक्त है।

इसी तरह अन्तरिन्द्रिय मन के द्वारा—मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ, मैं जानता हूँ मैं इच्छा करता हूँ इस तरह से आत्मा में उत्पन्न सुख, दुःख, ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न तथा द्वेष नाम के आदि विशेष गुणों का जो मानस प्रत्यक्ष करता है उसमें मन संयुक्त समवाय ही तथा उस समय में जीव के अपने आत्मा का भी जो मानसप्रत्यक्ष होता है उसमें उस आत्मा के साथ उसके उस मन का विलक्षण संयोग ही सन्निकर्ष है। तथा सुख आदि में रहनेवाली सुखत्व दुःखत्व आदि जाति का जो मानस प्रत्यक्ष होता है उसमें मन संयुक्त-समवेत समवाय ही तृतीय प्रकार का सन्निकर्ष है। मन से संयुक्त उस आत्मा में समवाय सम्बन्ध से उसके सुख दुःख आदि गुणों के रहने से वे (गुण) मन-संयुक्त-समवेत हैं। और उनमें सुखत्व आदि जाति समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण उन जातियों के साथ मन का उक्त प्रकार का (संयुक्त-समवेत-समवाय) सन्निकर्ष सम्भव होता है। श्रवणेन्द्रिय का समवाय सम्बन्ध ही चौथे प्रकार का है। और उस शब्द में रहने वाले (शब्दत्व एवं तीव्रत्व मन्दत्व आदि जाति के प्रत्यक्ष में उसके साथ श्रवणेन्द्रिय का समवेत समवाय प्रकार का सन्निकर्ष स्वीकृत हुआ है। कणाद तथा गौतम के मत में श्रवणेन्द्रिय रूप आकाश में उत्पन्न तथा उसी में समवाय सम्बन्ध से स्थित उसी शब्द का तब श्रवणेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। अतः उस शब्द के साथ उस समय श्रवणेन्द्रिय का समवाय सम्बन्ध-

रूप-सन्निकर्ष होता है तथा उस शब्द में रहने वाले शब्दत्व एवं तीव्रत्व मन्दत्व आदि जाति का समवेत-समवाय रूप सन्निकर्ष होता है। श्रवणेन्द्रिय में समवेत अर्थात् समवाय सम्बन्ध से विद्यमान जो शब्द उसके सम्बन्ध ही उक्त स्थल में समवेत समवाय शब्द से समझना चाहिये।

ऐसे प्रत्यक्ष विषयीभूत पदार्थ का जो समवाय नाम का सबंध है, उसका भी प्रत्यक्ष होता है। अतः समवाय तथा अभाव पदार्थ के प्रत्यक्ष में (६) *'विशेष्य विशेषणभाव'* यानी *विशेषणता नामक षष्ठ प्रकार का सन्निकर्ष* स्वीकृत हुआ।[1] यह विशेषणता कोई अतिरिक्त सम्बन्ध नहीं है किन्तु वह विशेषण और विशेष्यरूप है। जिस 'विशेषणता' सम्बन्ध से किसी पदार्थ में समवाय सम्बन्ध रहता है वह 'विशेषणता' विशेषण भूत समवायस्वरूप ही है, यानी उससे भिन्न कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। अतः स्वात्मक स्वरूप सम्बन्ध से ही समवाय सम्बंध के रहने से समवाय सम्बध का सबंध फिर उसका सबंध आदि की आपत्तिरूप अनवस्था दोष की सभावना नहीं है।

इसी तरह से कोई अभाव पदार्थ जिस समय में जिस आधार में रहता है उस काल का वह आधार रूप विशेष्य ही उस अभाव का सम्बंध है। उस आधार से वह अभाव भिन्न पदार्थ है, किन्तु तात्कालिक उस आधारात्मक सम्बंध से ही उसमें वह अभाव रहता है और प्रत्यक्ष के सभी कारणों के रहने पर पूर्वोक्त विशेषणता अथवा स्वरूप सबन्ध विशेष रूप सन्निकर्ष से उसका प्रत्यक्ष होता है। इन सब विषयों को अच्छी तरह से समझने के लिये 'सिद्धान्त-मुक्तावली' आदि मूल ग्रन्थों को गुरु के समीप में रहकर पढ़ना चाहिये।

---

१ उक्त सन्निकर्ष की व्याख्या में न्यायवार्तिक में उद्योतकर ने कहा है— 'समवाये चाभावे च विशेषण विशेष्य भावादिति'। अतः समवाय सम्बन्ध का और अभाव पदार्थ तथा उनकी प्रत्यक्षता प्राचीन नैयायिक सम्प्रदाय का भी सम्मत है किन्तु वैशेषिक मत समझा जाता है। सम्प्रदान के मत मे समवाय सम्बन्ध अनुमेय है। वैशेषिक दर्शन के उपस्कार में (७।२।२८) शङ्कर मिश्र ने कहा है—'प्रत्यक्ष समवाय इति नैयायिका, तदप्यनुपपन्नम्, समवायोऽतीन्द्रिय।' इत्यादि वैशेषिक दर्शन के नवम अध्याय के प्रथम आह्निक मे कणाद ने अभाव पदार्थ एवं उसकी प्रत्यक्षता का समर्थन किया है। न्यायदर्शन के द्वितीय अध्याय के द्वितीय आह्निक में (८–९–१०–११ तथा १२ सूत्रों में) महर्षि गौतम ने भी उसका समर्थन किया है।

अब यह कहना आवश्यक है कि पूर्वोक्त प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार के हैं :—(१) लौकिक और (२) अलौकिक। लौकिक सन्निकर्ष से होनेवाले प्रत्यक्ष लौकिक प्रत्यक्ष हैं। पूर्वोक्त छः प्रकारों के सन्निकर्ष ही लौकिक सन्निकर्ष हैं। तथा अलौकिक सन्निकर्ष जन्य जो प्रत्यक्ष, उसका नाम अलौकिक प्रत्यक्ष है, वह अलौकिक सन्निकर्ष तीन प्रकार के हैं यथा—

(१) सामान्य लक्षणसन्निकर्ष (२) ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष और (३) योगज-सन्निकर्ष। पूर्वोक्त सूत्र के सन्निकर्ष शब्द से उक्त त्रिविध सन्निकर्ष भी लिए जाते हैं। उनमें किसी पदार्थ का सामान्य धर्म विषयक प्रत्यक्ष ही "सामान्य लक्षण" सन्निकर्ष है। जैसे सभी गायों में रहनेवाला सामान्य धर्म गोत्व है। सब धूमों का सामान्य धर्म धूमत्व है इत्यादि। पहले किसी गाय के देखने से उसमें रहनेवाला सामान्य धर्म गोत्व का प्रत्यक्ष होने पर उस सामान्य धर्म के (गोत्व के) प्रत्यक्ष रूप सन्निकर्ष से अन्यान्य सभी गायों का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। क्यों वह मानना पड़ता है संक्षेप में यह भी यहाँ कहना आवश्यक है।

उक्त सामान्यलक्षण सन्निकर्षवादी नैयायिक सम्प्रदाय की पहली बात यह है कि उक्त सन्निकर्ष और तज्जन्य उस प्रकार का प्रत्यक्ष नहीं मानने पर किसी गाय के दर्शन के बाद में किसी को साधारण रूप से सभी गायों में सींग है या नहीं—यह संशय अथवा उस तरह के अन्य धर्म का संशय नहीं हो सकता है। इसी तरह से पाकशाला में धूम एवं आग इन दोनों को देखने पर भी धूम वह्नि का व्याप्य है या नहीं अर्थात् धूम से युक्त सभी स्थानों में आग रहती है या नहीं इस तरह का संशय भी बहुतों का होता है। किन्तु पूर्वोक्त स्थल में आँख से संयुक्त जिस गाय के शृंग का दर्शन हुआ है उसे सींग है या नहीं यह सन्देह नहीं हो सकता है। तथा पाकशाला में देखे गये उस धूम में वह्नि के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होने से उसमें पूर्वोक्त प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता है। यह मानना होगा कि पूर्वोक्त स्थल में जो सब गायें चक्षु के साथ संयुक्त नहीं हैं, अर्थात् जिन सब गायों का लौकिक प्रत्यक्ष नहीं हुआ है उन सब गायों के बारे में ही सींग है या नहीं—इस तरह का सन्देह होता है तथा जो सब धूम आँख से संयुक्त नहीं हैं उन सब धूम के बारे में ही 'धूमो वह्निव्याप्यो न वा'—ऐसा सन्देह होता है। किन्तु उन सब गायों और उन सब धूमों का किसी तरह से प्रत्यक्ष नहीं होने पर अप्रत्यक्ष धर्मी में किसी धर्म का संशयात्मक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। अतएव यह मानना होगा कि उक्त स्थल में गोत्वरूप व सामान्य धर्म के प्रत्यक्ष से सभी गायों का प्रत्यक्ष होता है। और यह प्रत्यक्ष अन्यान्य सब गायों के बारे में अलौकिक प्रत्यक्ष है। इसी तरह से धूमत्व आदि सामान्य धर्म के प्रत्यक्ष से सब धर्म आदि का प्रत्यक्ष भी समझना चाहिये। परन्तु,

पाकशाला में धूमत्व रूप से सकल धूमों का प्रत्यक्ष नहीं होने से वहाँ धूमत्व-रूप से धूम मात्र में ही वह्नि की व्याप्ति का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। क्योंकि अप्रत्यक्ष धर्मी में किसी धर्म का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। अतएव पहले ही धूमत्व रूप से सभी धूमों में वह्नित्वरूप से सकल वह्नि का व्याप्ति-निश्चय समर्थन करने के लिए भी पूर्वोक्त सामान्य लक्षण सन्निकर्ष मानना होगा, क्योंकि उक्त रूप सामान्य व्याप्ति विषय के बिना धूमत्वरूप से धूम हेतु के द्वारा वह्नित्व रूप से वह्नि का अनुमान नहीं हो सकता है।

जो पदार्थ निश्चित रूप से ज्ञात है उसमें और जिसका सर्वथा ज्ञान ही नहीं है उस विषय में भी इच्छा नहीं होती है। अतः भावी सुख के बारे में जीव की जो इच्छा होती है उसमें पहले उस सुख का किसी प्रकार का ज्ञान आवश्यक है। किन्तु वह कैसे सम्भव हो सकता है? सुखत्व रूप से अन्यान्य सुख पहले ज्ञात होने पर भी इच्छा का विषय भावी सुख विशेष पहले कैसे ज्ञात होगा? अतएव यह मानना होगा कि पहले सुख विशेष का मानस प्रत्यक्ष होने से उसके सुख मात्र के सामान्य धर्म सुखत्व का भी मानस प्रत्यक्ष होता है। पश्चात् उस सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष रूप अलौकिक सन्निकर्ष से अतीत एवं भविष्य सभी सुखों का अलौकिक मानस प्रत्यक्ष होता है। अतः उक्तरूप से भावी सुख भी पहले ज्ञात होने से उस विषय की इच्छा हो सकती है।

अवश्य परवर्ती काल में नव्य नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि ने तत्त्व चिन्तामणि के प्रत्यक्ष खण्ड में "सामान्य लक्षण" ग्रन्थ की दीधिति टीका में उक्त "सामान्य लक्षण" सन्निकर्ष का खण्डन करने के लिए और भावी सुख के विषय में अनुमान प्रदर्शन किया है, तथा उन्होंने नये ढंग से बहुत से सूक्ष्म विचार किए हैं। "अद्वैत सिद्धि" ग्रन्थ में महामनीषी मधुसूदन सरस्वती ने भी नैयायिक सम्मत उक्त सन्निकर्ष का खण्डन करने के लिए बहुत से विचार किए हैं। विशेष जिज्ञासु व्यक्ति अवश्य उसका अध्ययन करेंगे। संक्षेप में उन सब विचारों का कुछ भी व्यक्त नहीं किया जा सकता। परन्तु यह भी कहना पड़ता है कि उक्त सामान्य लक्षण सन्निकर्ष के समर्थन में भी बहुत से विचार हुए हैं। और उक्त सन्निकर्ष सबसे पहले नव्य नैयायिक गङ्गेश उपाध्याय ने ही समर्थन किया है—यह सत्य नहीं है।[1]

---

१ गङ्गेश के बहुत पूर्ववर्ती टीकाकार श्रीमद् वाचस्पति मिश्र ने भी न्याय मत की व्याख्या में उसका समर्थन किया है। उसको अस्वीकार करने पर धूम आदि हेतु में सामान्यतः व्याप्ति निश्चय की आशा नपुंसक से शादी कराकर सुन्दरी

द्वितीय प्रकार के अलौकिक सन्निकर्ष का ज्ञान लक्षण सन्निकर्ष है। यह "ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति" नाम से भी कहा गया है। नव्य नैयायिकों ने बहुत से स्थलों में उसे 'उपनय' नाम से उल्लिखित किया है और उस उपनय सन्निकर्ष से होने वाले अलौकिक प्रत्यक्ष को 'उपनीत भान' कहा है। नैयायिक सम्प्रदाय के मत में भ्रमात्मक प्रत्यक्ष अर्थात् रज्जु (रस्सी) में सर्प का भ्रम सितुआ म (शुक्ति में) रजत (चाँदी) का भ्रम, मरुमरीचिका में जल का भ्रम आदि पूर्वोक्त "ज्ञानलक्षण" सन्निकर्षजन्य अलौकिक प्रत्यक्ष विशेष है। क्योंकि उन भ्रम स्थलों में वहाँ पर वस्तुतः सर्प आदि रहने से विषय के साथ इन्द्रिय का कोई लौकिक सन्निकर्ष सम्भव ही नहीं है। किन्तु जो वस्तु असत् या अलीक है वह भ्रम ज्ञान का भी विषय नहीं हो सकता। क्योंकि जिस विषय में प्रमाज्ञान असम्भव है, उस विषय में भ्रमज्ञान हो नहीं सकता। अतएव यह मानना होगा कि किसी सत् पदार्थ का ही अन्य सत् पदार्थ में भ्रम होता है। अतः रज्जु आदि में अन्यत्र स्थित सर्प आदि विषय का भ्रम होता है, तथा पहले कहा गया 'ज्ञानलक्षण' सन्निकर्ष ही उस प्रत्यक्ष का चरम कारण है—यह भी मानना होगा।

पूर्वोक्त प्रकार भ्रम के करण को किसी भी मत में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। अव्यभिचारी अर्थात् यथार्थ प्रत्यक्ष का करण ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसी से पूर्वोक्त प्रत्यक्ष लक्षण सूत्र में महर्षि गौतम ने बाद में 'अव्यभिचारी' पद को कहा है।

'इन्द्रियेण सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या व्याप्तिग्रहणकाले सर्वेऽपि तज्जातीयव्यक्तयो गृह्यन्ते। यद्यनभ्युपगमे परहृदयमुद्राया मुग्धाया पुत्रप्रार्थनमिवेति *वाचस्पतिरिष्टानभ्युपगमवादीति चेत्*'[1] श्रीहर्ष ने कहा है कि *सामान्यलक्षणा* प्रत्यासत्ति स्वीकार करने पर किसी पदार्थ में सभी पदार्थों के सामान्य धर्म प्रमेयत्व आदि के प्रत्यक्ष से सभी पदार्थों का प्रत्यक्ष मानना पड़ने से प्रमेयत्व रूप से सभी पदार्थों का प्रत्यक्ष करने वाले मानवों को सर्वज्ञ कहा जा सकता है। किन्तु सर्वज्ञ शब्द का क्या अर्थ है? सभी पदार्थों के सम्पूर्ण धर्म के रूप से प्रत्यक्ष के बिना किसी को सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता है। इस तरह का विशेष ज्ञान विशेषतया नहीं

का पुत्र प्रार्थना की तरह निष्फल है—ऐसी बात भी उन्होंने तात्पर्य टीका में (२६ पृ०) में कहा है। इस खण्डनखण्डखाद्य के प्रथम परिच्छेद में व्याप्ति आदि पदार्थ का खण्डन करने के लिए गङ्गेश के पूर्ववर्ती श्री हर्ष भी वाचस्पति के इस कथन का उल्लेख करने के लिये कहा है।

सर्वज्ञता है। इसी से—'य. सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतिवाक्य में उक्त विशेष ज्ञान की जानकारी के लिये ही फिर से 'सर्ववित्' कहा गया है। सिद्धान्त मुक्तावली में विश्वनाथ ने भी उक्त आपत्ति का उल्लेख करके खण्डन करने के लिये लिखा है—'प्रमेयत्वेन सकलप्रमेये ज्ञातेऽपि विशिष्य सकलपदार्थानाम् अज्ञातत्वेन सार्वज्ञ्याभावात्'। किन्तु[१] भ्रमात्मक प्रत्यक्ष इन्द्रिय तथा विषय (अर्थ) के सन्निकर्ष से नहीं होने पर 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्' इस प्रथम पद से ही उसका वारण होने से पश्चात् 'अव्यभिचारी' इस पद का प्रयोग व्यर्थ होता है। अत महर्षि गौतम के उक्त पद से भी समझा जाता है कि भ्रम प्रत्यक्ष का कारण कोई सन्निकर्ष भी उनका सम्मत है तथा प्रथम पद के 'सन्निकर्ष' शब्द से वह भी गृहीत हुआ है।

उक्त सूत्र में प्रथम यहाँ यह भी कहना आवश्यक है कि महर्षि गौतम ने पद में 'सन्निकर्षजन्यम्' ऐसा नहीं कहकर जैसा 'सन्निकर्ष' शब्द के बाद "उत्पन्न" विषय के साथ इन्द्रिय का शब्द के प्रयोग से सूचित किया है कि वस्तुत. प्रत्यक्ष ज्ञान का उत्पादक होता है वही 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष' है। जिस किसी प्रकार का सम्बन्ध जैसे कालिक आदि सम्बन्ध या संयुक्त-संयोग आदि परम्परा

---

१ भाष्यकार वात्स्यायन ने गौतमोक्त उस 'अव्यभिचारि' पद के अर्थ की व्याख्या करते हुए लिखा है—'यदतस्मिंस्तदिति तदव्यभिचारि, यत्तु तस्मिंस्तदिति तदव्यभिचारि प्रत्यक्षमिति'। जो पदार्थ जिस पदार्थात्मक नहीं है उस पदार्थ का उसके रूप से जो ज्ञान होता है अर्थात् अन्य पदार्थ की अन्य प्रकार की जो ख्याति या ज्ञान वही भ्रम ज्ञान है—यही वात्स्यायन की उक्त व्याख्या से ज्ञात होता है। जैसे रस्सी को—'अयं सर्पः' इस तरह से प्रत्यक्ष करने से अन्य पदार्थ की अन्य प्रकार से ही ख्याति या ज्ञान होता है। इसी से नैयायिक सम्प्रदाय ने भ्रमज्ञान को अन्यथाख्याति शब्द से तथा बहुत व्यक्तियों ने विपरीत ख्याति' शब्द से भी उल्लेख किया है। उन्होंने भ्रमस्थल में मिथ्या अथवा अनिर्वचनीय विषय की उत्पत्ति मानकर—'अनिर्वचनीयख्याति' नहीं मानी है। किन्तु विचारपूर्वक पूर्वोक्त अन्यथाख्यातिवाद का ही समर्थन किया है। योगदर्शनोक्त "विपर्यय" नामक चित्तवृत्ति भी अन्यथाख्याति है यह योग प्रवर्तक के (१।८) विज्ञान भिक्षु ने भी स्पष्ट कहा है, मीमांसाचार्य भट्ट कुमारिल भी अन्यथाख्यातिवादी हैं। बहुत प्राचीन काल से ही यह बहुत प्रकार से व्याख्यात हुआ है। शारीरक भाष्य के प्रारम्भ में अध्यास की व्याख्या में शङ्कराचार्य ने पहले उक्तमत का उल्लेख करने के लिये उक्तमत में अन्य पदार्थ में अन्य धर्म का ही अवभास होता है यह कहा है।

सम्बन्ध इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष नहीं है। क्योंकि उन संबन्धों से प्रत्यक्ष नहीं होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान रूप फल से ही उसका कारण इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष सिद्ध होता है। अतएव अनुमान आदि ज्ञान के पूर्व आवश्यक विशेषण का ज्ञान लक्षण सन्निकर्ष नहीं कहा जा सकता है, जैसे पर्वत में आग है (पर्वतो वह्निमान्) ऐसी अनुमिति से पहले वह्नित्व रूप से वह्नि का ज्ञान आवश्यक है। क्योंकि विशेषण ज्ञान के बिना विशिष्ट ज्ञान नहीं हो सकता है। किन्तु वह विशेषण ज्ञान उक्त स्थल में पश्चात् प्रत्यक्ष ज्ञान का उत्पादक नहीं होने से उसे ज्ञान लक्षण सन्निकर्ष नहीं कहा जा सकता है। अतः 'ज्ञान लक्षण' सन्निकर्ष को मानने से अनुमान आदि स्थल में भी 'ज्ञान लक्षण' सन्निकर्षजन्य अलौकिक प्रत्यक्ष ही कहा जा सकता है अर्थात् अनुमान आदि प्रमाण का उच्छेद हो जाता है यह प्रतिवाद निर्मूल है। अवश्य अनिर्वचनीय ख्यातिवादी (विवर्तवादी) वेदान्ती सम्प्रदाय के और भी बहुत से प्रतिवाद हैं, पूर्वोक्त सामान्य लक्षण सन्निकर्ष का खण्डन करने के लिये अद्वैतसिद्धि ग्रन्थ में नव्य नैयायिक तथा वेदान्ती मधुसूदन सरस्वती ने इस विषय में भी सूक्ष्म विचार किया है। संक्षेप में उन सब बातों की समालोचना नहीं की जा सकती है।

अन्यथा ख्यातिवादी नैयायिक सम्प्रदाय की विशेष बात यह है कि यह सर्वमान्य है कि जिस व्यक्ति ने कभी कहीं पर वास्तव सर्प को नहीं देखा है अर्थात् सर्पत्व रूप से सर्प के बारे में जिसका कोई संस्कार नहीं है उसे कभी सर्प की तरह स्थित रज्जु को रज्जुत्व रूप से प्रत्यक्ष करने में असमर्थ होकर 'अयं' इस रूप से अर्थात् 'इदन्त्व' रूप से प्रत्यक्ष करता है उस व्यक्ति का तब उसमें उसके द्वारा अन्यत्र पूर्व दृष्ट सर्प के सादृश्य के प्रत्यक्ष से पूर्व संस्कार उद्बुद्ध हो जाने पर पश्चात् सर्पत्व रूप से सर्प का स्मरण होना है तथा उस स्मरणात्मक ज्ञान के बाद ही 'अयं सर्पः' इस तरह का प्रत्यक्ष होता है अन्यथा वह नहीं होता है—यह भी सबको ही मान्य है। इसी से उक्त रूप भ्रमात्मक प्रत्यक्ष स्थल में पूर्वोत्पन्न उस प्रकार के स्मृति रूप ज्ञान को ही सन्निकर्ष मानकर तज्जन्य भ्रमात्मक प्रत्यक्ष का उपपादन करने से कल्पना-गौरव भी नहीं होता है। किन्तु रज्जु आदि में उस समय में मिथ्या सर्प आदि विषय की उत्पत्ति स्वीकार करने पर उस मिथ्या विषय का उपादान कारण तथा उसके उत्पत्ति-विनाश आदि मानने में कल्पनागौरव होता है। मिथ्या विषय का उत्पादक उपादान कारण भी बहुत विवादग्रस्त है।

उक्त ज्ञान लक्षण सन्निकर्ष को नहीं मानने से बाह्य-पदार्थ विषयक सविकल्पक ज्ञान का मानस प्रत्यक्षरूप अनुव्यवसाय सम्भव नहीं होता। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि पूर्वोक्त गौतम सूत्र में लक्षित प्रत्यक्ष ज्ञान दो

प्रकार के होते हैं—(१) निर्विकल्पक, (२) सविकल्पक। तात्पर्य टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने इसका समर्थन करने के लिये त्रिलोचन गुरु के सिद्धान्तानुसार व्याख्या की है कि गौतम के पूर्वोक्त प्रत्यक्ष लक्षण सूत्र में—'अव्यपदेश्यम्' इस पद का अर्थ 'निर्विकल्पक' और 'व्यवसायात्मकम्' इस पद का अर्थ 'सविकल्पक' है अर्थात् उक्त दोनों नामों के प्रत्यक्ष द्विविध हैं—यही महर्षि गौतम को उक्त दोनों पदों में विवक्षित है। उनमें जिस प्रत्यक्ष के विषयीभूत पदार्थ में 'विकल्प' यानी विशेष्य विशेषण भाव नहीं है वह 'निर्विकल्पक' और जिस प्रत्यक्ष के विषयीभूत पदार्थ 'विकल्प' यानी विशेष्यविशेषणभाव है वह सविकल्पक है।

जैसे—'अयं घटः'—इस तरह से घट का जो प्रत्यक्ष होता है वह घटत्व विशिष्ट घटविषयक प्रत्यक्ष है। अतः उसमें घट का धर्म घटत्व विशेषण और घट विशेष्य है, (तादात्म्य सम्बन्ध से घट भी विशेषण हो सकता है) किन्तु घटत्व रूप से विशेषण के ज्ञान के बिना उस तरह का विशिष्ट प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं हो सकता है, अतः घट के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर पहले घट एवं घटत्व धर्म के बारे में अविशिष्ट प्रत्यक्ष होता है यह मानना पड़ेगा, वही घट और घटत्व विषयक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। वह घटत्व विशिष्ट घट विषयक नहीं होने से सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं है, तथा मन के द्वारा उसका बोध (मानस प्रत्यक्ष) सम्भव नहीं होने से वह अतीन्द्रिय है, किन्तु वह सविकल्पक प्रत्यक्ष के कारण के रूप से अनुमान प्रमाण के द्वारा होता है, क्योंकि पहले विशेषण ज्ञान के बिना कोई विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।

पूर्वोक्त घटत्व विशेषणज्ञान से उत्पन्न विशिष्ट घट विषयक सविकल्पक प्रत्यक्ष के बाद 'घटमहं जानामि' अर्थात् मैंने घटत्व रूप से घट को जाना है, इस तरह से उस ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है, उस तरह के मानस प्रत्यक्ष का अनुव्यवसाय है। पूर्वोक्त रूप अनुव्यवसाय में मनः संयुक्त आत्मा में उस घट का ज्ञान समवाय सम्बन्ध से विशेषण के रूप से विषय होता है और उस ज्ञान में विषयिता सम्बन्ध से घटत्व रूप से घट विशेषण के रूप से विषय होता है।

क्योंकि—'घटमहं जानामि' अर्थात् घटत्व विशिष्ट सघट विषय का जो ज्ञान मैं उस ज्ञान से विशिष्ट हूँ—इसी तरह से उस ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष (अनुव्यवसाय) उत्पन्न होता है। लेकिन पूर्वोक्त रूप घटज्ञान बाह्य-पदार्थ विषयक होने से मन के द्वारा इसका प्रत्यक्ष कैसे होगा? बाह्य-पदार्थ के बारे में स्वतन्त्ररूप से मन की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसीमें कहा गया है—'परतन्त्र

वह्निमान्'। अतएव यह मानना होगा कि 'मैं धूमत्व विशिष्ट-धूम विषयक ज्ञान-वान्' इस तरह से जो मानस प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है, वह ज्ञानांश ज्ञानांश में लौकिक होते हुए भी धूमांश में अलौकिक प्रत्यक्ष है। अर्थात् उस रूप से बाह्य घट आदि पदार्थों का मन के द्वारा अलौकिक मानना पड़ेगा। अतः पूर्वोत्पन्न धूमज्ञान ही उस अलौकिक प्रत्यक्ष का कारण अलौकिक सन्निकर्ष है। अन्यथा ज्ञान का मानस प्रत्यक्षात्मक अनुव्यवसाय सर्वसम्मत नहीं है। अगले अध्याय में उस विषय की आलोचना करूँगा। नैयायिक सम्प्रदाय के मतानुसार और भी बहुत से स्थलों में ज्ञान-लक्षण सन्निकर्ष के द्वारा उत्पन्न अलौकिक प्रत्यक्ष विशेष (उपनीतमान) मानने योग्य है। अन्यथा बहुत से प्रत्यक्षों की उपपत्ति नहीं होती। संक्षेप में इन सब दुर्बोध विषयों को नहीं कहा जा सकता है। बाहुल्य के डर से यहाँ और अधिक लिखना भी सम्भव नहीं है। तीसरे प्रकार के अलौकिक सन्निकर्ष का तीसरा नाम योगज है। महायोगी का समाधिविशेष रूप योगजन्य सन्निकर्ष ही योगज सन्निकर्ष है। उस सन्निकर्ष से उस योगी को भूत, भविष्य एवं दूरस्थ आदि सभी विषयों का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। जीवात्मा और परमात्मा का जो यथार्थ प्रत्यक्ष है वह योगज सन्निकर्ष विशेष से उत्पन्न अलौकिक मानस प्रत्यक्ष महर्षि गौतम ने भी बाद में कहा है—'समाधिविशेषाभ्यासात्' ४।२।३८। महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन के नवम अध्याय के प्रथम आह्निक में योगि प्रत्यक्ष का विशेष रूप से उल्लेख किया है। कणाद के द्वारा कहे गये युक्त और वियुक्त—इन दोनों प्रकार के योगियों को किस तरह से शेष विषयों के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है—प्रशस्तपाद ने इसका वर्णन किया है। युक्त योगी को योगज सन्निकर्ष से सभी विषयों का प्रत्यक्ष ही होता है।

नित्य सर्वज्ञ ईश्वर का सर्वविषयक नित्य प्रत्यक्ष किसी कारण से उत्पन्न नहीं है। इसी से महर्षि गौतम ने पूर्वोक्त प्रत्यक्ष सूत्र में ईश्वर प्रत्यक्ष को लक्ष्य के रूप में ग्रहण नहीं किया है। परन्तु सर्वदा सार्वविषयक प्रत्यक्ष रूप प्रमा ज्ञान का आश्रय है। इसी तात्पर्य से शास्त्रों में प्रमाण शब्द में कहे गये हैं।

प्रत्यक्ष से उत्पन्न तादृश लिङ्ग का स्मरणात्मक ज्ञान भी सूत्रकार का अभि-प्रेत है। अर्थात् 'तत्पूर्वकम्' इस पद से लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष तथा लिङ्ग प्रत्यक्ष और उस सम्बन्ध से विशिष्ट लिङ्ग का स्मरणपूर्वक इन सब ज्ञानों को समझना चाहिये।

अनुमान के हेतु पदार्थ को लिङ्ग तथा उससे अनुमेय पदार्थ को लिङ्गी कहते हैं। जिस पदार्थ के सकल आधारों में जो पदार्थ अवश्य ही रहता है उस

पदार्थ को उस अन्य पदार्थ का व्याप्य पदार्थ कहते हैं, और उस अन्य पदार्थ को उसका व्यापक पदार्थ कहते हैं। व्याप्य पदार्थ रहने पर ही उस स्थल में उसका व्यापक पदार्थ अवश्य ही रहता है। अतः व्याप्य पदार्थ से उसके व्यापक पदार्थ की अनुमिति होने में ही वह 'लिङ्ग' या हेतु होता है और उसका व्यापक वही पदार्थ वहाँ लिङ्गी होता है। जिस धर्मी में उस लिङ्गी की अनुमिति होती है वह धर्मी 'पक्ष' शब्द से भी कहा गया है।

जैसे वह्नि रहित स्थल में धूम की उत्पत्ति सम्भव नहीं होने पर जिन-जिन स्थल में धूम रहता है उन सभी स्थलों में उसका कारण वह्नि अवश्य ही रहता है। अतएव धूम वह्नि का व्याप्य पदार्थ है और वह्नि उसका व्यापक पदार्थ है अतः पर्वत आदि पक्ष में धूम के द्वारा वह्नि की अनुमिति होती है और उसमें धूम लिङ्ग है वह्नि लिङ्गी। निस्सन्देह भाष्यकार ने लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध को कहकर उन दोनों का वह व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध ही कहा है क्योंकि उस सम्बन्ध के बिना अनुमिति नहीं होती है। जैसे पूर्वोक्त स्थल में धूम में वह्नि का व्याप्यत्व सम्बन्ध अथवा व्याप्ति के प्रत्यक्ष के बिना धूम से आग की अनुमिति नहीं हो सकती है। पहले पाकशाला आदि किसी स्थान में धूम और वह्नि का दर्शन और वह्निशून्य स्थान में धूम के अदर्शन से धूम में वह्नि के व्याप्ति सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है। पश्चात् पर्वत आदि किसी स्थल में धूम देखने से उस समय में उसके पूर्वजात उस व्याप्ति के प्रत्यक्ष से संस्कार उद्बुद्ध होकर धूम वह्नि का व्याप्य है—इस तरह की स्मृति को उत्पन्न कराता है। उस व्याप्ति स्मरण के बाद ही वह्नि व्याप्य धूम से विशिष्ट पर्वत, इस तरह से पर्वत के ऊपर फिर से उस धूम का प्रत्यक्ष होता है।

पहले पाकशाला आदि किसी स्थल में धूमदर्शन के बाद पर्वत में जो पहले-पहल धूम का दर्शन होता है वह धूम का द्वितीय दर्शन है तथा उसके ऊपर धूम में वह्नि की व्याप्ति के स्मरण के उपरान्त वहीं वह्नि की व्याप्ति से विशिष्ट धूम का फिर से जो दर्शन होता है वह तृतीय लिङ्गी दर्शन है।

अतः यह तृतीय लिङ्ग परामर्श नाम से कहा गया है। 'लिङ्ग परामर्श' अथवा केवल 'परामर्श' शब्द से भी कहा गया है।

फलित कथन यह है कि साध्य धर्म की यानी अनुमेय पदार्थ की व्याप्ति से विशिष्ट हेतु पदार्थ अनुमान के आश्रय पक्ष पदार्थ में है इस तरह का निश्चय ही लिङ्ग परामर्श है। वही अनुमिति का चरम कारण है। जैसे पूर्वोक्त स्थल में—'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः'। इस तरह का लिङ्ग परामर्श है। इस ज्ञान के परवर्ती क्षण में ही—'पर्वतो वह्निमान्' इस तरह से पर्वत में अनुमिति होती

है। भाष्यकार ने बाद में फिर भी लिंगदर्शन तथा लिंगस्मरण का उल्लेख करके उक्त लिंग परामर्श को ही व्यक्त किया तथा हेतु पदार्थ में साध्य धर्म की व्याप्ति के प्रत्यक्ष स्थल को लेकर ही उक्त प्रकार की व्याख्या की है। किन्तु जिस किसी प्रमाण से ही किसी पदार्थ में किसी पदार्थ के व्याप्ति निश्चय होने पर भी उसका फलस्वरूप उस व्याप्य पदार्थ के द्वारा उसके व्यापक पदार्थ की अनुमिति होती है अतः लिंग परामर्शात्मक ज्ञान से होनेवाली जो परोक्ष अनुभूति वही अनुमिति है और यथार्थ अनुमिति का कारण ही अनुमान प्रमाण है यही उक्त सूत्र का तात्पर्यार्थ समझना चाहिये।

तत्त्व चिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय ने भी उक्त प्रकार में ही अनुमिति और अनुमान प्रमाण का लक्षण कहकर पहले प्राचीनों के मतानुसार लिंग परामर्श को ही अनुमिति का चरम कारण कहने पर भी परामर्श नामक ग्रन्थ में अपना सिद्धान्त कहा है कि उक्त लिंग परामर्श के जनक पूर्वोत्पन्न व्याप्ति-ज्ञान ही अनुमिति का कारण है अतः वही अनुमान प्रमाण है। क्योंकि जो किसी व्यापार के द्वारा कार्य का जनक होता है वही 'कारण' है। अतः उक्त लिंग परामर्श ही उसके पहले उत्पन्न व्याप्तिज्ञान का व्यापार होने से उसके द्वारा वह व्याप्तिज्ञान ही अनुमिति का करण हो सकता है। परन्तु उक्त लिंग परामर्शात्मक चरमकारण अनुमिति का करण नहीं हो सकता है।

अवश्य प्राचीन न्यायाचार्य उद्योतकर के भी उक्त मतान्तर का उल्लेख करने से वह भी प्राचीन मतविशेष है। किन्तु उनके मतानुसार अनुमिति का चरम-कारण उक्त लिंग परामर्श ही अनुमिति का मुख्य कारण होने से वही मुख्यतः अनुमान प्रमाण है। प्राचीन मत के अनुसार चरम कारण ही मुख्य करण है। और प्रमाण का चरम फल 'हान बुद्धि' 'उपादान बुद्धि' तथा 'उपेक्षा बुद्धि' के लिए प्रमाण जन्य प्रमिति भी प्रमाण होता है यह पहले कह चुका हूँ। इसी से उद्योतकर ने अनुमान प्रमाण से होनेवाली अनुमिति को भी अनुमान प्रमाण कहा है।

अनुमिति के कारण के विषय में और भी बहुत से मतभेद हैं। अनुमान गभामाण का प्रमेय अर्थात् अनुमेय क्या है—इस विषय में भी प्राचीन काल में प्रचद् से विचार और नाना मतभेद हुए हैं। संक्षेप में उनको व्यक्त करना प्रेन है। अर्थात् (१

तथा लिङ्ग प्रत्यक्ष और ह
थानों को समझना चाहिये। चार्य दिङ्नाग की बात एवं उद्योतकर तथा कुमारिल
अनुमान के हेतु पदार्थ को लिङ्गालोचना मेरे द्वारा सम्पादित न्यायदर्शन के
कहते हैं। जिस पदार्थ के सकल आधारों ७-४४ पृष्ठ में देखिए।
नहीं है

गौतम ने पूर्वोक्त सूत्र में अनुमान प्रमाण को तीन प्रकार का कहा है (१) पूर्ववत् (२) शेषवत् (३) सामान्यतोदृष्ट। इन तीन नामों से पूर्व शब्द के साथ तुल्यार्थ 'वति' प्रत्यय से निष्पन्न 'पूर्ववत्' शब्द से पूर्वतुल्य 'अर्थ' समझा जाता है। अर्थात् पहले किसी स्थान में जिस पदार्थ को व्याप्य और जिस पदार्थ को उसके व्यापक के रूप से प्रत्यक्ष किया जाता है, अर्थात् जिस पदार्थ मे जिसके व्याप्तिसम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है, तज्जातीय उस व्याप्य पदार्थ को अन्यत्र प्रत्यक्ष करके वहाँ तज्जातीय उस व्यापक पदार्थ की अनुमिति होने पर वहाँ उस अनुमान प्रमाण का नाम 'पूर्ववत्' है—जैसे पहले पाकशाला में जिस धूम और वह्नि का दर्शन करने से धूम में वह्नि के व्याप्ति सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है बाद में पर्वत में तज्जातीय धूम को दर्शन करने से ही तज्जातीय वह्नि की अनुमिति होती है। अत. वैसे स्थल का अनुमान प्रमाण 'पूर्ववत्' है। इसकी दूसरे प्रकार की व्याख्या भी है।[1]

जो पदार्थ अवशिष्ट रहता है उसे 'शेष' पदार्थ कहते हैं। जिस अनुमान से उस शेष पदार्थ विषयक अनुमिति होती है उसका नाम 'शेषवत्' अनुमान है। भाष्यकार ने कणाद के सूत्रानुसार इसका उदाहरण बतलाया है कि कणादोक्त द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा सामान्य, नाम के छः पदार्थों मे शब्द सामान्य, विशेष तथा समवाय नहीं है।

यह निश्चित ही है क्योकि कणाद के मत में ये तीन पदार्थ नित्य हैं परन्तु शब्द अनित्य है, अतः क्या शब्द द्रव्य है? या गुण है? या कर्म है? इस प्रकार का संशय होता है।

बाद मे 'शब्दो न द्रव्यम्, एकद्रव्यसमवेतत्वात्' ऐसे अनुमान प्रमाण से निश्चित होता है कि शब्द-द्रव्य पदार्थ नहीं है। क्योंकि अनित्य द्रव्य समूह सावयव हैं और वे एक से अधिक अवयवात्मक द्रव्य में ही समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। किन्तु शब्द केवल आकाश नाम के द्रव्य मे समवाय सम्बन्ध मे रहता

---

१. कारण तथा कार्य मे कारण पूर्व और कार्य शेष या उत्तर है। इसीसे कारण अर्थ म 'पूर्व' शब्द का और कार्य अर्थ मे 'शेष' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। अत जिस अनुमान मे 'पूर्व' अर्थात् कारण—हेतु के रूप मे विद्यमान रहता है, इस तात्पर्य मे 'पूर्ववत्' शब्द से कारण हेतु के कार्य का अनुमान समझा जाता है और उक्त रूप अर्थ मे शेषवत् शब्द से कार्य हेतुक कारण का अनुमान समझा जाता है। अर्थात् कारण से कार्य की अनुमिति होने पर उस अनुमिति का कारण 'शेषवत्' शब्द से कहा गया है। भाष्यकार वात्स्यायन भी पहले उक्त रूप व्याख्या एव उदाहरण प्रकाशित करने से वह भी प्राचीन व्याख्या है इसमें सन्देह नहीं है।

है यही कणाद का सिद्धान्त है। अतएव शब्द द्रव्य पदार्थ नहीं है। बाद में 'शब्दो न कर्म, सजातीयोत्पादकत्वात्' ऐसे अनुमान प्रमाण से निश्चित होता है कि यह भी शब्द-कर्म पदार्थ नहीं है। क्योंकि कणाद के मत में शब्द उत्पन्न होने के बाद वह दूसरे क्षण में उसके सजातीय अन्य शब्द को उत्पन्न करता है। परन्तु कर्म मानी कोई क्रिया उत्पन्न होने पर वह क्रिया उसकी सजातीय अपर क्रिया को उत्पन्न नहीं करती, वहाँ क्रिया का अन्य कारण ही अपर क्रिया को उत्पन्न करता है। अतः शब्द उसके सजातीय अपर शब्द का उत्पादक होने से वह कर्म या क्रिया विशेष नहीं है। इसी तरह से शब्द में यथार्थविषयीभूत द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्वों में से द्रव्यत्व और कर्मत्व का प्रतिषेध या अभाव का निश्चय होने पर गुणत्व ही शेष रहता है। अतएव परिशेष में शब्द गुण पदार्थ है यही अनुमान प्रमाण सिद्ध होता है। उस अनुमिति का करण जो अनुमान प्रमाण है उसमें साधकत्व सम्बन्ध से गुणत्व रूप 'शेष' पदार्थ के रहने से उस तात्पर्य में उसको 'शेषवत्' अनुमान कहा जा सकता है।[१]

तीसरे प्रकार के अनुमान का नाम 'सामान्यतो दृष्ट' है। यह 'पूर्ववत्' अनुमान के विपरीत है। क्योंकि पूर्ववत् अनुमान के स्थल में पहले किसी स्थान में हेतु और साध्य धर्म के व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है। सामान्यतोदृष्ट अनुमान के स्थलों में वह नहीं होता है।

किन्तु अन्य किसी पदार्थ में किसी धर्म की व्याप्ति का प्रत्यक्ष होने पर उसके सदृश किसी पदार्थ में उस धर्म की व्याप्ति के निश्चय से उसी व्याप्ति विशिष्ट हेतु के द्वारा वहाँ अप्रत्यक्ष पदार्थ की अनुमिति होती है। भाष्यकार ने इच्छा आदि गुण से आत्मा के अनुमान को इसके उदाहरण के रूप में उल्लेख किया है। भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि जिसमें इच्छा आदि गुण हैं वह आत्मा है इस तरह से पहले किसी स्थल में व्याप्ति का निश्चय सम्भव ही नहीं है किन्तु जो-जो गुण पदार्थ हैं, वे सभी किसी द्रव्य में आश्रित हैं, जैसे रूप आदि गुण, इसी तरह से सामान्यतः व्याप्ति निश्चय से इच्छा आदि गुणों का

---

१. वाचस्पति मिश्र ने 'सांख्यतत्त्व कौमुदी' में शेषवत् अनुमान की व्याख्या करते हुए भाष्यकार वात्स्यायन के सन्दर्भ को भी उद्धृत किया है। परन्तु उन्होंने वहाँ अनुमान प्रमाण को पहले 'वीत' तथा 'अवीत' शब्द से दो प्रकारों को कहकर 'गौतमोक्त शेषवत्' अनुमान को ही 'अवीत' कहा है। व्यतिरेक मुख से प्रवर्तमान निषेधक अनुमान ही 'अवीत' है और उसी का प्रसिद्ध नाम 'व्यतिरेकी' अनुमान है। गौतमोक्त 'पूर्ववत्' एवं 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान ही 'वीत' अनुमान है।

आश्रय देह आदि से भिन्न आत्मा सिद्ध होता है। अर्थात् चूँकि इच्छा आदि गुण पदार्थ हैं अतएव वे किसी द्रव्य में आश्रित हैं, इस तरह से उस इच्छा आदि गुण म उस गुणत्व हेतु से द्रव्याश्रितत्व अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है। पश्चात् इच्छा आदि गुण देह तथा इन्द्रिय आदि म आश्रित नहीं है अर्थात् वे गुण देह आदि के नहीं है—यह सिद्ध हो जाने पर अन्त मे वे देह आदि से भिन्न किसी द्रव्य में आश्रित हैं—यही सिद्ध होता है। वही द्रव्य आत्मा है।

वार्तिककार उद्योतकर और तात्पर्य टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि इच्छा आदि गुण परतन्त्र है, यही सामान्यतो दृष्ट अनुमान से सिद्ध होता है, अर्थात् जो गुण पदार्थ है वह पराश्रित है, जैसे रूप आदि, इस तरह से सामान्यत: गुण पदार्थ में पराश्रितत्व की व्याप्ति के निश्चय से इच्छा आदि गुण में पराश्रितत्व ही उक्त 'सामान्यतो दृष्ट-अनुमान' सिद्ध होता है। पश्चात् वे इच्छा आदि गुण देहाश्रित नहीं हैं, इन्द्रियाश्रित नहीं हैं, इत्यादि रूप से वे देह आदि के गुण नहीं हैं यह अनुमान प्रमाण से सिद्ध होने पर अन्त में वे देह आदि से भिन्न किसी द्रव्य में आश्रित हैं अर्थात् उस अतिरिक्त द्रव्य के ही गुण हैं—यही शेषवत् अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है। फलित कथन यह है कि उक्त मत के अनुसार पूर्वोक्त स्थल में इच्छा आदि गुणों के पराश्रितत्व का साधक अनुमान प्रमाण ही सामान्यतो दृष्ट है और अन्त में उसका आत्माश्रितत्व साधक अनुमान प्रमाण ही शेषवत् है या 'परिशेष' अनुमान है।

वास्तव मे महर्षि गौतम ने भी पश्चात् ज्ञान उनके मत में आत्माश्रित अर्थात् आत्मा का वास्तविक गुण है इस सिद्धान्त को बहुत से हेतुओं के द्वारा समर्थन करके बाद में कहा है—'परिशेषाद् यथोक्तहेतूपपत्तेश्च' (३।२।४१)। इसमें सन्देह नहीं कि उक्त सूत्र में परिशेष शब्द से उनके द्वारा 'शेषवत्' अनुमान को ही ग्रहण किया है। परवर्त्ती काल में वह 'शेषवत्' अनुमान ही 'व्यतिरेकी' और 'केवल व्यतिरेकी' शब्द से कहा गया है तथा उसकी नाना प्रकार की व्याख्याएँ एवं उदाहरण भी कहे गये हैं। परन्तु प्राचीन न्यायाचार्य उद्योतकर ने भी गौतमोक्त उन तीन प्रकारों के अनुमानों का क्रमश: 'अन्वयी', 'व्यतिरेकी' और 'अन्वय व्यतिरेकी' इन तीनों नामों से उल्लेख करके व्याख्या करने से यह भी प्राचीन मत विशेष है। पश्चात् 'तत्त्व चिन्तामणि' कार गङ्गेश उपाध्याय ने अपने मतानुसार उसकी विस्तृत व्याख्या की है और उसकी व्याख्या में अनेक मतभेद हुए हैं। बाद में यह व्यक्त होगा।

उपमान प्रमाण—

तीसरे प्रमाण उपमान का लक्षण कहते हुए गौतम ने कहा है—'प्रसिद्ध-साधर्म्यात् साध्य-साधनमुपमानम्' १।१।६। जो पदार्थ पहले ही यथार्थ रूप से ज्ञात है उसे प्रसिद्ध पदार्थ कहते हैं। जो पदार्थ पहले अज्ञात है, वह साध्य पदार्थ है। किसी पदार्थ में किसी प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य के प्रत्यक्ष से उत्पन्न किसी साध्य की सिद्धि में जो करण है अर्थात् जिससे उस अनीन्द्रिय साध्य पदार्थ की यथार्थ अनुभूति होती है वह उपमान प्रमाण है। उपमान प्रमाण से होने-वाली जो अनुभूति उसका नाम उपमिति है। गवय जानवर में गाय का लक्षण गल कम्बल नहीं है किन्तु गाय के बहुत से सादृश्य हैं। नागरिक ने गवय पशु को देखा नहीं है, लेकिन किसी अरण्यवासी ने उनसे कहा कि गवय जानवर गाय के सदृश है। पश्चात् किसी समय में वे शहर के रहने वाले गवय पशु को देखकर उसमें गाय के सादृश्य का प्रत्यक्ष करने पर बाद में ही उनको पूर्व-श्रुत उस अरण्यवासी के वाक्य के अर्थ का स्मरण होता है और उससे परक्षण में गवयत्व विशिष्ट पशु मात्र में गवय शब्द की वाच्यत्व रूप शक्ति का निश्चय होता है।[1]

गौतम के मत में अन्य किसी प्रमाण से उस तरह से गवय शब्द के वाच्यत्व का निश्चय नहीं हो सकता। अतएव उपमान नाम का पृथक् प्रमाण स्वीकरणीय है। बाद में यह व्यक्त होगा।

न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने कहा है कि वृद्ध नैयायिकों के मतानुसार उक्त स्थल में—'यथा गौस्तथा गवय' ऐसा पूर्वश्रुत वाक्य ही उपमिति का

---

१. मीमांसक एवं वेदान्ती सम्प्रदाय उपमान प्रमाण को मानता है किन्तु गवयत्व विशिष्ट पशु में गवय शब्द के वाच्यत्व बोधक उपमान का फल उपमिति को नहीं मानता है। मीमांसाचार्य भाष्यकार शबरस्वामी एवं वार्तिककार कुमारिल भट्ट आदि के मत में इस स्थल में गवय पशु में गाय के सादृश्य के प्रत्यक्ष होने पर वह पूर्वदृष्ट गाय इस गाय के सदृश है—इस तरह से उस गो पदार्थ में प्रत्यक्ष दृष्ट गवय के सादृश्य का ज्ञान होता है। यही उपमान प्रमाण का फल उपमिति है। यहाँ पूर्वदृष्ट गाय के प्रत्यक्ष नहीं होने से उसमें गवय के सादृश्य का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। किन्तु नैयायिक आदि अनेक सम्प्रदायों के मत से पूर्वदृष्ट गाय में गवय का सादृश्य बोध यही स्मरणात्मक ज्ञान है। वह गाय गवय का सदृश है। इस तरह से पूर्वदृष्ट गाय का स्मरण होता है। यह उपमान प्रमाण का फल नहीं है।

करण है। किन्तु उक्त वाक्य को सुनने पर भी वन में जाकर गवय को देखकर उसमें पूर्वदृष्ट गाय के सादृश्य को प्रत्यक्ष नहीं करने से उसमें गवय शब्द के वाच्यार्थ का बोध नहीं हो सकता। अतः उक्त रूप वाक्य आप्त वाक्य होने पर भी उक्त विषय में वह शब्दात्मक प्रमाण नहीं है, किन्तु वह उपमान नाम का अपर प्रमाण है। यथार्थ में भाष्यकार के कथन से भी सरल रूप से उक्त का उक्त रूप मत समझा जाता है। किन्तु वार्तिककार उद्योतकर ने पूर्वोक्त वाक्यार्थ का स्मरण सहकृत सादृश्य प्रत्यक्ष को ही उपमिति का करण होने के नाते उपमान प्रमाण कहा है। उदयनाचार्य आदि नैयायिकों ने उक्त स्थल में गवय में गाय के सादृश्य के प्रत्यक्ष को ही उपमिति का करण कहकर पूर्वश्रुत उस वाक्यार्थ के स्मरण को उसका व्यापार कहा है। प्राचीनों के मत में वह व्यापार रूप चरमकारण ही मुख्यः करण होने से वही मुख्य उपमान प्रमाण है और इससे होने वाली उपमिति रूप प्रमा भी उपमान प्रमाण है।

उस प्रमाण का फल 'हान बुद्धि' या 'उपादान बुद्धि' या 'उपेक्षा बुद्धि' है। वह आदि बुद्धि जैसी है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण की व्याख्या में मैंने पहले कहा है। इसी तरह से जो व्यक्ति 'मुद्गपर्णी' और 'माषपर्णी' शब्द के वाच्य अर्थ को नहीं जानते वे द्रव्यतत्त्वज्ञ चिकित्सक से सुनते हैं कि मुद्गपर्णी नाम का औषधिविशेष देखने में मूँग के सदृश है एवं माषपर्णी नाम का औषधिविशेष देखने में माष (उड़द) की तरह है। मुद्ग और माष उनके पूर्वदृष्ट प्रसिद्ध पदार्थ हैं। अतः बाद में किसी समय पर वही व्यक्ति पर्वत आदि किसी स्थान पर जाकर मुद्गपर्णी को देखकर उसमें मूँग के सादृश्य का प्रत्यक्ष करने से तथा उनको उस माषपर्णी देखकर उसमें माष का सादृश्य प्रत्यक्ष करने से बाद में ही पूर्वश्रुत वैद्य वचन के अर्थ की स्मृति होने पर उस औषधिविशेष में यथाक्रम मुद्गपर्णी और माषपर्णी शब्द के वाच्यत्वसम्बन्धरूप शक्ति का निर्णय होता है। वह भी उपमान प्रमाण से होनेवाली उपमिति नामक ज्ञान है।

भाष्यकार वात्स्यायन ने उक्तरूप उदाहरणों को दिखाकर अन्त में कहा है कि उपमान प्रमाण के और भी विषय हैं। तात्पर्य टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने भाष्यकार के उस कथन के द्वारा समर्थन किया है कि जैसे प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य के प्रत्यक्ष से उपमिति होती है, उसी तरह से वैधर्म्य के प्रत्यक्ष से भी उपमिति होती है। उसको 'वैधर्म्योपमिति' कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति उष्ट्र पशु 'करभ' शब्द का वाच्य यह नहीं जानता है उस व्यक्ति ने किसी जानकार व्यक्ति से ऐसा वाक्य सुना है कि 'करभ' बहुत कुरूप है उसकी ग्रीवा देख बहुत लम्बा है और वह अति कठोर कांटे को खाता है। पश्चात् वह व्यक्ति कहीं पर ऊँट को देखने से उसमें उसके पूर्वदृष्ट गाय आदि पशु के वैधर्म्य को

देखकर और उसके बाद में ही उनके उस पूर्वश्रुत वाक्यार्थ को स्मरण करके 'ऊँट' 'करभ' शब्द का वाच्य है—इस तरह से उस में करभ शब्द के वाच्यत्वरूप शक्ति का निर्णय करते हैं। उक्त स्थल में उस तरह का शक्तिनिर्णय उनकी वैधर्म्योपमिति है।

अतएव तुल्य रूप से उक्तरूप वैधर्म्योपमिति को भी गौतम का सम्मत कहा जा सकता है। किन्तु भाष्यकार के अंतिम उस कथन से अर्थविशेष में शब्दविशेष की वाच्यत्व रूप शक्ति से भिन्न उपमान प्रमाण का और भी विषय है, अर्थात् उपमान प्रमाण से अन्यरूप तत्त्व भी सिद्ध होता है—यही भाष्यकार का विवक्षित है, ऐसा समझा जाता है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने भी यही समझकर उसका उदाहरण कहा है कि किसी जानकार व्यक्ति के द्वारा कहता है कि मुद्गपर्णी के सदृश औषधिविशेष विष का नाश करता है, ऐसा वाक्य कह जानेपर किसी स्थान पर कोई अगर औषधिविशेष को देखकर उसमें मुद्गपर्णी के सादृश्य का प्रत्यक्ष करते हैं तो बाद में ही उनके उस पूर्वश्रुत वाक्यार्थ का स्मरण हो जाने से तज्जन्य उनका यह औषधिविशेष विष का नाश करता है, ऐसा निश्चय होता है। उक्त स्थल में उनका उस औषधिविशेष में विषनाशकत्वरूप धर्म का जो निश्चय है, वह भी सादृश्य के प्रत्यक्ष से होने वाली उपमिति है, अतः वह भी उपमान प्रमाण का फल है। उपमान प्रमाण से अन्य तरह के तत्त्वों के निश्चय के और भी बहुत से उदाहरण हैं।

शब्द प्रमाण —

उपमान प्रमाण के बाद चौथे शब्द प्रमाण का लक्षण एवं प्रकारभेद बतलाते हुए गौतम ने कहा है—'आप्तोपदेशः शब्दः' १।१।७ 'स द्विविधः दृष्टादृष्टार्थत्वात्' १।१।८ अर्थात् आप्तव्यक्ति का जो उपदेश अथवा वाक्य है वह शब्द प्रमाण है। जो व्यक्ति जिस विषय का तत्त्वज्ञ है और उस तत्त्व को प्रकाशित करने के लिये ही यथार्थ वाक्य का प्रयोग करते हैं उन्हीं व्यक्ति को उस विषय में आप्त कहते हैं। उस विषय में उनका वह उपदेश अर्थात् उस विषय का बोधक वाक्य ही शब्द प्रमाण है। महर्षि गौतम के उक्त सूत्र से भी सरलरूप से यही समझा जाता है। किन्तु परवर्ती बहुत से नव्यनैयायिकों ने वाक्य के अन्तर्गत पद-समूह के स्मरणात्मक ज्ञान को ही वाक्यार्थबोध का करण मानकर उसे शब्द प्रमाण कहा है। यथार्थ में शब्दबोध में पहले पद का ज्ञान और उसके अर्थ का स्मरण आवश्यक है। उक्त मत में पहले एक-एक पद का ज्ञान होने पर भी बाद में उन सब पदों के बाद में समूहालम्बन स्मरण होता है। पश्चात् उन सब पदार्थों का उस प्रकार का स्मरण होता है। उस पदार्थ स्मरण रूप व्यापार से पूर्वोक्तरूप वह पदस्मरण शब्दबोध का यानी वाक्यार्थबोध का करण

होने के नाते शब्द प्रमाण है। शब्दबोध के अव्यवहित पूर्वक्षण में उस वाक्य के विद्यमान नहीं रहने से वह शब्द प्रमाण नहीं हो सकता है। परन्तु प्राचीन मत में स्मरणरूप ज्ञानतत्व सम्बन्ध से वह वाक्य भी आत्मा में विद्यमान होने से वह शब्द प्रमाण हो सकता है, परन्तु शब्दबोध का चरम कारण ही मुख्य कारण है। इस मत में पदार्थस्मरण मुख्य शब्द प्रमाण है, यह कहना होगा।

अदृष्टार्थक वेद आदि शास्त्र भी जो शब्दप्रमाण है—इसे व्यक्त करने के लिये महर्षि गौतम ने यही द्वितीय सूत्र के द्वारा कहा है कि वह आप्त वाक्य रूप शब्द प्रमाण दो प्रकार के हैं—चूंकि वे दृष्टार्थक और अदृष्टार्थक हैं, अर्थात् दृष्टार्थक और अदृष्टार्थक जिस नाम से शब्द प्रमाण दो प्रकार के हैं। भाष्यकार वात्स्यायन ने उसकी व्याख्या की है कि आप्त वाक्य का प्रतिपाद्य अर्थ इस लोक में तथा प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से समझा जाता है, वह दृष्टार्थक शब्द प्रमाण है और जिस आप्तवाक्य का प्रतिपाद्य अर्थ 'इह' लोक में अपर किसी प्रमाण से समझा नहीं जाता है, वह अदृष्टार्थक शब्द प्रमाण है। जैसे—'स्वर्गकामोऽश्वमेधेन यजेत' इत्यादि वेदवाक्य। उक्त वाक्य का अर्थ यह है कि स्वर्ग की इच्छा करने वाले अधिकारी अश्वमेध यज्ञ करें। अर्थात् अश्वमेध यज्ञ उनके लिये स्वर्ग का साधन है। किन्तु इह लोक में अन्य किसी प्रमाण से ही अश्वमेध यज्ञ की स्वर्ग साधनता समझी नहीं जाती। स्वर्ग नामक सुख विशेष का भी इह लोक में अनुभव नहीं किया जाता। ऐसे और भी बहुत से तत्त्व हैं जो वेद आदि शास्त्रों से भिन्न किसी प्रमाण से ही समझा नहीं जाता। अतः उन सब विषयों में वेद आदि शास्त्ररूप आप्तवाक्य ही अदृष्टार्थक शब्द प्रमाण हैं। सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण ने भी कहा है—'तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्'।६।

वेद आदि शास्त्र में दृष्टार्थक वाक्य भी बहुत से हैं और दृष्टार्थक बहुत से लौकिक वाक्य भी दृष्टार्थक शब्द प्रमाण हैं। इसी से सर्वत्र ही सत्यवादी विज्ञ व्यक्ति के लौकिक वाक्य को सुनकर तदनुसार लोक व्यवहार चल रहा है। क्योंकि जो व्यक्ति जिस विषय में 'आप्त' है उस विषय में उनका वाक्य ही आप्तवाक्य है। इसलिये भाष्यकार वात्स्यायन ने भी आप्त का लक्षण कहकर बाद में कहा है कि यह आप्त लक्षण ऋषि, आर्य तथा म्लेच्छों के लिये समान है। अर्थात् चूंकि ऋषियों के वाक्य की तरह अनरानर आर्यगण तथा म्लेच्छगण दृष्टार्थक बहुत से लौकिक-वाक्यों से भी जब उन विषयों का यथार्थ शब्द-बोध हो रहा है और तदनुसार उनका यथार्थ व्यवहार भी चल रहा है। तब वे भी उन सब विषयों में आप्त हैं। किन्तु अलौकिक विषय में सब व्यक्ति आप्त नहीं हो सकते। इस विषय में अन्यान्य बातें बाद में व्यक्त होंगी।

बारहवाँ अध्याय

न्यायदर्शन में प्रमाण की परीक्षा

न्यायदर्शन के द्वितीय अध्याय प्रथम आह्निक में महर्षि गौतम ने सामान्यतः प्रमाण पदार्थ की परीक्षा करते हुए पहले—'प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः' २।१।८ आदि सूत्रों के द्वारा प्रत्यक्ष आदि का प्रामाण्य नहीं है—इस पूर्वपक्ष का समर्थन करके उसका खण्डन करने के लिये पहले जो कहा है उसका तात्पर्य यह है कि प्रमाण के बिना कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। जो स्वमत-साधक किसी प्रमाण को नहीं कह सकते वे दूसरों के मत में भी प्रमाण का प्रश्न नहीं कर सकते। अब प्रमाण के बिना भी उनका मत सिद्ध होने पर तुल्यरूप से दूसरों के मत भी सिद्ध हो सकते हैं। अतएव सभी को अपने मत के साधक प्रमाण कहने चाहिये। लेकिन जिस के मत में प्रमाण नामक कुछ भी नहीं है वे अपने उत्तरूप मत को भी सिद्ध नहीं कर सकता और यदि बाध्य होकर वे व्यक्ति अपने उस मत के साधक प्रमाण में वास्तविक प्रामाण्य मानते हैं तो जिस हेतु के द्वारा वे सकल प्रमाणों का अप्रामाण्य सिद्ध कर रहे हैं वही हेतु सकल प्रमाणों में नहीं है—यह उन्हें भी मानना होगा। तब फिर वे सब प्रमाणों का अप्रामाण्य सिद्ध नहीं कर सकते।

तब क्या प्रमाण का भी प्रमाण है? प्रमाण के बिना यदि कुछ भी सिद्ध नहीं होता है तो प्रमाण पदार्थ भी सिद्ध नहीं हो सकता। और प्रमाण भी यदि प्रमाण का विषय होता है तो वह भी प्रमेय पदार्थ ही होता है। तब उसको प्रमाण कैसे कहा जा सकता है? इसके उत्तर में गौतम ने कहा है—'प्रमेयश्च तुलाप्रामाण्यवत्' २।१।१६॥

तात्पर्य यह है कि जो प्रमाण है वह भी प्रमाणान्तर से सिद्ध होने पर उस समय में प्रमेय भी होता है। सामान्यतः प्रमेयत्व सभी पदार्थों में है। जैसे सुवर्ण आदि के गुरुत्वविशेष के निर्धारक तराजू से जिस समय में सुवर्ण आदि के गुरुत्व विशेष का निश्चय किया जाता है उस समय में वह तराजू उस निश्चय का साधन होने से 'प्रमाण' नाम से कहा जाता है। परन्तु किसी समय में भी उस तराजू के प्रामाण्य के बारे में किसी का अगर सन्देह होता है तो दूसरे परीक्षित तराजू से उसके प्रामाण्य की परीक्षा की जाती है। तब वही तराजू प्रमेय होता है।

इसी तरह से किसी प्रमाण से जब किसी पदार्थ का निर्णय होता है, तब वह प्रमाण ही है, किन्तु उस प्रमाण के प्रामाण्य के बारे में अगर किसी को सशय हो या कोई उसके प्रामाण्य को इनकार करे तो उस समय मे प्रमाण के द्वारा उसके प्रामाण्य का निर्णय आवश्यक होता है और तब वही प्रमाण दूसरे प्रमाण का विषय होकर प्रमेय बन जाता है। अत प्रमाण में भी प्रमेयत्व रहता है। *प्रमाणत्व और प्रमेयत्व काल के भेद से विरुद्ध नहीं होते।*

पूर्वपक्षवादी की अन्तिम बात यह है कि प्रमाण का भी यदि प्रमाण माना जाय तो उस प्रमाण का साधक दूसरा प्रमाण तथा उसका साधक अपर प्रमाण मानना पड़ेगा।

इस तरह से अनन्त प्रमाण मानना पड़ता है, परन्तु उसे मानने पर किसी समय में भी किसी को किसी प्रमाण से किसी तत्त्व का निश्चय नहीं हो सकता। अत वस्तुत प्रमाण भी नहीं है। प्रमाण तथा प्रमेय का व्यवहार काल्पनिक प्रमेय भी नहो है। महर्षि गौतम ने उक्त पूर्वपक्ष को अन्त में कहा है यही मानना पड़ेगा, उसका खण्डन करने के लिए अन्त में कहा है,—'न, प्रदीप-प्रकाश-सिद्धिवत् तत्सिद्धे' ॥२।१।१६॥

अर्थात् जैसे प्रदीप का प्रकाश चक्षुरिन्द्रिय से सिद्ध होता है, वैसे प्रमाण समूह भी प्रमाणान्तर से ही सिद्ध होते हैं। अभिप्राय यह है कि प्रदीप को देखने के लिए दूसरा प्रदीप आवश्यक न होने पर भी चक्षुरिन्द्रिय आवश्यक है। क्योंकि अन्ध व्यक्ति प्रदीप को भी नहीं देख पाता है। अतएव प्रदीप स्वय प्रकाश है—यह भी नहीं कहा जा सकता है। किन्तु उस प्रदीप के लिए तो द्रष्टा का चक्षुरिन्द्रिय आदि प्रमाण है एव उस प्रमाण के बारे में भी अनुमान प्रमाण है एव वह अनुमान जो प्रमाण है, उसके बारे में भी अपर अनुमान प्रमाण है।

किन्तु जिस तरह से प्रदीप को देखने के लिए चक्षुरिन्द्रिय आवश्यक होने पर भी उस समय में उसका ज्ञान आवश्यक नहीं होता है इसी तरह से सभी प्रमाण के साधक प्रमाण के रहने पर भी उसका ज्ञान आवश्यक नहीं होता है। क्योंकि सर्वत्र प्रमाण पदार्थ में प्रामाण्य का सशय नहीं होता है। किन्तु किसी-किसी स्थल में प्रमाण के द्वारा यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होने पर भी वह ज्ञान यथार्थ है या नहीं ऐसा सशय होता है। अत. उस स्थल में उस प्रमाण पदार्थ में भी यथार्थता का सन्देह होता है। इसलिये यह भी नहीं माना जा सकता है कि ज्ञान का प्रामाण्य या यथार्थत्व स्वतोग्राह्य है अर्थात् उसका निश्चय कराने वाला

अपर प्रमाण आवश्यक है। अत प्रमाज्ञान का प्रमात्व तथा प्रमाण का प्रामाण्य, 'परतोमाह्य' है अर्थात् अन्य प्रमाण के द्वारा ही वह निश्चित होता है—यही मानना पड़ेगा।

प्रमाण की प्रामाण्यसिद्धि के लिए अतिरिक्त किसी प्रमाण को मानना अनावश्यक है। क्योंकि द्वितीय प्रमाण अनुमान के द्वारा ही सभी प्रमाणों का प्रामाण्य सिद्ध होता है। प्रमाण के द्वारा किसी विषय के ज्ञान होने पर वह उस विषय में सफल प्रवृत्ति का कारण होता है। तथा उस प्रमाज्ञान के द्वारा वह प्रमाण भी सफल प्रवृत्ति का कारण होता है। जैसे मृगतृष्णा में जल का भ्रम होने म उसमे उत्पन्न जल पीने की प्रवृत्ति सफल नहीं होती है किन्तु प्रमाण से वास्तव जल को जल समझने पर पीने से पिपासा की निवृत्ति होने पर जलपान म प्रवृत्ति सफल होती है। अत बाद में 'इद ज्ञान यथार्थ, सफल-प्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्नैव तन्नैवम्' ऐसे अनुमान क द्वारा पहले उत्पन्न उस जलज्ञान का यथार्थत्व सिद्ध होता है तथा उस यथार्थ ज्ञान के कारण प्रमाण पदार्थ का प्रामाण्य भी उक्त रूप हेतु के द्वारा अनुमान से सिद्ध होता है।

इसी तरह से वेद आदि शास्त्ररूप अदृष्टार्थक शब्द प्रमाण का प्रामाण्य भी दूसरे अनुमान प्रमाण क द्वारा सिद्ध होता है। किन्तु प्रमाण के प्रामाण्य साधक उस अनुमान प्रमाण में प्रामाण्य का सन्देह नहीं होने से उस अनुमान के प्रामाण्य की सिद्धि क लिए फिर से अनुमानान्तर की आवश्यकता नहीं होती है।

यह कभी नहीं कहा जा सकता है कि सर्वत्र सभी प्रमाणों में प्रामाण्य का सन्देह होता है। क्योंकि वैसा होने पर जीवों की प्रमाणमूलक निश्चय जन्य जो सब प्रवृत्तियाँ तथा व्यवहार हो रहे हैं, वे उत्पन्न नहीं होते। सन्देहवादी भी यह नहीं कह सकते कि किसी विषय में कभी यथार्थ निश्चय नहीं होता है।

न्यायदर्शन पञ्चम अध्याय प्रथम आह्निक के अन्त में महर्षि गौतम ने कहा है—'ज्ञानविकल्पाना भावाभावसवेदनादध्यात्मम्'। उक्त सूत्र म 'ज्ञान विकल्प' शब्द स विशिष्ट विषयक ज्ञान को ग्रहण करके 'भावाभावसवेदनात्' इस पद से गौतम ने अपना सिद्धान्त व्यक्त किया है कि विशेष विषयक ज्ञान मात्र के भाव तथा अभाव का मानस प्रत्यक्ष रूप सवेदन होता है। गौतम क उक्त सूत्र के अनुसार ही नैयायिक सम्प्रदाय ने ज्ञान क मानस प्रत्यक्ष को 'अनुव्यवसाय' नाम से उल्लिखित किया है।

जैसे घटत्व रूप से घट विषयक ज्ञान होने पर इसमें 'घटमहं जानामि' यानी घटत्व विशिष्ट घट को मैं जानता हूँ—इस तरह स मन के द्वारा ही उस

ज्ञान का ज्ञान होता है। वह जो बोध है, वह उस ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष रूप बोध है और उसका नाम है अनुव्यवसाय। किन्तु उस अनुव्यवसाय का मानस प्रत्यक्ष रूप अनुव्यवसाय एवं उसका अनुव्यवसाय प्रभृति उस ज्ञान का प्रकाश आवश्यक नहीं होने के कारण अनन्त अनुव्यवसाय स्वीकार की आपत्ति नहीं होती है। किसी प्रतिबन्धक के कारण अनुव्यवसाय के मानस प्रत्यक्ष नहीं होने पर भी पश्चात् वह अनुमान प्रमाण से सिद्ध होने से उसे निष्प्रमाण भी नहीं कहा जा सकता है। कतिपय कथन यह है कि गौतम के मत से पहले-पहले जो विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है वह मन के द्वारा ग्राह्य है, वह स्वतः प्रकाश नहीं है तथा वह ज्ञानाश्रय आत्मा भी स्वतः प्रकाश नहीं है।

पूर्वोक्त प्रकार से पहले पहल उत्पन्न विशिष्ट ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष रूप अनुव्यवसाय होने पर भी उस अनुव्यवसाय में उस ज्ञान का भ्रमत्व या प्रमात्व विषय नहीं होता है। अतएव बाद में अनुमान प्रमाण रूप दूसरे प्रमाण से ही उस ज्ञान का भ्रमत्व या प्रमात्व का निश्चय होता है। अर्थात् जैसे भ्रमात्मक ज्ञान का भ्रमत्व परतोग्राह्य है उसी तरह से प्रमात्मक ज्ञान का प्रमात्व भी परतोग्राह्य है, वह स्वतोग्राह्य नहीं है तथा भ्रमात्मक ज्ञान की उत्पत्ति जैसे किसी दोष से होने के कारण उसका भ्रमत्व भी उस दोष से उत्पन्न होता है, उसी तरह से प्रमात्मक ज्ञान की उत्पत्ति भी तुल्य युक्ति से किसी गुण से उत्पन्न होती है, ऐसा स्वीकार करने योग्य होने के कारण उसका प्रमात्व भी उसी गुण से उत्पन्न है—यह मानना पड़ेगा, इसी मत का नाम है—'परतः प्रामाण्यवाद'।

न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय ने उक्त मत का अवलम्बन करके ही वेद को पौरुषेयत्व का समर्थन किया है। कारण यह है कि उक्त मत के अनुसार वेद-वाक्यजन्य शाब्दबोधक का जो प्रमात्व है, वह उस वेद के वक्ता पुरुष के वेदार्थ विषयक यथार्थ ज्ञान रूप गुण से उत्पन्न है। अतः वेद उस पुरुष से कृत होने के नाते पौरुषेय है तथा उनके प्रामाण्य से ही वेद का प्रामाण्य है। अतः उस वेद के कर्त्ता नित्य सर्वज्ञ परमेश्वर भी स्वीकरणीय है। यह व्यक्त होगा।

कर्म मीमांसक सम्प्रदाय के मतानुसार वेद नित्य है। वेद किसी पुरुष के द्वारा कृत नहीं है इस अर्थ में अपौरुषेय है। इसीलिये उन्होंने स्वतः प्रामाण्यवाद का समर्थन किया है। वेदान्त आदि और अनेक सम्प्रदायों ने विभिन्न रूप में वेद का अपौरुषेयत्व तथा स्वतः प्रामाण्यवाद ही स्वीकार किया है। स्वतः प्रामाण्यवादी मीमांसक के मत में भ्रमात्मक ज्ञान की उत्पत्ति तथा किसी दोष से होती है और उनका भ्रमत्व निश्चय भी पश्चात् अनुमान आदि प्रमाण से

ही होता है। किन्तु प्रमात्मक ज्ञान का प्रमात्व स्वतः है यानी अतिरिक्त किसी विशेष कारण की अपेक्षा नहीं है तथा उस ज्ञान के प्रमात्व निश्चय में भी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती है। क्योंकि प्रमात्मक ज्ञान की उत्पत्ति उस ज्ञान के बोधक जो सब कारण हैं उनके द्वारा ही उस ज्ञान का प्रमात्व निश्चय होता है। इसी मत का नाम है 'स्वतः प्रामाण्यवाद'।

कैसे यह सम्भव होता है उस विषय में मीमांसक सम्प्रदाय में गुरु प्रभाकर, कुमारिल भट्ट तथा मुरारिमिश्र के विभिन्न मत हैं। प्रभाकर के मत में ज्ञान स्वप्रकाश है। क्योंकि ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता इन तीनों को विषय करके ही ज्ञान उत्पन्न होता है। 'घट—अयं घटः' 'घटमहं जानामि'—इस तरह से ही त्रिपुटी का ज्ञान उत्पन्न होता है। उसमें उस ज्ञान का प्रमात्व भी विषय होने से उसके लिए दूसरे किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है, प्रभाकर के मत में भ्रम (ज्ञान) नहीं होता है।

कुमारिल भट्ट के मतानुसार ज्ञान अतीन्द्रिय है। किन्तु ज्ञान उत्पन्न होने पर उत्पन्न उस ज्ञान के विषय में ज्ञातता नामक एक पदार्थ उत्पन्न होता है और पश्चात् उसी का मानस प्रत्यक्ष होता है। जैसे घट विषयक ज्ञान उत्पन्न होने पर पश्चात् 'ज्ञातो मया घटः' इस तरह से उस घट में रहने वाली का प्रत्यक्ष होता है, पश्चात् 'अहं घटविषयकज्ञानवान् तथाविधज्ञाततावत्त्वात्' इस तरह से उस ज्ञातता हेतु के द्वारा उसके कारण घट विषयक ज्ञान का अनुमान होता है।

गङ्गेश उपाध्याय के प्रामाण्यवाद की रहस्य टीका में मथुरानाथ तर्कवागीश ने भट्ट मत की व्याख्या के प्रसंग में बाद में ज्ञातता में भी ज्ञान को स्वरूप सम्बन्ध विशेष है ऐसा कहकर ज्ञातता हेतुक अनुमान ही दिखाया है।

जो भी हो, कथित कथन यह है कि कुमारिल भट्ट के प्रसिद्ध मत में अतीन्द्रिय ज्ञान का ग्राहक अनुमान प्रमाण के द्वारा ही ज्ञान के साथ-साथ उसका प्रमात्व भी सिद्ध होता है—इसी अर्थ में ज्ञान का प्रमात्व स्वतःग्राह्य है।

किन्तु मुरारि मिश्र ने बाद में ज्ञान के अनुव्यवसाय को ही मानकर उसी के द्वारा ही ज्ञान की तरह उसका प्रमात्व भी सिद्ध होता है—इसका समर्थन किया है। इन सभी मतों की युक्तियाँ सुन्दर नहीं हैं।

परतः प्रामाण्यवादी न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय की व्याख्या यह है कि किसी विषय में किसी को वस्तुतः प्रमाज्ञान होने पर भी जब किसी स्थल में यह ज्ञान प्रमात्मक है या नहीं—इस तरह का सन्देह भी होता है, तब उस प्रमाज्ञान के बोधक कारण के द्वारा ही उसके प्रमात्व का निश्चय होता है, यह कदापि

कहा नहीं जा सकता है। क्योंकि पहले प्रमात्व का निश्चय होने पर उस विषय में संशय नहीं हो सकता है। वैसे स्थल में ज्ञाता पुरुष का कोई दोष प्रतिबन्धक के रूप में रहने से पहले उसके ज्ञान में प्रमात्व का निश्चय नहीं होता है। ऐसा कहने पर किस तरह का दोष उस प्रमात्व निश्चय का प्रतिबन्धक है, यह कहना आवश्यक है तथा दोष रहने से उस दोष से उत्पन्न उसका वह ज्ञान क्यों नहीं भ्रम ही क्यों नहीं होता है, यह भी कहना आवश्यक है, परन्तु ज्ञान के प्रमात्व निश्चय में दोष को प्रतिबन्धक मानने पर उसमें दोष के उस अभाव को भी अतिरिक्त कारण के रूप में मानना ही होगा। क्योंकि कार्यमात्र में ही उसके प्रति प्रतिबन्धक पदार्थ का अभाव भी कारण के रूप में स्वीकरणीय है। तब प्रमाज्ञान के प्रमात्व निश्चय में ज्ञातरिक्त और किसी कारण की अपेक्षा नहीं है अर्थात् प्रमात्व स्वतोग्राह्य है—इस सिद्धान्त की रक्षा नहीं होती है।

इसी तरह से प्रमात्मक ज्ञान की उत्पत्ति में 'गुण' के रूप में किसी अतिरिक्त कारण को नहीं मानने पर भी दोष का अभाव कारण है, यह मानना ही होगा। क्योंकि भ्रम का उत्पादक कोई दोष रहने पर वहाँ भ्रमज्ञान ही होता है, प्रमात्मक ज्ञान नहीं होता है—यह सर्वस्वीकृत सत्य है। अतः प्रमाज्ञान की उत्पत्ति या स्वतः ही प्रमात्व यदि दोषाभावरूप अतिरिक्त कारण होता है, तो उत्पत्ति पक्ष में भी स्वतः प्रामाण्यवाद सिद्धान्त की रक्षा नहीं होती है। इसमें युक्ति नहीं है कि अभाव पदार्थरूप किसी अतिरिक्त कारण से उत्पन्न होने पर भी 'स्वतः प्रामाण्य' की हानि नहीं होती है और यह कहने पर अभाव रूप दोष जन्य जो भ्रमज्ञान है उसमें भी स्वतस्त्व क्यों नहीं माना जाता?

न्यायकुसुमाञ्जलि के द्वितीय स्तबक के आरम्भ में उक्त मत का खण्डन करने के लिये महानैयायिक उदयनाचार्य ने कहा है कि भ्रम का उत्पादक दोष मात्र ही स्वतन्त्र भाव पदार्थ ही नहीं है। क्योंकि विशेष धर्म के दर्शन के अभाव आदि भी दोष हैं अतः उनसे संशयादि भ्रमज्ञान उत्पन्न होता है। भ्रमात्मक ज्ञान की उत्पत्ति में जो विशेष कारण है उसे ही दोष कहा जाता है। अतः किसी अभावात्मक दोष का जो अभाव जब वह वस्तुतः भाव पदार्थ ही है, तब उस दोष के अभाव के अभाव से जिस प्रमाज्ञान की उत्पत्ति होती है वह वस्तुतः भावपदार्थजन्य होने पर भी उसे स्वतः उत्पत्ति क्यों नहीं कहूँगा? उदयनाचार्य ने बाद में मीमांसक सम्प्रदाय की अन्यान्य बातों का उल्लेख करते हुये सूक्ष्म विचार के द्वारा उनका भी खण्डन किया है। बाद में नव्य-नैयायिक गङ्गेश उपाध्याय ने तत्त्वचिन्तामणि के प्रामाण्यवाद ग्रन्थ में नवीन रीति से विस्तारपूर्वक सूक्ष्म विचार किया है। विशेष जिज्ञासु को वह ग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिये।

महर्षि गौतम ने बाद में उनके द्वारा पहले कहे गये प्रत्यक्ष लक्षण की परीक्षा करके पश्चात् प्रत्यक्ष प्रमाण की परीक्षा करते हुए पूर्वपक्ष सूत्र कहा है—'प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः' २।१।३१।

अर्थात् चूँकि वृक्ष आदि द्रव्य की शाखा आदि अवयव रूप किसी एक-देश के दर्शन से उस वृक्ष आदि का ज्ञान होता है, इसलिये वृक्ष आदि का ज्ञान अनुमिति है। इसके उत्तर में गौतम ने कहा है कि वृक्ष आदि की शाखा आदि किसी एकदेश का प्रत्यक्ष मानने पर प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार करना होता है। अन्यथा वह अनुमिति भी नहीं हो सकती। गौतम ने पश्चात् अवयव समष्टि से भिन्न अवयवी द्रव्य का समर्थन करके प्रत्यक्ष का समर्थन किया है। वृक्ष आदि द्रव्य जो परमाणुओं का समूह रूप नहीं है—इसके समर्थन में गौतम ने कहा है कि अवयवी के नहीं रहने से किसी का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रत्येक परमाणु ही अतीन्द्रिय है। अतएव परस्पर संयुक्त परमाणुओं के समूह का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है।

गौतम ने बाद में अनुमान के प्रामाण्य की परीक्षा करते हुए संक्षेप में जो कहा है उसका सारांश यह है कि—

जो जिस अनुमान में प्रकृत हेतु नहीं है उसे हेतु के रूप में ग्रहण करके उसमें अनुमेय धर्म का व्यभिचार प्रदर्शन करने पर उससे प्रकृत अनुमान का अप्रामाण्य सिद्ध नहीं होता है। अनुमान का जो प्रकृत हेतु है, वह कदापि अनुमेय धर्म का व्यभिचारी नहीं होता है। कल्पित कथन यह है कि प्रकृत हेतु से जो अनुमितिरूप ज्ञान उत्पन्न होता है वह यथार्थ निश्चयात्मक ज्ञान है। अतः उस ज्ञान का कारण भूत जो अनुमान प्रमाण है उसका प्रामाण्य अवश्य मानना होगा। केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण कहने वाले चार्वाक ने सभी स्थलों में अनुमान के हेतु अनुमेय धर्म का व्यभिचार संशय समर्थन करके अनुमान का अप्रामाण्य समर्थित किया है। किन्तु अनुमान प्रमाण का अव-लम्बन न करने पर उक्त व्यभिचार संशय का भी समर्थन नहीं किया जा सकता है। क्योंकि सर्वत्र ही अनुमान के हेतु में व्यभिचार या संशय होता है—इसका समर्थन करने के लिए जिस देश काल आदि का ग्रहण करना पड़ता है, वह अप्रत्यक्ष है। और अनुमान प्रमाण असिद्ध होने से प्रत्यक्ष प्रमाण भी सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रिय स्वयं प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं हैं। अनुमान प्रमाण से ही वे सिद्ध होते हैं।

अनुमान प्रमाण को नहीं मानने से चार्वाक गण भी दूसरों को अपना मत नहीं कह सकते हैं। क्योंकि (दूसरे) की आभ्यन्तर जिज्ञासा तथा भ्रम को अपर

व्यक्ति मन के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है, किन्तु उसके वाक्य का श्रवण आदि करके अनुमान करता है—यह चार्वाक को भी मान्य है। सर्वत्र ही दूसरों की अस्ता या भ्रम के विषय में सम्भावनात्मक ज्ञान ही होने से निश्चित रूप में वह कभी कहा नहीं जा सकता। परन्तु यह भी कदापि नहीं कहा जा सकता है कि सर्वत्र अप्रत्यक्ष विषय में सम्भावनात्मक संशय ज्ञान के द्वारा ही जीवों की प्रवृत्ति तथा व्यवहार होते हैं। स्त्री या पुत्र आदि के मर जाने पर उस मृत्यु के अनुमापक अनेक अव्यभिचारी हेतुओं का निश्चय करके अनुमान प्रमाण के द्वारा उस मृत्यु का निश्चय होने पर ही देह के दाह आदि क्रिया में प्रवृत्ति होती है। अनेक स्थलों में भ्रमात्मक निश्चय हो सकता है किन्तु मृत्यु के विषय में किसी तरह के संशय रहने से सर्वत्र उस तरह की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

अनुमान के प्रामाण्य को सन्दिग्ध कहने से उसका अप्रामाण्य भी सन्दिग्ध ही होगा। परन्तु जो सन्दिग्ध है, वह कोई सिद्धान्त हो नहीं सकता अतः अनुमान के अप्रामाण्य को सिद्धान्त कहना हो तो उसके साधक प्रमाण को भी कहना होगा, किन्तु चार्वाक के मत में प्रत्यक्ष को छोड़कर प्रमाण नहीं है, अवश्य तीक्ष्ण बुद्धि वाले चार्वाक ने अनुमान के प्रामाण्य के खण्डन में बाधक के रूप में अनेक बातें कही हैं। किन्तु उदयनाचार्य प्रभृति नैयायिकों ने विचारपूर्वक उसका खण्डन किया है। जैन तथा बौद्ध सम्प्रदाय ने भी चार्वाक मत का खण्डन किया है।

प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद ने कहा है—'शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः'। यह प्रसिद्ध ही है कि वैशेषिक सम्प्रदाय के मतानुसार उपमान शब्द प्रमाण आदि अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत हैं—यही प्रसिद्ध है। किन्तु व्योमशिवाचार्य ने बहुत युक्तियों के द्वारा सिद्ध किया है कि कणाद के मत में शब्द अनुमान से पृथक् प्रमाण है। कणाद प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द ये तीन प्रमाण मानते हैं। अतः प्रशस्तपाद के उक्त वाक्य में—'शब्दादीनाम्' इस पद में अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास मानकर उक्त पद के द्वारा शब्द प्रमाण को छोड़कर उपमान आदि प्रमाण ही समझना चाहिये।[1]

---

१ अनुमान प्रामाण्य के खण्डन में चार्वाक की सब बातें तथा उनके खण्डन के लिए विस्तृत आलोचना मत्सम्पादित न्यायदर्शन के द्वितीय खण्ड पृष्ठ २१६ में देखिये। सर्व सिद्धान्त नाम की ग्रन्थ में वैशेषिक मत में प्रमाण के तीन प्रकार कहे गए हैं किन्तु इस ग्रन्थ को शङ्कराचार्य की रचना नहीं माना

शङ्कराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य ने 'मानसोल्लास' ग्रन्थ में प्रमाण की संख्या के विषय में प्रसिद्ध मत में दिखाते हुए कहा है कि चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। कणाद तथा बौद्ध सम्प्रदाय विशेष प्रत्यक्ष और अनुमान—इन दो प्रमाणों को मानते हैं। सांख्य तथा न्याय का एकदेशी सम्प्रदाय विशेष प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द इन तीन प्रमाणों को मानता है। नैयायिक सम्प्रदाय प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों को मानते हैं। गुरु प्रभाकर पूर्वोक्त प्रमाण चतुष्टय और अर्थापत्ति इन पाँच प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। कुमारिल भट्ट का सम्प्रदाय एवं वेदान्त सम्प्रदाय उक्त पांच प्रमाण तथा "अभाव" यानी अनुपलब्धि इन छः प्रमाणों को मानते हैं। पौराणिक गण उक्त छः प्रमाण तथा सम्भव और ऐतिह्य इन आठ प्रमाणों को मानते हैं। वरद राजा ने भी 'तार्किक रक्षा' ग्रन्थ में सुरेश्वराचार्य के उन सब प्रसिद्ध श्लोकों को उद्धृत किया है—यही समझा जाता है।

जो भी हो अब यही पहले समझना है कि महर्षि गौतम ने उपमान नाम का पृथक् प्रमाण क्यों स्वीकार किया है? पूर्वपक्ष यह है कि उपमान भी अनुमान के अन्तर्गत है।

महर्षि गौतम ने बाद में स्वयं ही उक्त पूर्वपक्ष का समर्थन करके उसके खण्डन के लिए कहा है।

'तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नो विशेषः' २।१।४८। तात्पर्य यह है कि पहले 'यथा गौस्तथा गवयः' ऐसे वाक्य के श्रवण के बिना बाद में गवय को देखने पर भी नगरवासी का उसमें गवयशब्द वाच्यत्व का निर्णय नहीं होता है। किन्तु उस प्रकार के वाक्य के सुनने के बाद गवय को देखने पर उसमें यह मेरा पूर्वदृष्ट गौ के सदृश है—इस तरह से उस गवय पशु में गौ के सादृश्य के प्रत्यक्ष से पूर्वश्रुतवाक्यार्थ का स्मरण होने पर गवयत्व विशिष्ट पशुमात्र गवय

जा सकता है। शङ्कराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य ने भी कणाद के मत में प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों प्रमाणों को ही कहा है। किन्तु महर्षि कणाद ने अनुमान के निरूपण के बाद ही कहा है—'एतेन शाब्दं व्याख्यातम्' ६।२।३। कणाद के उक्त सूत्र से तथा प्रशस्तपाद की अन्य उक्तियों से स्पष्ट ही जान पड़ता है कि कणाद के मत में शब्दज्ञान भी अनुमिति विशेष है। अतः उनके मत में अनुमान रूप में ही शब्द का प्रामाण्य है। वह (शब्द) स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। किन्तु व्योमशिव आचार्य ने कणाद की उक्त सूत्र की कोई व्याख्या नहीं की है। (व्योमवती) चौखम्बा संस्करण, पृ० ५७७ से ५८१ तक द्रष्टव्य है।

शब्द का वाच्य है। इस तरह का ज्ञान होता है। उक्त स्थल में उक्त रूप बोध ही उपमिति है। अनुमिति में उसका भेद है। क्योंकि उक्त रूप सादृश्य का प्रत्यक्ष किसी अनुमिति का कारण नहीं है। परन्तु किसी हेतु में पहले अनुमेय धर्म की व्याप्ति निश्चय के बिना अनुमिति हो नहीं सकती। परन्तु उक्त स्थल में गवय शब्द के वाच्यत्व के अनुमान में कोई हेतु नहीं है।

अवश्य वैशेषिक सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्यों ने गवय शब्द के शक्ति निर्णय के लिए नाना प्रकार का अनुमान प्रयोग किया है। किन्तु इस विषय में नैयायिक का कहना है कि गवय शब्द का किसी अर्थ विशेष में शक्ति है—केवल इतना ही अनुमान प्रमाण से जाना जा सकता है। किन्तु गवयत्वरूप से गवयपशु में जो शक्ति अर्थात् गवयत्वावच्छिन्न में जो शक्ति है वह अनुमान प्रमाण से ज्ञात नहीं हो सकता है।

क्योंकि पहले किसी दृष्टान्त में किसी हेतु में गवयत्व विशिष्ट में गवय शब्द की शक्ति के व्याप्ति-निश्चय के बिना वह समझा नहीं जाता। परन्तु दृष्टान्त के अभाव में उस तरह का व्याप्तिनिश्चय सम्भव नहीं होता। इसलिये उक्तरूप शक्ति निर्णयका साधन उपमान नाम का प्रमाण मानना चाहिए।

अवश्य वैशेषिक संप्रदाय के उक्त मत के समर्थन में भी बहुत सी बातें हैं। नैयायिक सम्प्रदाय का अन्तिम वक्तव्य यह है कि सादृश्य के प्रत्यक्ष आदि से उक्त रूप से गवय शब्द के वाच्यत्व के ज्ञान के बाद उस बोद्धा का "मैने गवयत्व विशिष्ट पशु में गवय शब्द के वाच्यत्व की अनुमिति की" इस तरह से उस ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष नहीं होता है। किन्तु उपमिति की इस रूप से ही उस ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष होता है। अतः उपमिति करनेवाले यह नहीं कहते हैं—"मैने अनुमान के द्वारा यह समझा है।" अतः उसका उस प्रकार का ज्ञान अनुमिति से भिन्न उपमिति है।

महर्षि गोतम ने चौथे शब्द प्रमाण की परीक्षा करते हुए भी बहुत सी बातें कही हैं।

शब्द प्रमाण भी अनुमान के अन्तर्गत है अर्थात् शाब्दज्ञान भी शब्दमूलक अनुमिति विशेष है—इस पूर्वपक्ष का समर्थन करके उसके खण्डन के लिए गोतम ने कहा है—'आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसंप्रत्ययः' २।१।५२।

अर्थात् वाक्यविशेष रूप शब्दविशेष से अर्थविशेष का जो सम्प्रत्यय होता है यानी वाक्यार्थबोधरूप जो शाब्दबोध होता है वह आप्तवाक्य के सामर्थ्य से होता है। अभिप्राय यह है कि किसी आप्तवाक्य से जो यथार्थ बोध होता है वह किसी हेतु में उस वाक्यार्थ के व्याप्तिज्ञान से नहीं होता है। अतः जैसे

धूम हेतु से वह्नि की अनुमिति होती है वैसे किसी हेतु से वाक्यार्थ की अनुमिति नहीं होती है।

इसलिए वाक्यार्थ बोध के बाद बोद्धा व्यक्ति को—मैंने इस वाक्यार्थ की अनुमिति की है—इस तरह से उस बोध का मानस प्रत्यक्ष नहीं होता है, किन्तु मैंने शाब्दबोध किया है—इस तरह से ही उस बोध का मानस प्रत्यक्ष (अनुव्यवसाय) होता है। महर्षि गौतम ने बाद में कहा है कि शब्द तथा अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है अतएव शब्द से उसके अर्थ की अनुमिति नहीं हो सकती क्योंकि स्वाभाविक सम्बन्ध रूप व्याप्ति से विशिष्ट हेतु से ही अनुमिति होती है।

शब्द तथा अर्थ के स्वाभाविक सम्बन्ध का खण्डन करके गौतम ने अपना सिद्धान्त कहा है कि अर्थविशेष में शब्दविशेष के सङ्केत से ही उस शब्द से उस अर्थविशेष का बोध होता है। वह बोध शब्द तथा अर्थ के स्वाभाविक सम्बन्ध प्रयुक्त नहीं है। महर्षि कणाद का भी यही सिद्धान्त है। परन्तु किस तरह के हेतु से कैसे अनुमान के द्वारा वाक्यार्थबोध रूप शाब्दबोध होता है—यह कणाद तथा प्रशस्तपाद ने भी नहीं कहा है। परवर्ती अनेक वैशेषिक आचार्यों ने शाब्दबोध के स्थल में नाना प्रकार से अनुमानों का प्रदर्शन किया है। किन्तु न्यायकुसुमाञ्जलि तृतीय स्तबक में उदयनाचार्य ने सूक्ष्म विचार करते हुए सिद्ध किया है कि उपमान प्रमाण तथा शब्द प्रमाण अनुमान से भिन्न प्रमाण हैं। बाद में गङ्गेश उपाध्याय प्रभृति नवीन नैयायिकों ने विशेष विचारपूर्वक वैशेषिक मत का खण्डन किया है। संक्षेप में उन सब बातों का कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

न्यायदर्शन के द्वितीय अध्याय के द्वितीय आह्निक के प्रारम्भ में महर्षि गौतम ने—'न चतुष्ट्वम्' इत्यादि सूत्र के द्वारा पूर्वपक्ष का प्रकाश किया है कि 'ऐतिह्य' 'अर्थापत्ति' 'संभव' और 'अभाव' नाम के और चार प्रमाणों के रहते हुए प्रमाण चार प्रकार के नहीं हैं। इस पूर्वपक्ष का खण्डन करने के लिये गौतम ने बाद में कहा है कि 'ऐतिह्य' शब्द प्रमाण में अन्तर्भूत है तथा 'अर्थापत्ति', 'सम्भव' तथा 'अभाव' अनुमान में अन्तर्भूत हैं। अतएव प्रमाण चार ही प्रकार के हैं।[1]

---

१ गौतम ने पहले ही कहा है—'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' १।१।३। बाद में उक्त प्रकार पूर्वपक्ष का प्रकाश कर के उसका खण्डन करके भी अपने मत में प्रमाण का चतुर्विधत्व स्पष्टरूप से व्यक्त किया है।

जिस वाक्य के वक्ता का निर्देश नहीं है—इस तरह के परम्परागत प्रवाद वाक्य "ऐतिह्य" नाम से कहा जाता है। गौतम के मत में प्रवाद मात्र ही प्रमाण नहीं हो सकता। जिस तरह का प्रवाद प्रमाण के रूप से माना जाता है वह शब्द प्रमाण रूप से ही ग्रहण करने योग्य है। शङ्कराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य ने कहा है—'सम्भवैतिह्ययुतानि तानि पौराणिका जगुः' (मानसोल्लास द्वितीय अध्याय २०वाँ श्लोक)।

पौराणिकों के मत में सम्भवनामक प्रमाण अनुमान से भिन्न है। जैसे किसी के पास हजार रुपये हैं—यह जानने पर उसके पास सौ रुपये हैं यह समझा जाता है। किन्तु उस बोध में किसी हेतु की, तथा उसमें व्याप्ति ज्ञान आदि की अपेक्षा नहीं होती। अतएव उस तरह का निश्चयात्मक बोध अनुमान प्रमाणजन्य नहीं है किन्तु भिन्न प्रमाण से यह ज्ञान उत्पन्न होता है। उस प्रमाण का नाम 'सम्भव' है। परन्तु महर्षि गौतम ने उसको भी अनुमान प्रमाण ही कहा है। अन्यान्य मत में भी वह अनुमान में अन्तर्भुक्त है क्योंकि सौ के नहीं रहने से हजार से अधिक का रहना असम्भव है। अतएव यदि हजार रुपये हैं तो सौ रुपये जरूर रहते हैं—इस तरह के व्याप्ति निश्चय से उत्पन्न संस्कार से ही तब उस व्याप्ति का स्मरण होने पर उससे उक्त रूप ज्ञान उत्पन्न होता है। परन्तु जिसका उस प्रकार की व्याप्ति के बारे में कोई संस्कार नहीं है उसको उस तरह का ज्ञान नहीं होता है। अतः उस तरह का निश्चयात्मक यथार्थ ज्ञान अनुमान प्रमाण जन्य है—यही मानना है।

मीमांसक सम्प्रदाय ने अर्थापत्ति नामक पाँचवाँ प्रमाण माना है। अर्थस्य आपत्तिः कल्पना इस अर्थ में[१] अर्थापत्ति शब्द से अर्थापत्ति नामक कल्पनात्मक प्रमाण समझना है। और अर्थस्य आपत्तिः कल्पना यस्मात् इस अर्थ में बहुव्रीहि समास के आधार पर उस कल्पना का साधन अर्थापत्ति नामक प्रमाण समझना

---

१. तथापि प्रमाणत्रयवादी भासर्वज्ञ ने "न्यायसार" ग्रन्थ में स्वमत समर्थन के लिए गौतम का भी तात्पर्य कल्पना की है कि गौतम के मत में भी उपमान प्रमाण शब्द प्रमाण में अन्तर्भूत है। अतः उन्होंने उपमान प्रमाण अनुमान के अन्तर्गत है—इस मत का ही खण्डन किया है। किन्तु वह शब्द प्रमाण नहीं है—यह उन्होंने नहीं कहा है। भासर्वज्ञ की यह कल्पना अन्य किसी भी सम्प्रदाय ने ग्रहण नहीं की है। इसी से भासर्वज्ञ का सम्मत प्रमाणत्रयवाद नैयायिक मत के रूप में ग्रहण नहीं हुआ। किन्तु वह न्यायैकदेशी मत के रूप से कहा गया है। 'मानसोल्लास' ग्रन्थ में सुरेश्वराचार्य ने भी कहा है—'न्यायैकदेशिनोऽप्येवम्'।

है। दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति नाम से सामान्यत अर्थापत्ति दो प्रकार की है। श्रुतार्थापत्ति भी दो प्रकार की है। वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजने भी इसकी व्याख्या तथा उदाहरण दिखाये हैं। श्रुतार्थापत्ति का प्रसिद्ध उदाहरण का प्रकाश करते हुए उन्होंने बाद में कहा है—'यथा वा जीवो देवदत्त गृहे नेति वाक्यश्रवणानन्तर जीविनो गृहासत्त्व बहि सत्त्व कल्पयतीति। तात्पर्य यह है कि देवदत्त नामका कोई व्यक्ति जीवित है—यह जिसको निश्चित है वे किसी आप्त व्यक्ति से—'देवदत्त घर में नहीं है'—इस वाक्य को सुनने पर पश्चात् उस देवदत्त का बहि सत्त्व की कल्पना करते हैं। क्योंकि जीवित व्यक्ति की जो गृह में असत्ता है वह उसकी बहि सत्त्व के बिना उत्पन्न नहीं होती है। अतएव उसका बहि सत्त्व ही गृह में असत्त्व का उपपादक है और गृह में असत्त्व ही उपपाद्य है। वह उपपाद्य ज्ञान ही उपपादक की कल्पना का कारण है। बहुतों के मत से अनुपपत्तिका ज्ञान ही उस कल्पना का कारण है।

जो भी हो, फलित कथन यह है कि उक्तमत मे पूर्वोक्त स्थल में किसी हेतु में बहि सत्त्व का व्याप्ति निश्चय सम्भव नहीं है। व्यतिरेक व्याप्ति का निश्चय अनुमान का कारण नहीं है। अनुमान मात्र ही अन्वयी है। अत अर्थापत्ति के स्थल में अनुमान सभव नहीं होने से अर्थापत्ति नाम का पृथक् प्रमाण ही स्वीकरणीय है।

मीमासक सम्प्रदाय क परवर्ती आचार्यों ने इसका समर्थन करने के लिये बहुत स सूक्ष्म विचार किए हैं। पश्चात् नव्यनैयायिक रघुनाथ शिरोमणि न भी अपन मत क अनुसार विचार करके अनुमान मात्र को अन्वयी मानकर *अर्थापत्ति का पृथक् प्रामाण्य ही समर्थन किया है।*

किन्तु महर्षि गौतम ने अर्थापत्ति प्रमाण को भी अनुमान में अन्तर्भूत कहा है। उसके अनुसार उदयनाचार्यप्रभृति नैयायिकों ने विशेष विचार करक अर्थापत्ति के पृथक् प्रामाण्य का खण्डन किया है। बाहुल्य क डर से उनकी सभी बातों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं है। सक्षेप में कहना यह है कि पूर्वोक्त स्थल में जीवित व्यक्ति का जो गृह में असत्त्व है उसमें बहि सत्त्व के व्याप्ति निश्चय से ही उस देवदत्त में बहि सत्त्व की कल्पना रूप अनुमिति ही होती है। जीवित जिन सब व्यक्तियों की गृह में असत्ता नहीं है अर्थात् गृह में सत्ता है उन सब लोगों की गृह में असत्ता नहीं है ऐसा व्यतिरेक व्याप्ति का निश्चय निज देहरूप दृष्टान्त में ही सम्भव होता है।

परन्तु अन्वयव्याप्ति के निश्चय स भी उस देवदत्त में बहि सत्त्व की अनुमिति हो सकती है। क्योंकि जीवित जिन सब व्यक्तियों में गृह में असत्ता रहता है उन सब व्यक्तियों में बहि सत्त्व ही रहता है, जैसे विदेशस्थ मर शरीर

है—ऐसे निज शरीररूप दृष्टान्त में ही—उक्तरूप अन्वयव्याप्ति का निश्चय भी सम्भव है।

वैशेषिक दर्शन के "उपस्कार" में (९।२।५) शङ्कर मिश्र ने भी पहले उक्तरूप अन्वयव्याप्ति ही दिखायी है। फलित कथन यह है कि इस मत में पूर्वोक्त रूप किसी व्याप्तिनिश्चय से उत्पन्न संस्कार जिसका नहीं है उसको उस देवदत्त में बहि सत्त्व का ज्ञान नहीं होता है तथा उसको पूर्वोक्त रूप अनुपपत्ति का ज्ञान भी नहीं हो सकता। अतः पूर्वोक्त स्थल में—'देवदत्तो बहिरस्ति जीवित्वे सति गेहेऽसत्त्वात्'—इस तरह से अनुमान प्रमाण के द्वारा ही उस देवदत्त में बहिःसत्त्व सिद्ध होता है।

महर्षि गौतम ने बाद में जो "अभाव" नाम के प्रमाण को अनुमान में अन्तर्गत कहा है वह षट्प्रमाणवादी कुमारिल भट्ट के द्वारा समर्थित "अभाव" नाम का षष्ठ प्रमाण नहीं है। भाष्यकार वात्स्यायन ने उसका उदाहरण दिखाया है कि बादल से पानी नहीं बरसने पर समझा जाता है कि उस बादल के साथ हवा का विलक्षण संयोग हुआ है। अर्थात् उस जलवर्षण का अभाव ज्ञात होने पर उस अभावरूप प्रमाण से ही हवा तथा बादल का विलक्षण संयोग सिद्ध होता है। तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने उक्त स्थल में उस जलवर्षण के अभाव के ज्ञान को ही "अभाव" नाम का प्रमाण कहा है। किन्तु वह किस सम्प्रदाय का मत था यह उन्होंने भी वहाँ नहीं कहा है। जो भी हो उक्त "अभाव" को प्रमाण कहने वालों का यही अभिप्राय समझा जाता है कि अभाव पदार्थ में रहनेवाली व्याप्ति अनुमान का अंग नहीं होती है। अतः कोई अभाव पदार्थ अनुमान का हेतु नहीं होता है। अतः उक्त स्थल में जलवर्षण के अभाव के द्वारा अनुमिति सम्भव नहीं होने पर अभाव नाम का अतिरिक्त प्रमाण ही मानना चाहिए।

किन्तु महर्षि गौतम के मत में अभाव पदार्थ भी अनुमान का हेतु होता है। इसमें युक्ति यही है कि अभाव पदार्थ में जो व्याप्ति रहती है वह अनुमान का अंग नहीं है। परन्तु किसी कार्य के अभाव रूप हेतु के द्वारा उसके कारण के अभाव का यथार्थ अनुमान ही होता है। अतः तुल्य युक्ति से मेघजन्य जलवर्षण रूप कार्य के अभाव रूप हेतु से उस जलवर्षण का प्रतिबन्धक बादल तथा हवा का संयोग भी अनुमान प्रमाण से सिद्ध होने पर अभाव नाम का पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक नहीं है।

वैशेषिक दर्शन में महर्षि कणाद ने भी—'विरोध्यभूतं भूतस्य' (९।२।११) इस सूत्र के द्वारा उक्त रूप स्थल में चौथे प्रकार का अनुमान ही कहा है।

परन्तु महर्षि कणाद पहले किसी कारण से द्रव्यादि छुओं प्रकार के भाव-पदार्थों का ही उपदेश करने पर भी बाद में नवम अध्याय के प्रथम आह्निक में भावपदार्थ से भिन्न अभाव पदार्थ भी जो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता है—यह कहा है। न्याय दर्शन में (२।२।८) बाद में महर्षि गौतम ने भी अभावपदार्थ के प्रत्यक्ष सिद्धत्व का समर्थन किया है। अतः उसमें अभाव पदार्थ का बोधक किसी अतिरिक्त प्रमाण का स्वीकार करना अनावश्यक है—यह भी सूचित हुआ है।

परन्तु कुमारिल भट्ट की युक्तियों को स्वीकार करके अद्वैतवादी वेदान्ती सम्प्रदाय ने भी अभाव पदार्थ का बोधक स्वीकार करके अनुपलब्धि नाम का छठा प्रमाण माना है। इस मत में जिस आधार में कोई अभाव रहता है उस आधार के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उस (आधार) का ही प्रत्यक्ष हो सकता है किन्तु अभाव के साथ वह इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। जैसे गौ से शून्य गृह के साथ चक्षु इन्द्रिय के सन्निकर्ष के बाद में उस गृह का प्रत्यक्ष होने पर भी उससे उस गृह में गौ के अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता है। परन्तु उसमें गौ की अनुपलब्धि से गाय के अभाव का पृथक् ज्ञान होता है। उक्त स्थान में गाय की अनुपलब्धि ही उस अभाव के ज्ञान का कारण है। अतः वह अनुपलब्धि ही उसके बारे में प्रमाण है।

परन्तु न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय की पहली बात यह है कि उक्त स्थल में गौ के अभाव विषयक ज्ञान भी जो प्रत्यक्षात्मक है—यह अनुभवसिद्ध है क्योंकि उस बोध के बाद मैंने यहाँ गौ के अभाव को देखा है—इस तरह से ही उस बोध का मानस प्रत्यक्ष (अनुव्यवसाय) होता है। इसी तरह से मनुष्य आदि के अभाव का प्रत्यक्ष भी मनोमात्र है। अतः कोई व्यक्तिविशेष के आह्वान से नियुक्त होकर स्थानविशेष में उनको नहीं देखने पर वे वहाँ उनके अभाव का समर्थन करने के लिए कहते हैं—मैं आँखों देखकर आया हूँ कि वे वहाँ नहीं हैं। अतः अभाव विशेष के प्रत्यक्ष के लिए उस अभाव के साथ भी इन्द्रिय के सन्निकर्ष विशेष स्वीकार करना है। अभाव के आधार के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर ही उस अभाव के साथ भी सन्निकर्ष कहा जाता है। उसका बाधक कोई युक्ति नहीं है (पृष्ठ १८२ देखिए)।

वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराज ने भी बाद में अपने सिद्धान्त के अनुसार अभाव विषयक ज्ञान का प्रत्यक्षत्व स्वीकार करके कहा है—"अयममभावप्रतीतेः प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्यानुपलब्धेर्मानान्तरत्वात्।" किन्तु प्रत्यक्ष प्रमा का

करण होने पर भी वह प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है किन्तु पृथक् प्रमाण है—यह सिद्धान्त बहुविवादग्रस्त है। परन्तु प्रत्यक्ष के अयोग्य पदार्थ की अनुपलब्धि से उसके अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः जिस पदार्थ की प्रत्यक्षात्मक उपलब्धि सम्भव है, उस पदार्थ की जो अनुपलब्धि है वही उसके अभाव के प्रत्यक्ष में कारण होता है—यही मानना है। अर्थात् जिस अनुपलब्धि का प्रतियोगी उपलब्धि की आपत्ति होती है वह योग्यतानुपलब्धि ही अभाव के प्रत्यक्ष में विशेष कारण है, किन्तु उस अनुपलब्धि का कोई व्यापार न रहने से वह प्रत्यक्ष या तज्जन्य पृथक् ज्ञान के प्रति करण नहीं हो सकता है। अर्थात् 'व्यापारवत् कारणं करणम्' इस मत में अनुपलब्धि का करणत्व नहीं सम्भव हो सकता और अनेक युक्तियों के द्वारा न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय ने अनुपलब्धि का प्रमाणत्व का खण्डन किया है। न्यायकुसुमाञ्जलि के तृतीय स्तबक के अन्त में उदयनाचार्य ने भी विशेष विचार के द्वारा नैयायिक सिद्धान्त का समर्थन किया है। विशेष जिज्ञासु उसका अध्ययन करें। विस्तार के भय से इस विषय में अधिक लिखना सम्भव नहीं है।

तेरहवाँ अध्याय

(न्यायदर्शन में वेद की प्रामाण्य-परीक्षा)

वेद की प्रामाण्य-परीक्षा करते हुए महर्षि गौतम ने पहले नास्तिकमत के अनुसार पूर्वपक्ष सूत्र कहा है—'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' २।१।५७। उक्त सूत्र के आदि में 'तत्' शब्द से वेद ही गृहीत हुआ है। तस्य वेदस्य अप्रामाण्यम्—तदप्रामाण्यम्। अर्थात् वेद के विरोध नास्तिक का मत यह है कि वेद का प्रामाण्य नहीं है, वेद प्रमाण नहीं हो सकता है—चूँकि वेद में 'अनृत' यानी मिथ्यात्व 'व्याघात' तथा 'पुनरुक्त' दोष है। भाष्यकार वात्स्यायन ने नास्तिक की बात के अनुसार पहले अनृत दोष का उदाहरण कहा है कि वेद में है 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' पुत्र चाहने वालों को पुत्रेष्टियाग करना चाहिए। अर्थात् पुत्रेष्टि याग करने से पुत्र का जन्म होता है। किंतु कितने स्थानों में कितने व्यक्तियों ने पुत्रेष्टि याग करके भी पुत्रलाभ नहीं किया है। इसी तरह से वेद में है—'कारीरी' नामक यज्ञ करने से वृष्टि होती है। किंतु अनेक स्थानों में कारीरी याग करने पर भी वृष्टि नहीं हुई है। तात्पर्य यह है कि वेद में कहा गया पुत्रेष्टि तथा कारीरी आदि यज्ञ के फल हों तो इसी जन्म में वह प्रत्यक्ष होगा अतएव वे सब वेदवाक्य दृष्टार्थ हैं। परन्तु जब वे दृष्टार्थ वेद-वाक्य ही मिथ्या सिद्ध होते हैं तो उस दृष्टान्त से अन्यान्य सभी वेदवाक्य भी मिथ्या सिद्ध होते हैं। क्योंकि जिसके बहुत से दृष्टार्थ वाक्य भी मिथ्या हैं, वे साधारण मनुष्य की तरह भ्रांत तथा वञ्चक हैं, अतः अनाप्त हैं—इस विषय में संशय नहीं है। अतः उस तरह के व्यक्ति का कोई भी वाक्य प्रमाण नहीं हो सकता।

पूर्वपक्षवादी का दूसरा हेतु 'व्याघातदोष' है। परस्पर विरोध को व्याघात कहा जाता है। न्याय भाष्यकार ने इसका उदाहरण दिया है कि वेद में कहा गया है—'उदिते होतव्यम्, अनुदिते होतव्यम्, समयाध्युषिते होतव्यम्'। सूर्योदय के बाद का समय उदित काल है। सूर्योदय से पहले अरुणकिरण तथा अल्प नक्षत्र से विशिष्ट काल का नाम अनुदित काल है। सूर्य तथा नक्षत्रों के अभाव से विशिष्ट समय का नाम समयाध्युषित काल है। परन्तु वेद में इन तीनों कालों में होम का विधान करके पश्चात् अन्य वाक्यों के द्वारा उक्त तीनों समयों में उस होम की निंदा की गई है। उस निंदा से यही समझा

जाता है कि उक्त तीनों कालों में होम नहीं करना चाहिए। इसलिए उस स्थल में पहले कहा गया विधिवाक्य तथा बाद में कहा गया निन्दार्थवाद परस्पर विरुद्ध हैं। अत: उक्तरूप "व्याघात" या विरोध के कारण पूर्वोक्त सभी वेद-वाक्य अप्रमाण हैं और उस दृष्टान्त से अन्यान्य वेद सभी वेदवाक्य भी अप्रमाण सिद्ध होते हैं।

तीसरा कारण "पुनरुक्त" दोष है। न्यायभाष्यकार ने इसका उदाहरण प्रकाशित किया है कि वेद में है—त्रिःप्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम् (शतपथ ब्रा० १।३।५)। उक्त वाक्य से यह कहा गया है कि एकादश सामिधेनी के बीच पहली ऋचा तथा उत्तमा ऋचा को तीन बार पढ़ना चाहिये। जिस मन्त्र से आग प्रज्वलित की जावेगी उसका नाम सामिधेनी ऋक् है। वेद में (तैत्तिरीय ब्रा० में) एगारह सामिधेनी कही गयी हैं तथा उनकी पृथक् पृथक् संज्ञा भी है। उनमें 'प्रवोवाजा' इत्यादि ऋचा पहली है तथा उसका नाम प्रथमा है। और सबसे अन्त में—'आजुह्वाता दुवस्यत' इत्यादि ऋचा का नाम उत्तमा है। वेद के (शतपथ ब्राह्मण आदि में) उन एगारह ऋचाओं में से प्रथम को तीन बार और शेषोक्त उत्तमा को तीन बार पाठ करना होगा—यह कहा गया है किन्तु जिस अर्थ को प्रकाशित करने के लिए जो वाक्य कहना है, वह तो एक बार कहने से ही उसकी फलसिद्धि होने से फिर से वह कहने पर पुनरुक्त दोष होता है। अत: पूर्वोक्त एक ही मन्त्र को तीन बार पाठ करने से पुनरुक्त दोष अवश्य ही होगा। अतएव पूर्वोक्त स्थल में उक्तरूप पुनरुक्त दोष के कारण वेद अप्रमाण है। यद्यपि समस्त वेद में इस तरह से पुनरुक्त दोष नहीं है तथापि जिस अंश में वह दोष है उस दृष्टान्त से वेद का अन्य सकल अंश भी अप्रमाण है—यह सिद्ध होता है। क्योंकि जो वक्ता उस तरह का पुनरुक्त दोष भी नहीं समझते हैं वे अज्ञ या भ्रान्त हैं। इसलिए उस वक्ता के किसी वाक्य को ही आप्तवाक्य के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

महर्षि गौतम ने उपर्युक्त पूर्वपक्षों के खण्डन करने के लिये पश्चात् निम्न-लिखित तीन सूत्रों को कहा है—

'न, कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्' ॥२।१।५८॥
'अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्' ॥२।१।५९॥
'अनुवादोपपत्तेश्च' ॥२।१।६०॥

प्रथम सूत्र के द्वारा कहते हैं कि पुत्रेष्टि प्रभृति याग के विधायक वेदवाक्य में असत्य दोष नहीं है। क्योंकि कर्म, कर्ता, उस कर्म के साधन उपकरण के वैगुण्य से भी फल का अभाव होता है। तात्पर्य यह है कि वेदविहित पुत्रेष्टि

आदि याग यथाविधि अनुष्ठित नहीं होने से वह उसके फल-जनक अदृष्ट विशेष को उत्पन्न नहीं करता। पुत्रेष्टि आदि याग में अवश्य कर्तव्य अङ्गयाग आदि के अनुष्ठान का अभाव कर्मवैगुण्य है एव इन यागों का कर्ता अविद्वान् होने से या पातित्य आदि किसी दोष से वह इस कर्म के अनधिकारी-होने से कर्त्ता का दोष कर्तृवैगुण्य है तथा—उन सब यागों का साधन द्रव्य आदि या मन्त्र या दक्षिणा आदि का कोई दोष होने पर वह "साधनवैगुण्य" है। पूर्वोक्त कर्म-वैगुण्य कर्तृवैगुण्य तथा साधनवैगुण्य अथवा उनमें किसी प्रकार के वैगुण्य से समूचे याग ही निष्फल होते हैं। अत किसी स्थल में पुत्रेष्टि याग का फल न होने से उससे पूर्वोक्त वेदवाक्य का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता।

परन्तु बहुत स्थलों में पुत्रेष्टि याग का अनुष्ठान करके बहुत व्यक्तियों ने पुत्रलाभ किया है। और कारीरी याग के बाद ही बहुत स्थलों में वर्षा हुई है—इसे मिथ्या कहने में कोई प्रमाण नहीं है[1]।

वेद में पूर्वोक्त व्याघात दोष भी नहीं है। इसी को समझाने के लिए गौतम ने द्वितीय सूत्र कहा है—'अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्'। अर्थात् वेद में उदित, अनुदित तथा समयाऽध्युषित नाम के तीनों कालों में होम के विधिवाक्य के अन्त में कहे गये उन सब निन्दार्थवाद का तात्पर्य यह है कि जिन्होंने उदित काल में ही होम करने का सङ्कल्प किया है वह (अग्निहोत्री) उस पूर्वस्वीकृत काल को छोड़कर 'अनुदित' या "समयाऽध्युषित" नामक काल में होम करने से वह निन्दित है। इसी तरह से "अनुदित" या 'समयाऽध्यु-

---

१ वेदविरोधी बौद्ध सम्प्रदाय गौतम के इस उत्तर का प्रतिवाद करता है कि पुत्रेष्टि यज्ञ की निष्फलता कर्मादियों में वैगुण्य होने से होती है। इसमें कुछ प्रमाण नहीं है। यह भी तो कहा जा सकता है कि उस वेदवाक्य के मिथ्या होने से वह (यज्ञ) निष्फल होता है। यदि किसी को यज्ञ करने से पुत्र का जन्म होता है तो उसको पुत्रेष्टि याग का ही फल नहीं कह सकते हैं। तत्काल में बौद्ध सम्प्रदाय के प्रबल विरोधी उद्योतकर न्यायवार्तिक में कहते हैं कि मेरा यहाँ यही कहना है कि जब कर्मादि वैगुण्य से भी यज्ञ का निष्फलता हो सकती है तब उससे सर्वथा मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। पहले उसे मिथ्या कहकर भी पश्चात् हम लोगों से बाध्य होकर यदि इसमें (हम लोगों के मत में) सन्देह भी उपस्थित करते हो तो भी वेदवाक्य का अप्रामाण्य सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि यह तो बौद्धों को मान्य है कि जो सन्दिग्ध है उसे प्रकृत हेतु न मानकर हेत्वाभास ही कहा जाता है।

षित" नामक काल में होम का सकल्प करके भिन्न काल में होम करने से वह होम भी निन्दित है। अर्थात् अग्निहोत्री पहले उनके द्वारा गृहीत कालविशेष में ही जीवन भर होम करेंगे। कभी भी दूसरे समय में होम करने से वह सिद्ध नहीं होगा।

वस्तुत. वेद में "उदिते होतव्यम्", "अनुदिते होतव्यम्" तथा 'समयाध्युषिते होतव्यम्" इन तीन विधिवाक्यों से कल्पत्रय में अग्निहोत्र होम के लिए उक्त कालत्रय का विधान हुआ है। सभी अग्निहोत्री उक्त कालत्रय में ही हवन करें—यह अर्थ नहीं है। अपितु उन सब विधिवाक्य का उनसे विकल्प ही अभिप्रेत है। अर्थात् उक्त तीनों कालों में से आत्मा की तुष्टि के अनुसार जिनकी जिस काल में होम करने की इच्छा हो वे उस काल में ही होम करेंगे। जहाँ दो तरह की श्रुतियाँ हैं अर्थात् श्रुति के द्वारा दो तरह के धर्म ही विहित हुए हैं वहाँ वे दोनों ही धर्म हैं, ऐसा कहकर भगवान् मनु ने भी पूर्वोक्त "उदित" आदि कालत्रय के होम को इसके उदाहरण के रूप में दिखाया है। तुल्यवल संहिताकार महर्षि गौतम ने स्पष्ट कहा है—'तुल्यबलविरोधे विकल्पः' अर्थात् अनेक विधिवाक्यों में विरोध उपस्थित होने से विकल्प ही अभिप्रेत है—यह समझना चाहिए। अतः विरोध नहीं रहने से उन सब विधिवाक्यों का अप्रामाण्य नहीं हो सकता। जैसे वेद में विधिवाक्य है—'व्रीहिभिर्वा यजेत, यवैर्वा यजेत' अर्थात् व्रीहि के द्वारा यज्ञ करना या यव के द्वारा यज्ञ करना। व्रीहि के द्वारा किया हुआ याग या यव के द्वारा किया हुआ याग—दोनों का ही फल बराबर है। अत. आत्मतुष्टि के अनुसार जिनकी जिस कल्प की इच्छा होती हो वे उसी कल्प को ग्रहण करें। किन्तु सर्वत्र ही आत्मतुष्टि से धर्म का निर्णय करना नहीं चाहिए। जहाँ पर श्रुति, स्मृति और सदाचार से दो प्रकार के या अनेक प्रकार के धर्म समझे जाते हैं वैसे स्थल में ही मनु ने कहा है—[१]

'आत्मनस्तुष्टिरेव च'। (मनु० २।६।)

वेद में पूर्वोक्त पुनरुक्त दोष भी नहीं है। इसके समझाने के लिए गौतम ने बाद में तीसरा सूत्र कहा है' अनुवादोपपत्तेश्च' अर्थात् वेद में—'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' इस तरह के वाक्य रहने पर भी उससे पुनरुक्त दोष नहीं होता है। क्योंकि वह अनुवाद है। अनर्थक पुनरुक्त ही पुनरुक्त दोष है और

१—श्रुतिद्वैधन्तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः॥
उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥ (मनुसंहिता २-१४-१५)

सार्थक पुनरुक्ति का नाम अनुवाद है। इदमह भ्रातृव्यम् पञ्चदशावरेण वाग्वज्रेण' इत्यादि मन्त्र का उद्धरण देते हुए न्यायभाष्यकार ने दिखाया है कि पूर्वोक्त मन्त्र में एकादश सामिधेनी का पञ्चदशत्व श्रुत है। परन्तु यह कैसे सम्भव होगा? इसलिए वेद में कहा गया है—'त्रि प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्'। अर्थात् पूर्वोक्त एगारह 'सामिधेनी' में से 'प्रथमा' को तीन बार तथा 'उत्तमा' को यानी अन्तिम को तीन बार पाठ करना चाहिए। तब प्रथम और अन्तिम का दो बार अधिक पाठ होने से उस एकादश 'सामिधेनी' को उक्तरूप से पाठ के द्वारा पञ्चदश मन्त्र सम्भव होता है। अर्थात् पूर्वोक्त एकादश मन्त्रों में से प्रथम का तीन बार तथा अन्तिम का तीन बार पाठ होने से ही उसी पाठ भेद से मन्त्र का भेद होने से छः मन्त्र तथा मध्यवर्ती नौ मन्त्रों को लेकर पन्द्रह मन्त्र होंगे[१]। उक्तरूप से पूर्वोक्त एकादश मन्त्रों का पञ्चदशत्व सम्पादन करने के लिए ही वेद में पूर्वोक्त मन्त्रद्वय की पुनरावृत्ति विहित हुई है। अतएव वह पुनरुक्त दोष नहीं है।

फलित कथन यह है कि पूर्वोक्त मन्त्रद्वय की उस तरह की पुनरावृत्ति के बिना अन्त में कहे गये पञ्चदशत्वबोधक मन्त्र की सङ्गति नहीं हो सकती। अतः उस मन्त्र का पाठ नहीं किया जा सकता है किन्तु उस यज्ञविशेष में वह अवश्य प्राप्य है। अन्यथा उसकी फलसिद्धि नहीं होगी। इसलिए उस यज्ञ की फलसिद्धि के लिए उक्त मन्त्रद्वय की पुनरावृत्ति अवश्य करनी चाहिए। इससे पुनरुक्त दोष नहीं होता है क्योंकि वह सप्रयोजन होने से अनुवाद कहा जाता है।

पश्चात् महर्षि गौतम वेद के ब्राह्मण भाग में जो विधि, अर्थवाद तथा अनुवाद इन तीनों विभागों को कहते हुए इन सबों के लक्षण तथा प्रकार भेद आदि का वर्णन किया है, पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए अनुवाद तथा पुनरुक्ति में क्या विशेष अन्तर है—इसको स्पष्ट करते हैं। लौकिक वाक्य की तरह वेद में भी विधि अर्थवाद तथा अनुवाद- इन तीनों वाक्यविभागों का और लौकिक वाक्य की तरह वेद के प्रामाण्य को जिसका बाध कदापि नहीं हो सकता

---

१ यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उच्चारण भेद से उक्त मन्त्रों में भेद के बिना एगारह मन्त्रों का पञ्चदशत्व सम्भव नहीं है। कणाद तथा गौतम के मत में एक ही शब्द की पुनरावृत्ति नहीं होती है किन्तु तज्जातीय दूसरे शब्द का उच्चारण ही शब्द की पुनरावृत्ति है। वे सब शब्द ही उच्चारण के भेद से भिन्न और अनित्य हैं। उक्त सिद्धान्त से पूर्वोक्त श्रुति भी मूल में रूप से मानी जा सकती है।

है, न वह समाचित ही है—प्रतिपादित करते हैं और इसमें प्रमाण भी दिखाते हैं—'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम्' २।१।६८। शास्त्र में विष भूत तथा वज्र से रक्षा के लिए अनेक मन्त्रों का विधान है। उन मन्त्रों के यथाविधि प्रयोग से व्यक्ति उससे बच जाता है। इसकी परीक्षा करके लोगों ने इसकी सत्यता प्रमाणित कर दी है। इसी तरह से चिरकाल से ही आयुर्वेद की सत्यता भी प्रमाणित हो चुकी है। मन्त्र तथा आयुर्वेद का यही प्रामाण्य है कि उसमें जो कुछ कहा गया है उसकी सत्यता की परीक्षा में वह खरा उतरा है। किन्तु इस प्रामाण्य में कारण क्या है? इस पर विचार करने से यही स्वीकार करना होगा कि इन सभी मन्त्रों का तथा आयुर्वेद शास्त्र का वक्ता वही आप्त पुरुष है जो सभी तत्वों का देखता है। उस आप्त पुरुष में प्रामाण्य के कारण ही इस मन्त्र तथा आयुर्वेद में प्रामाण्य सिद्ध होता है। इसी तरह से ऋग्वेद आदि चारों वेद भी—जिनमें सभी अलौकिक विषयों का वर्णन है—उस सर्वदर्शी ईश्वर को छोड़कर और किसी के ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है। अतएव इन सभी पदार्थों के देखने वाले पुरुष को सर्वज्ञ मानना होगा। वही जीवों के मंगल के लिए एवं दुःख से रक्षा करने के लिए हमेशा चिन्ता रखता है। जो जिस रूप में है उसने उसी रूप का (वस्तुतथ्य का) उपदेश करता है। तत्त्वदर्शिता तथा जीवदया आदि ही उसे आप्त बनाता है। इसलिए वह प्रमाण पुरुष है। उसमें (पुरुष में) प्रामाण्य के कारण ही वेद को भी प्रमाण माना जाता है। जैसे मन्त्र तथा आयुर्वेद प्रमाण है।

वेद में कितने रोगों के निवारण या शमन के लिए मन्त्र और औषधियों का उल्लेख आया है। किन्तु उपर्युक्त सूत्र में महर्षि गौतम ने मन्त्र तथा आयुर्वेद के प्रामाण्य की जो चर्चा की है वह मूल वेद से भिन्न है। भाष्यकार वात्स्यायन के भाष्य से यही ज्ञात होता है। न्यायमञ्जरी ग्रन्थ के लेखक भट्ट जयन्त आदि विद्वानों ने भी युक्तियाँ दिखाकर इसका समर्थन किया है और कहते हैं कि आयुर्वेदशास्त्र मूलवेद से भिन्न है। वस्तुतः विष्णुपुराण में भी जहाँ अठारह विद्याओं की चर्चा हुई है पश्चात् आयुर्वेद का पृथक् ही उल्लेख किया गया है[१]

---

१ अङ्गानि चतुरो वेदा मीमांसा न्यायविस्तर ।
पुराणं धर्मशास्त्रञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः ।
अर्थशास्त्रं चतुर्थन्तु विद्या ह्यष्टादशैव तु ॥ —। तृ० अंश ६

सुश्रुत भी आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपाङ्ग कहता है।[1] आयुर्वेद शब्द की व्युत्पत्ति में वेद शब्द श्रुतिरूप अर्थ का वाचक नहीं है—यह वहाँ कण्ठतः कहा गया है। सबसे पहले वहीं यह भी कहा गया है कि स्वयम्भू ने अथर्ववेद व उपाङ्ग आयुर्वेद का प्रणयन किया है। गरुडपुराण में (पूर्वखण्ड १४६ अ०) प्रतिपादित है कि परमेश्वर ने स्वयं धन्वन्तरि रूप में अवतार लेकर सुश्रुत को आयुर्वेद का उपदेश दिया था। गौतम के उपर्युक्त सूत्र से भी प्रतीत होता है कि आयुर्वेद सर्वज्ञ आप्त पुरुष का वाक्य है।

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने 'ग्रामकामो यजेत' इत्यादि दृष्टार्थक[2] मूलवेदवाक्य का दृष्टान्त रूप में उल्लेख किया है। जो व्यक्ति अपने गाँव को स्वाधिकार में रखना चाहता है उसके लिए वेद में—'साम्रहणी' नामक यज्ञ का विधान है। और उस याग को करने की विधियाँ भी वहीं बताई गई हैं। उचित रूप में उस यज्ञ के करने से व्यक्ति गाँव का अधिपति हो जाता है—अतएव इसी जन्म में उसको उसका फल मिल जाता है। कितने व्यक्ति इसके अनुष्ठान से लाभ उठा चुके हैं—जिससे वेदवाक्य का प्रामाण्य परीक्षित है। न्यायमञ्जरी में जयन्तभट्ट इसके समर्थन में कहते हैं कि मेरे पितामह कल्याण स्वामी ने 'साम्रहणी' यज्ञ के अनुष्ठान से गौरमूलक गाँव को प्राप्त किया था। वात्स्यायन ने मूल वेद से दृष्टार्थक वाक्यों को ढूढ़कर दृष्टान्तरूप में उसे उठाते हुए सकल वेदों का प्रामाण्य सिद्ध किया है। इनके मत से यह भी ज्ञात होता है कि महर्षि गौतम उक्त सूत्र के 'च' शब्द से इन सभी वेदवाक्यों को तथा भिन्न-भिन्न लौकिक सत्यार्थ वाक्यों का दृष्टान्त रूप में स्वीकार करते हैं। महर्षि गौतम के मत में आप्त पुरुष के प्रमाण होने में ही उसके वाक्यों में प्रामाण्य आता है। इसलिए वे वेद के प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिए सामान्य हेतु कहते हैं—'आप्तप्रामाण्यात्'।

वेद का कर्ता वह आप्त पुरुष कौन है—न्यायदर्शन में यह कहीं नहीं कहा गया है किन्तु शास्त्र युक्तियों से सिद्ध है कि वही सर्वज्ञ वेद का वक्ता है। अतएव प्रतीत होता है कि गौतम का भी यही मत है। वाचस्पतिमिश्र तात्पर्यटीका में गौतम के तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं कि संसार का कर्ता

---

१. इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजा श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रञ्च कृतवान् स्वयम्भूः। ततोऽल्पायुष्ट्वमल्पमेधस्त्वञ्चावलोक्य नराणाम् भूयोऽष्टधा प्रणीतवान् [illegible] सुश्रुतसंहिता। १ अ०।

२. [illegible] फल इसी जन्म में मिल जाता है वही दृष्टार्थक शब्द कहा जाता है। —अनुवादक।

परमेश्वर नित्य, सर्वज्ञ तथा परमकारुणिक है। वह सृष्टि के बाद मानवों के हित के लिए अनेक प्रकारों का उपदेश देता है। उसका वही उपदेश वाक्य वेद है। वह वेद वर्णाश्रम धर्म का व्यवस्थापक है, सभी शास्त्रों का मूल है और ऋषि महर्षि तथा महाजन (विशिष्ट पुरुष) से समादृत है। विष आदि अनिष्ट के निवारण के लिए कितने मन्त्र तथा आयुर्वेदशास्त्र भी उसी परमेश्वर का उपदेश है। इसकी सत्यता की इसी संसार में परीक्षा हो चुकी है और वह खरा भी उतरा है। इसी दृष्टान्त से मन्त्र और आयुर्वेदशास्त्र की तरह वेद भी परमेश्वर का उपदेश है। अतएव उसका प्रामाण्य मानना होगा। आयुर्वेद में भी 'शान्तिक तथा पौष्टिक' कर्म के अनुष्ठान का वर्णन आता है और रसायन बनाने पर प्रायश्चित्तरूप में चान्द्रायण व्रत करने के लिए कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिसका प्रामाण्य परीक्षित है और सर्व-सम्मत है उस आयुर्वेदशास्त्र में भी वेद को प्रमाण माना गया है जो वेद के प्रमाण का निर्णायक है।

वाचस्पतिमिश्र योगदर्शन भाष्य की टीका में (१।२४) गौतम के उक्त सूत्र का उद्धरण देते हैं और कहते हैं कि मन्त्र तथा आयुर्वेद नित्य सर्वज्ञ ईश्वर की रचना है। उससे भिन्न कोई भी दूसरा व्यक्ति कदापि निष्फल नहीं होने वाले मन्त्र तथा आयुर्वेद की रचना नहीं कर सकता है। अभ्युदय और निःश्रेयस का उपदेश देने वाला और असंख्य अतीन्द्रिय[1] तत्वों का प्रतिपादन करने वाला वेद का निर्माण ईश्वर को छोड़कर दूसरा नहीं कर सकता है। उस ईश्वर की नित्यसर्वज्ञता ही शास्त्र का मूल्य है। उसकी नित्य सर्वज्ञता से मन्त्र तथा आयुर्वेद की तरह वेद भी अवश्य प्रमाण है। वाचस्पति मिश्र के परवर्ती उदयनाचार्य, जयन्तभट्ट और गङ्गेश उपाध्याय आदि महानैयायिकों ने युक्तियों से सूक्ष्म विचार करके इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है[2]।

---

१. (जिसका प्रत्यक्ष साधारण व्यक्तियों को नहीं होता है वह अतीन्द्रिय है)

२. परमेश्वर किसी प्रमाज्ञान का कारण नहीं है अतएव गौतम प्रमाण पदार्थ में इनका उसका पञ्चम प्रकार नहीं कहते हैं किन्तु प्रमाता अर्थ में वह भी प्रमाण है। ईश्वर के सहस्रनामों में प्रमाण शब्द ही आया है जिसका अर्थ प्रमाता ही है। उक्त सूत्र में जो आप्तप्रामाण्य कहा गया है उसका अर्थ है आप्त पुरुष की प्रमातृता। परमेश्वर में सर्वदा सकल विषयों का प्रमाज्ञान रहता है, किसी भी काल में उसका अभाव नहीं रहता है। गौतम के मत में उत्तरूप प्रमातृत्व ही

वैशेषिकदर्शन में महर्षि कणाद भी कहते हैं—'तद्वचनादाम्नायप्रामाण्यम्' १।१।३ उदयनाचार्य अपनी किरणावली में इस सूत्र के 'तत्' शब्द से ईश्वर का परामर्श करते हैं। अतएव वे इस सूत्र की व्याख्या इस तरह से करते हैं—'तद्वचनात् = तेनेश्वरेण प्रणयनात्' [1]। किन्तु यहाँ तत्' शब्द से अव्यवहित पूर्वसूत्र में कहा गया धर्म को यदि लिया जाए तो 'तद्वचनात्' इस शब्द की व्याख्या 'धर्मवचनात् = धर्मप्रतिपादकत्वात्' इस तरह की होगी। उससे भी यही सिद्ध होगा कि कणाद के मत में भी वेद ईश्वर की ही रचना है।

क्योंकि कणाद का सूत्र है—'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ६।१।१। लौकिक वाक्य की तरह वैदिक वाक्यों की रचना भी बुद्धिपूर्वक होती है। अर्थात् वेदार्थ विषयक ज्ञान रहने से होती है। इससे स्पष्ट है कि वेद पुरुष की रचना है अतएव वह पौरुषेय है—यही कणाद का सिद्धान्त है। वेदकर्ता पुरुष समस्त अलौकिक वेदार्थों का नित्यज्ञान रखता है। इसी से सिद्ध है कि सनातन धर्म का रक्षक परमेश्वर ही धर्म के प्रतिपादक वेद का आदिवक्ता है और उसी के प्रमाण होने से वेद में प्रामाण्य आता है। सृष्टि के आरम्भ में ही सबसे पहले

परमेश्वर का प्रामाण्य है। महानैयायिक उदयनाचार्य भी इसका समर्थन करते हैं—'मिति सम्यक् परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता। तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते।।' (कुसुमाञ्जलि ।४।५।)

[1] निराकार ईश्वर वेद का उच्चारण कैसे कर सकता है? इसके उत्तर में उदयनाचार्य कहते हैं कि वह देह धारण करके ही वेद का उच्चारण करता है। उसका प्रथम वेदोच्चारण ही वेद की रचना है। किन्तु कुसुमाञ्जलि पञ्चम स्तवक में उदयनाचार्य यह भी कहते हैं कि वेद के काठक, कालापक प्रभृति शाखाविशेष के नाम से यह प्रतीत होता है कि कठ तथा कलाप नामक ऋषि ही तत्तद् शाखा के आदिवक्ता हैं। अन्यथा इन शाखाओं के वे नाम नहीं हो सकते थे। वहीं उदयनाचार्य का यह मत भी प्रतिपादित है कि परमेश्वर ने कठ प्रभृति नामक शरीरों को धारण करके अथवा ऋषियों के शरीर में आविष्ट होकर वेद की इन शाखाओं को कहा है। तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय ईश्वरानुमान चिन्तामणि में कहते हैं कि परमेश्वर ने भीम का देह धारण करके वेदों का उद्धार किया है तथा वहीं यह भी है कि ईश्वर अनेक शरीरों को धारण करते हैं। इसके दृष्टांत में चिन्तामणिकार 'भूतावेशन्याय' कहते हैं।

ईश्वर को छोड़कर कोई भी दूसरा व्यक्ति वेद का उपदेश देनेवाला नहीं हो सकता है[1]।

शास्त्र में यह भी प्रतिपादित है कि वेद का कोई कर्ता नहीं है वह नित्य है। किन्तु इन वाक्यों को वेद की स्तुति अथवा अर्थवाद रूप में लेना चाहिए। वेद को नित्य कहनेवाले कर्म मीमांसक सम्प्रदाय कितने वेदवाक्यों को अर्थवाद कहकर उन वाक्यों की तात्पर्यव्याख्या कुछ और ढङ्ग से ही करते हैं। वस्तुतः वेद उस परमेश्वर की परम विभूति रूप है। शास्त्र में उस परमेश्वर को वेदमूर्ति भी कहा गया है। महिषासुर का वध हो जाने पर इन्द्र आदि देववृन्द भी उस वेदमाता, वेदाधिष्ठात्री महामाया की स्तुति में कहते हैं—'शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधानमुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम्' (दुर्गासप्तशती अ०४। श्लो० १०।) महर्षि जैमिनि पूर्वमीमांसादर्शन में वर्णात्मक शब्द की नित्यता का स्थापन करते हुए अन्तिम सूत्र कहते हैं—'लिङ्गदर्शनाच्च' १।१।२३। भाष्यकार शबर स्वामी वहाँ—'वाचा विरूपनित्यया' इस श्रुतिवाक्य का उद्धरण देकर जैमिनि के उक्त मत में साधक युक्तियाँ दिखाते हैं। इस श्रुतिवाक्य के 'नित्य' शब्द के द्वारा वर्णात्मक शब्द का नित्यत्व सिद्ध होता है।

किन्तु महर्षि गौतम तथा कणाद ने शब्दनित्यत्ववाद का सयुक्तिक खण्डन किया है और इसे अनित्य माना है। इनके मत से शब्द उत्पत्ति तथा विनाश से रहित नहीं है अतएव वह नित्य नहीं हो सकता है। वर्णात्मक शब्द को नित्य मानने वालों के मत से भी पद और वाक्य नित्य नहीं होते हैं। अनेक वर्णों की योजना से एक पद बनता है और अनेक पदों से वाक्य। भामती में वाचस्पति ने इसके समर्थन में विशद आलोचना की है। किन्तु वर्णों के नित्य होने से यदि वर्णमय वेद को नित्य माना जाय तो लौकिक वाक्य का भी नित्य स्वीकार करना होगा। क्योंकि वह भी नित्य वर्णमय है।

---

१. स्मरण रखना चाहिए कि महर्षि कणाद के मत में शब्द प्रमाण अनुमान का ही है इस प्रसिद्ध मत में भी वेद का प्रामाण्य कहा गया है। कणाद ने भी तृतीय सूत्र के द्वारा इसका स्पष्ट कहा है। किन्तु बम्बई से प्रकाशित किसी वेदान्तदर्शन पुस्तक की भूमिका में लिखा दाक्षिणात्य महामहोपाध्याय ने निःसंकोचरूप से लिखा है कि वैशेषिक सम्प्रदाय वेद का प्रमाण नहीं मानता है अतएव वह नास्तिक है। इस विषय में अधिक क्या कहा जा सकता है। किन्तु यह अवश्य कहना है कि इस तरह के भ्रमसिद्धान्त का प्रचार नितान्त दुःख का विषय है।

और तब किसी भी वाक्य को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता है। भाष्यकार वात्स्यायन इस विषय में मीमांसक-सिद्धान्त के विरोध में कहते हैं कि भूत और भविष्य युगान्तर और मन्वन्तर में संप्रदाय के अविरल रूप से चलने से वेद की नित्यता सिद्ध होती है। एक दिव्य युग के बीत जाने पर और दूसरे दिव्य युग के आरम्भ में तथा एक मन्वन्तर से अपर मन्वन्तर में वेद का अध्ययन अध्यापन चलता रहता है एवं चिरकाल तक इसी तरह से चलता रहेगा। इसी तात्पर्य से शास्त्रों में वेद का नित्यत्व प्रतिपादित है[१]।

महाप्रलय में जब सत्यलोक का विनाश हो जाता है तब सत्यलोक में रहनेवाले ब्रह्म के शरीर का भी अवसान हो जाता है। तब उस समय में वैदिक सम्प्रदाय का सर्वथा उच्छेद सम्भव है। यहाँ प्रश्न उठता है कि महाप्रलय के बाद में जब पुनः सृष्टि का आरम्भ होता है तब वैदिक सम्प्रदाय का प्रवर्तन कौन करेगा? वाचस्पति मिश्र वात्स्यायन की उक्ति की व्याख्या में अपनी तात्पर्यटीका में कहते हैं कि महाप्रलय में नित्य सर्वज्ञ ईश्वर सकल वेदों की रचना करके सृष्टि के आरम्भ में स्वयं सम्प्रदाय चलाते हैं—'महाप्रलये तु' ईश्वरेण वेदान् प्रणीय सृष्ट्यादौ स्वयमेव सम्प्रदाय प्रवर्त्यते एवेति भाव'। वह (ईश्वर) बद्ध जीव के प्रति अनुग्रह करके उसका उद्धार करने के लिए हम लोगों को ज्ञान और धर्म आदि का उपदेश करते हैं। योगदर्शन भाष्य में व्यासदेव भी कहते हैं—'तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रह प्रयोजनम्, ज्ञान धर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति'। कर्म मीमांसक सम्प्रदाय इस प्रलय को नहीं मानता है। अतएव वेद के संप्रदाय का कभी उच्छेद संभव नहीं है और वह अनुच्छेद ही उसकी नित्यता प्रमाणित कर देता है। किन्तु प्रलय तथा पुन सृष्टि शास्त्र तथा युक्तियों से सिद्ध है।

---

१. यहाँ यह कहना आवश्यक है कि नित्यसर्वज्ञ ईश्वर का सकलवेदार्थ विषयक जो प्रज्ञा या नित्यज्ञान है वह वेद शब्द का वाच्यार्थ नहीं है। मन्त्र तथा ब्राह्मणनाम स कहा गया शब्दराशि ही वेद शब्द का अर्थ है। महर्षि आपस्तम्ब कहते हैं—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। मुण्डक उपनिषद में ऋग्वेद आदि को जो अपराविद्या कहा गया है वह भी वेद के शब्दराशि रूप होने में प्रमाण है। भाष्यकार शङ्कराचार्य भी वहाँ कहते हैं—'वेदशब्देन तु सर्वत्र शब्दराशिर्विवक्षित'। श्वेताश्वतर उपनिषद में—'यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (६।१८) इत्यादि बहुवचनान्त वेद शब्द से समस्त शब्दराशि ही जाना जाता है। अतएव वह नित्य है या अनित्य—यह विचारणीय है और इसमें मतभेद है।

यथार्थत ऋग्वेद दशम मण्डल पुरुषसूक्त में—'तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋच सामानि यज्ञिरे। छन्दांसि यज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।' (६०।६।) इस मन्त्र में वेद की उत्पत्ति स्पष्ट ही कही गई है। बृहदारण्यक में वेद को परमेश्वर का निश्वसित कहा है—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् यदृग्वेद' इत्यादि (२।४।१०) जैसे निःश्वास बिना किसी खास प्रयास के चलता रहता है उसी तरह से वेद ईश्वर के किसी खास प्रयास के अभाव में हुआ है। वेदान्तदर्शन तृतीय सूत्र के भाष्य म शङ्कराचार्य इसम प्रमाण दिखाते हैं—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् यदृग्वेद इत्यादि श्रुते'। भामती में वाचस्पति मिश्र कहते हैं—'अप्रयत्नेनास्य वेदकर्तृत्वे श्रुतिरुक्ता अस्य महतो भूतस्येति' इससे प्रमाणित है कि शङ्कराचार्य के मत में भी परमेश्वर ही वेद का कर्ता है। किन्तु इनके मत से वेद के ईश्वरकृत होने पर भी उसे पौरुषेय नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि जो स्वतन्त्र पुरुष से निर्मित होता है वह पौरुषेय है। किन्तु परमेश्वर सर्वशक्तिमान् होकर भी वेद की रचना में स्वतन्त्र नहीं है।

अभिप्राय यह है कि प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में पूर्वकल्प की तरह परमेश्वर उन सभी स्वर एवं वर्ण विशिष्ट वेदों को कह देता है। आंशिक परिवर्तन भी वह कहीं नहीं करता है। अतएव चिरकाल से ही वेदोक्त एवं स्वर्ग देनेवाला कर्म करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती आई है और होती रहेगी भी। वेद में जो निषिद्ध है जैसे ब्रह्महत्या आदि उसके करने से नरक होता आया है और चिरकाल तक होता रहेगा। इसका विपरीत न कदापि हुआ है न आगे होने की बात ही है। भामती में वाचस्पति मिश्र ने इस विषय की विशद आलोचना से वेद का अपौरुषेय होना कहा है।

किन्तु न्यायवैशेषिक संप्रदाय पौरुषेय शब्द के वाचस्पति का सम्मत उक्त अर्थ को नहीं मानता है। इसके मत में जो वस्तु पुरुष से सम्पादित है वही पौरुषेय है। जो भी हो, बात यही है कि उक्त अर्थ में वेद को भले ही अपौरुषेय मानता हो किन्तु उपयुक्त श्रुति तथा युक्ति के बल पर अद्वैतवादी वेदान्ती सम्प्रदाय भी वेद के आदि कर्ता परमेश्वर का समर्थन करता है। अद्वैतमत में परब्रह्म से भिन्न सभी वस्तु अनित्य ही हैं तब वेदान्तदर्शन के—'अत एव च नित्यत्वम् १।३।२६ इस सूत्र के द्वारा भगवान् बादरायण ने भी वेद की उत्पत्ति तथा विनाश में शून्य नहीं कहा है। अतएव यह मानना होगा कि अद्वैतवेदान्ती उसे नित्य नहीं कहता है[१]।

---

१. वेदान्तपरिभाषा म अद्वैतवादी धर्मराज धर्ममीमांसक सम्प्रदाय के मत

अब प्रश्न उठता है कि ईश्वर ने पहले पहल वेद की उत्पत्ति कैसे की होगी। इस विषय में श्वेताश्वतर उपनिषद् कहता है—'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्। यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।६।१८' परमेश्वर पहले ब्रह्मा की सृष्टि करते हैं और बाद में उन्हीं को समस्त वेद का उपदेश दे देते हैं। मुण्डक उपनिषद् में भी ब्रह्मा से ब्रह्मविद्याप्रवर्तक सम्प्रदाय का क्रम वर्णित है। ब्रह्मा अपने मानसपुत्रों को चारों मुखों से समस्त वेद का अध्यापन करते थे। और वे लोग अपने अपने पुत्रों को सिखा देते थे। इस तरह से उन सभी ब्रह्मर्षियों ने एक बार ईश्वर से प्रेरित होकर उन वेदों का विभाजन भी किया था और पश्चात् धर्म की स्थापना के लिए भगवान् नारायण ने कृष्णद्वैपायन के रूप में अवतार लेकर समस्त वेदों को चार भागों में विभाजित कर दिया। पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु—इन चार शिष्यों को यथाक्रम ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद का दान दिया और उन चारों शिष्यों ने अन्य शिष्यों को उन संहिताओं का पाठ पढ़ाया। इन्हीं लोगों की शिष्यप्रशिष्य परम्परा ने वेद का प्रचार एवं सम्प्रदाय की रक्षा की—यह कथा श्रीमद्भागवत में (१२ स्क० ६ अ० में) वर्णित है। विष्णुपुराण में भी इस कथा की विस्तृत रूप में चर्चा की गई है।

वेदान्तदर्शन में भगवान् बादरायण का सूत्र है—*यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्* ३।३।३२ भाष्यकार शङ्कराचार्य इस सूत्र की व्याख्या में कहते हैं कि पूर्व कल्प में जो महर्षिगण तपोबल से सिद्ध हो चुके हैं उनमें से

म वेद को नित्य कहकर पश्चात् कहते हैं—'अस्मात् तु मते वेदा न नित्य उत्पत्तिमत्त्वात्। उत्पत्तिमत्त्वं च अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इत्यादि श्रुते'। पुन वहीं वेद में तीन दोष नहीं रहता इस नित्यत्व का खण्डन करके वेद के अपौरुषेयत्व का समर्थन करते हैं—'सर्गादिकाले परमेश्वर 'पूर्वकल्पसिद्धवेदानुपूर्वीसमानानुपूर्वीकं वेदं विरचितवान् न तु तद्विजातीयमिति, न तस्य सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणमित्यपौरुषेयत्वम्'। यह अद्वैत मत में स्वीकृत है कि परमेश्वर सृष्टि से पहले पूर्व सृष्टि की तरह समस्त वेदवाक्यों के सजातीय वाक्यों का उच्चारण करता है और वह उच्चारण ही वेदरचना है। भामती में (१।१।३) वाचस्पतिमिश्र वेद के अपौरुषेयत्व के लिए लिखते हैं—'महेश्वरोऽपि सर्वशक्तिरपि पूर्वकल्पानुसारेण वेदान् विरचयन् न स्वतन्त्र' इत्यादि। अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि वेदान्त सिद्धान्त में वेद को ईश्वर की रचना नहीं माना जाता है।

जो ऐसे कि तत्त्वज्ञान पाकर भी प्रारब्धकर्मों का फलभोग समाप्त नहीं किए हैं उन्हें विदेह कैवल्य प्राप्त नहीं होता है। वे लोग दूसरे कल्प के आरम्भ में परमेश्वर के द्वारा वेद प्रवर्तन आदि कार्य में नियुक्त होकर जब तक अधिकार रहता है तब तक रहते हैं। इसी से उन महर्षियों को आधिकारिक पुरुष कहते हैं। शङ्कराचार्य के मत से कृष्णद्वैपायन वेदव्यास भी आधिकारिक पुरुष हैं। पूर्व कल्प में 'अपान्तरतमा' नामक प्राचीन ऋषि वेदाचार्य कलि तथा द्वापर के सन्धिसमय में महाविष्णु के आदेश से कृष्णद्वैपायन होकर अवतार लिए। यद्यपि इस विषय में शङ्कराचार्य कुछ प्रमाण नहीं देते हैं किन्तु यह तो पुराण में भी आया है कि कृष्णद्वैपायन नारायण का अवतार हैं। भगवद्गीता की टीका में अद्वैतवादी मधुसूदन सरस्वती भी कहते हैं कि परमेश्वर ही वेदव्यास के रूप में वेदान्त सम्प्रदाय का प्रवर्तक है।

शास्त्र में यह प्रतिपादित है एवं प्रमाणसिद्ध है कि परमेश्वर स्वयं ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव—इन तीनों रूप में रहता है। अतएव त्रिमूर्ति है। महाकवि कालिदास कुमारसम्भव महाकाव्य में ब्रह्मा की स्तुति करते हुए कहते हैं कि—'नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने।' लघुभागवतामृत ग्रन्थ में श्रीरूप गोस्वामी पद्मपुराण के वचन का उद्धरण देकर[१] समाधान करते हैं कि किसी महाकल्प में उपासना के द्वारा सिद्ध जीवन्मुक्त पुरुष भी ब्रह्मा के पद को प्राप्त कर लेता है। और किसी महाकल्प में स्वयं महाविष्णु भी ब्रह्मा हो जाता है। श्रीरूप गोस्वामी यह भी कहते हैं कि ब्रह्मा दो प्रकार के होते हैं—'हिरण्यगर्भ तथा वैराज।' उनमें हिरण्यगर्भ जब तक ब्रह्मलोक में रहता है तब तक वहीं रहकर वहाँ के ऐश्वर्य का भोग करता है। और प्रायः वैराज परमेश्वर के आदेश से प्रजा की सृष्टि तथा वेद का प्रचार करते हैं।

शारीरक भाष्य में (१।३।३०) शङ्कराचार्य कहते हैं कि परमेश्वर की दया पाकर पूर्वकल्प का हिरण्यगर्भ ईश्वर गण के पूर्वयुगीय व्यवहार का स्मरण करता है और तब सृष्टिकार्य का सम्पादन करता है। हिरण्यगर्भ ब्रह्मा सृष्टि का कर्ता है—इसमें अन्यान्य युक्तियाँ भी हैं।

जो भी हो, प्रकृत में कहना यही है। कि परमेश्वर पहले हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के शरीर आदि की सृष्टि करता है जिसमें अन्यान्य अनेक सृष्टि तथा वेद प्रवर्तन आदि करने के लिए उसको पहले समस्त वेदों का सङ्कल्प मात्र से उपदेश करने के लिए वह स्वयं त्रिमूर्ति धारण करता है और तब चतुर्मुख ब्रह्मा की

[१] तथा च— भवत् क्वचिन्महाकल्पे ब्रह्मा जीवोऽप्युपासनैः ।
क्वचिदत्र महाविष्णुः ब्रह्मत्वं प्रतिपद्यते ॥'

देह-सृष्टि करता है। वह ब्रह्मा उस देह में अधिष्ठित होकर स्वयं सर्वप्रथम सकल वेदों के सनातन वेद वाक्यों का उच्चारण करता है।

अतएव यह मानना होगा कि परमेश्वर समस्त वेदों का आदिकर्ता तथा आदिवक्ता है। किन्तु हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से लेकर मन्त्रद्रष्टा ऋषि पर्यन्त तपोबल से तथा परमेश्वर की दया पाकर वेद को प्राप्त करते हैं और समय पर (जैसा है उसी रूप में) उसका स्मरण करके अविकल रूप में उच्चारण करते हैं। वात्स्यायन आदि प्राचीन आचार्यगण इसी तात्पर्य से वेद का ऋषिवाक्य कहते हैं। किन्तु वे लोग भी वेद का आदिकर्ता रूप में इन ऋषियों का नाम नहीं लेते हैं। क्योंकि परमेश्वर को छोड़कर दूसरा कोई भी वेद का आदिकर्ता नहीं हो सकता है। ईश्वर के उपदेश के बिना वेद का अथवा वेदार्थ विषयक किसी भी तरह का ज्ञान किसी को नहीं हो सकता है। वेदरचना से पहले किसी को भी वेदार्थ का ज्ञान या ऋषित्व लाभ होने का कोई उपाय नहीं था। योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि का सूत्र है—'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' १।२६। वही परमेश्वर हिरण्यगर्भ प्रभृति का गुरु है। क्योंकि परमेश्वर किसी कालविशेष से अवच्छिन्न पुरुष नहीं है। ब्रह्मा से भी वह पूर्ववर्ती है। अतएव उसे चिरविद्यमान कहा जा सकता है। वह अनादि तथा अनन्त है। अब क्या इसमें लेशमात्र भी सन्देह हो सकता है कि उसी परमेश्वर ने वेद का सर्वप्रथम उपदेश दिया तथा सर्वप्रथम वेदार्थों का प्रकाश किया। स्मरण रखना चाहिए कि गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'अहमादिर्हि देवानाम् महर्षीणाञ्च सर्वशः।' १०।२। इससे पहले भी कहे हैं—'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' ३।१५। इस श्लोक में ब्रह्म शब्द का वेद अर्थ है। 'वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च' ९।१७। पश्चात् कहा गया है—

> 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
> मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च।
> वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
> वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्' ॥१५।१५॥
>
> (श्रीमद्भगवद्गीता)

॥ इति ॥

१. विश्वान्तरं ... । ... वन्दशामादिरूपाणां। न केवल

मेधावदेव, वेदविभ्र ... —मन्त्रब्राह्म-

णात्मक-सर्ववेदार्थप्रतिपादकम्। साधूनां कल्याणोऽहिं प्रतिपत्तिहमिश्वादि।

२. सरस्वतीकृत भगवद्गीता गूढार्थदीपिका।

चौदहवाँ अध्याय

न्यायदर्शन में प्रमेय पदार्थ की व्याख्या

महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में प्रमाण के बाद प्रमेय की चर्चा की है। मुमुक्षुओं = मोक्ष की इच्छा रखने वालों, के लिए प्रमेय पदार्थ का ज्ञान ही प्रधान कर्तव्य है। इसलिए प्रकृष्ट = सर्वश्रेष्ठ, मेय = ज्ञेय, यही प्रमेय पद का अर्थ होता है। महर्षि गौतम बाद में उसी प्रमेय पदार्थ का विशेषरूप से नामनिर्देश के द्वारा विभाग करते हैं—'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोष प्रेत्यभाव फलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्' १।१।९। आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मनस्, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग—इन बारह पदार्थों को प्रमेय कहते हैं। ये बारह प्रकार के प्रमेय ही प्रथम सूत्रगत प्रमेय पद का अर्थ है।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि वस्तुमात्र जो प्रमाण से सिद्ध किया जाता है प्रमेय पद से अभिहित हो सकता है। सांख्यदर्शन में आचार्य ईश्वरकृष्ण भी कहते हैं—'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि'। महर्षि गौतम भी इससे सहमत ही हैं। अतएव—'प्रमेया च तुला प्रामाण्यवत्' इस सूत्र के द्वारा प्रमाण को भी प्रमेय कहा गया है। गौतम के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए भाष्यकार वात्स्यायन स्पष्ट कहते हैं[1] कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय आदि प्रमेय पद से प्रसिद्ध हैं। उस द्रव्य आदि के असंख्य प्रकार हैं इसलिए प्रमेय का आनन्त्य सिद्ध होता है। किन्तु इन

---

१. अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम्। तद्भेदेन चापरिसंख्येयम्। अस्य तु तत्त्वज्ञानादपवर्गो मिथ्याज्ञानात् संसार इत्यत एतदुपदिष्टं विशेषेणेति'। वात्स्यायनभाष्य १।१।९ यथार्थ में गौतम के अनेक सूत्रों से और परमाणु की नित्यता एवं अवयवी की सिद्धि से ज्ञात होता है कि कणाद के द्वारा कहे गये द्रव्य आदि छहों पदार्थ गौतम को भी मान्य हैं। और ये भी पश्चात् कणाद की तरह प्रमाणात्मक प्रमेय की चर्चा करते हैं। इसी से गङ्गेशउपाध्याय आदि नैयायिकगण गौतम के सिद्धान्त की व्याख्या में द्रव्य आदि सात पदार्थों का समर्थन करते हैं। सिद्धान्तमुक्तावली में विश्वनाथ भी भाष्यकार वात्स्यायन की उपर्युक्त कथा के अनुसार ही लिखते हैं—'एते च पदार्था वैशेषिकप्रसिद्धाः नैयायिकानामप्यविरुद्धाः प्रतिपादितश्चैवमेव भाष्ये'।

प्रमेयों में आत्मा से लेकर अपवर्ग पर्यन्त उपर्युक्त बारह पदार्थों का तत्त्व साक्षात्कार सकल पदार्थ विषयक मिथ्याज्ञान की निवृत्ति के द्वारा मुक्ति का साक्षात्कारण होता है। मुमुक्षुओं के लिए ये पदार्थ ही प्रकृष्ट मेय हैं। इसीसे महर्षि गौतम उक्त अर्थ में ही आत्मा आदि बारह पदार्थों को प्रमेय कहते हैं। सारांश यह है कि न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में कहा गया प्रमेय शब्द उक्त बारह प्रकारों के पदार्थों के अर्थ में पारिभाषिक है।

प्रमेयवर्ग में सबसे पहले आत्मा का उपादान है। इसीसे पहले इसके साधक हेतुओं को कहते हुए इसका लक्षण करते हैं—'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुख-दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्' १।१।१०। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के अनुमापक हेतु हैं। अभिप्राय यह है कि उक्त इच्छा आदि गुणों से (हेतुओं से) अनुमान के आधार पर इन गुणों का आश्रय सिद्ध होता है, पश्चात् इच्छा आदि गुणों का अधिकरण देह आदि नहीं हो सकते हैं—इसका यथार्थ अनुमान होता है। इसके बाद में जाकर देह आदि से भिन्न उन गुणों के आश्रयरूप में आत्मा की सिद्धि होती है। जिसमें अनुमान प्रमाण ही उपकारक होता है। इससे यही ज्ञात होता है कि उक्त सूत्र से आत्मा का लक्षण भी कहा जाता है। (विशेषज्ञान के लिए बङ्गला न्याय-भाष्य का चतुर्थ भाग देखना आवश्यक है)।

मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इस प्रकार से सुख आदि के मानस प्रत्यक्ष के समय में प्रत्येक जीव स्व का भी (आत्मा का भी) मानस प्रत्यक्ष कर लेता है किन्तु मिथ्या अभिमान में लिप्त जीव उस समय में देह आदि से भिन्नरूप में आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं करता है। इसी तात्पर्य से महर्षि कणाद भी जीवात्मा को अप्रत्यक्ष कहकर उसके विषय में अनुमान प्रमाण दिखाते हैं।[1] और योवव

१. वैशेषिक दर्शन में (३।२।४) महर्षि कणाद भी प्राण आदि की तरह सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न को एवं उससे पहले (३।१।१८) ज्ञान को जीवात्मा के साधक हेतु कहते हैं। कणाद के सूत्र के अनुसार प्रशस्तपाद कहते हैं—'सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नैश्च गुणैर्गुण्यनुमीयते।' इच्छा आदि गुणों से गुणी-आत्मा के अनुमान में क्या मतभेद है—यह पहले ही 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान की व्याख्या में कहा गया है। प्रशस्तपादभाष्य की सूक्ति टीका में जगदीश तर्कालङ्कार इस अनुमान प्रणाली की व्याख्या में कहते हैं—'सुखादिकं द्रव्य समवेतम् गुणत्वात्'। ज्ञानं क्वचदाश्रितं कार्यत्वात् रूपवत्'। कणाद के मत में ज्ञान आदि आत्मा के गुण हैं—इसे समझाने के लिए कहते हैं—'सुखादीनाम् रूप गुणत्वाभावे तल्लिङ्ग-वचनानुपपत्तेरिति भावः'।

सन्निकर्ष से योगियों के प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं। किन्तु महर्षि गौतम पूर्वसूत्र में प्रमेय पदार्थ के विभाजन के द्वारा उद्देश किए हैं अतएव उन सबों का लक्षण करना भी उनके लिए आवश्यक होगा। इसी को ध्यान में रखकर 'इच्छा द्वेष' आदि सूत्र कहे हैं जिससे आत्मा का लक्षण सूचित होता है। इसलिए उक्त सूत्र से यह भी ज्ञान होता है कि इच्छा आदि आत्मा के असाधारण (विशेष) गुण हैं। अन्यथा इच्छा आदि गुण आत्मा के लक्षण नहीं हो सकते थे। *इस विषय में जो कुछ कहना था वह छठे अध्याय में कहा जा चुका है।*

वृत्तिकार विश्वनाथ आत्मा के लक्षण सूत्र में आया हुआ लिंग पद का लक्षणरूप अर्थ ही कहते हैं और व्याख्या करते हैं कि इच्छा आदि सभी गुण आत्मा के लक्षण हैं। जिनमें से इच्छा, प्रयत्न और ज्ञान उभय साधारण है अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों के लक्षण हैं। द्वेष, सुख और दुःख केवल जीवात्मा के लक्षण हैं। महर्षि गौतम उक्त इच्छा आदि गुणों में से प्रत्येक को आत्मा का लक्षण कहते हैं। सभी गुणों को लेकर एक लक्षण नहीं माना जा सकता है। क्योंकि उसमें वैयर्थ्य दोष की आपत्ति हो जाएगी। इच्छावत्त्व, प्रयत्नवत्त्व तथा ज्ञानवत्त्व केवल जीवात्मा के लक्षण नहीं हैं। क्योंकि परमात्मा में भी नित्यइच्छा, नित्यप्रयत्न तथा नित्यज्ञान रहते हैं। (बहुतों के मत से ईश्वर में नित्य सुख भी रहता है) इससे ज्ञात होता है कि महर्षि गौतम जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों का उक्त इच्छावत्त्व आदि तीनों लक्षण हैं। अतएव यह भी मानना होगा कि प्रमेय के विभाजक सूत्र में *आत्मन् शब्द के प्रथम उपादान से आत्मत्व जातिविशिष्ट जीव तथा* ईश्वर दोनों ही महर्षि गौतम के विवक्षित हैं। इस विषय में अधिक बातें दसवें अध्याय में कही जा चुकी हैं।

दूसरा प्रमेय शरीर है। महर्षि गौतम इसका लक्षण करते हैं—'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्' ।१।१।११। आत्मा के प्रयत्न से शरीर में जो क्रिया उत्पन्न होती है उसी क्रिया का नाम चेष्टा है। इसी से चेष्टाश्रयत्व शरीर का लक्षण होता है। इसी तरह घ्राण आदि इन्द्रिय समूह भी शरीर को ही आश्रय बनाकर रहता है अतएव शरीराश्रित है। शरीर के साथ इन इन्द्रियों की सत्ता है। अतएव अवच्छेदकता सम्बन्ध से शरीर उनका आश्रय होता है। इसी से इन्द्रियाश्रयत्व भी शरीर का लक्षण है। इसी सूत्र के अन्त में गौतम कहते हैं कि अर्थाश्रयत्व भी शरीर का लक्षण होता है। भाष्यकार आदि आचार्यगण अपनी व्याख्या में कहते हैं कि अर्थ पद का अर्थ सुख और दुःख है वह पारिभाषिक शब्द है। इसीलिए सुखाश्रयत्व तथा दुःखाश्रयत्व भी शरीर का लक्षण होता

है। यद्यपि महर्षि गौतम के मत से जीवात्मा ही साक्षात् सम्बन्ध से सुख तथा दुःख का आश्रय होता है। किन्तु प्रत्येक जीवात्मा अपने शरीर से ही सुख और दुःख का भोग करता है। क्योंकि शरीर से बाहर उसका (सुख दुःख का) जन्म ही नहीं होता है। प्रत्येक जीवात्मा का अपना शरीर ही सकल सुख तथा दुःख के भोग का आयतन या अधिष्ठान है। इसी तात्पर्य से महर्षि गौतम शरीर को सुखाश्रय तथा दुःखाश्रय कहते हैं।

महर्षि गौतम बाद में शरीर की तत्त्वपरीक्षा करते हुए कहते हैं कि—'पार्थिव गुणान्तरोपलब्धे' ३।२।२८। तात्पर्य यह है कि जब तक मानव शरीर रहता है तब तक उसमें गन्धविशेष पाया जाता है। इसी से सिद्ध होता है कि मनुष्य का शरीर पार्थिव है। पञ्चमहाभूतों में पृथ्वी ही उसका उपादान कारण है। यहाँ यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि महर्षि कणाद तथा गौतम के मत में *गन्ध केवल पृथिवी का ही विशेष गुण है।* जल आदि अन्य द्रव्यों में गन्ध नहीं रहता है। किन्तु पृथिवी से भिन्न द्रव्य में यदि गन्ध की अनुभूति होती है तो वह पार्थिव अंश का ही होगा। मनुष्य शरीर में जल आदि महाभूतों के जो गुण उपलब्ध होते हैं उससे उसका जलीयत्व सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि वे गुण सब शरीर के अन्तस् में रहने वाले जल आदि भूतों के होंगे। एक ही शरीर को पार्थिव, जलीय, तैजस् तथा वायवीय सब नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि एक पदार्थ में नाना विरुद्ध जातियाँ पृथिवीत्व, जलत्व आदि नहीं रह सकती हैं। केवल मनुष्य का शरीर ही नहीं प्रत्युत मर्त्यलोक के सकल शरीर एवं समस्त पार्थिव द्रव्य का उपादान कारण पृथिवी ही है। क्योंकि नाना विरुद्ध जातीय द्रव्य किसी एक द्रव्य का उपादान कारण नहीं हो सकता है। किन्तु सजातीय द्रव्य ही सजातीय द्रव्यान्तर का उपादान कारण हो सकता है। यह सभी दार्शनिकों को मान्य है कि मानव शरीर में पार्थिव अंश ही अधिक रहता है। *अन्यथा दर्शनान्तर में प्रतिपादित उसकी पार्थिव संज्ञा उपपन्न नहीं* हो सकती है। किन्तु महर्षि गौतम तथा कणाद के मत में केवल पृथिवी ही जिसका उपादान कारण है—इस अर्थ में उसको पार्थिव कहते हैं। किन्तु जल आदि भूतचतुष्टय भी उसका निमित्त कारण है। इसीसे पाँच महाभूतों के द्वारा निष्पन्न होने से इसको पाञ्चभौतिक अथवा पंचात्मक कहते हैं।

महर्षि गौतम उपर्युक्त सिद्धान्त को उठाकर बाद में कहते हैं कि—'श्रुतिप्रामाण्याच्च' ३।१।३१। भाष्यकार वात्स्यायन महर्षि गौतम के सिद्धान्त में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—'सूर्यन्ते चक्षुर्गच्छतात्' इस श्रुतिमन्त्र के अन्त में कहा गया है—'पृथिवीन्ते शरीरम्' इस मन्त्र से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि

तुम्हारा शरीर पृथिवी में लय को प्राप्त करे। उपादान कारण में ही कार्य द्रव्य का लय होता है। इस श्रुतिमन्त्र में विशेषत पृथिवी में शरीर का लय कहना सिद्ध करता है कि केवल पृथिवी ही शरीर का उपादान कारण है। [1]इसीसे मानव शरीर का पार्थिवत्व सिद्ध होता है जो इस विषय में अन्य तरह के सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए किए गये अनुमान को काट देगा। महर्षि गौतम यह भी प्रतिपादित करते हैं कि श्रुतिविरोधी अनुमान को प्रमाण नहीं माना जाता है।

वैशेषिकदर्शन में महर्षि कणाद भी उपर्युक्त सिद्धान्त का समर्थन करते हैं— *प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते'* ४।२।२। इस सूत्र में पञ्चात्मक शब्द पञ्चमहाभूत उपादान कारण है जिसका—इस अर्थ को लेकर अन्य सम्प्रदाय के अनुसार उसका प्रयोग किए हैं। पञ्चात्मक रूप कोई द्रव्यान्तर नहीं है। प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप द्रव्यों के संयोग का प्रत्यक्ष नहीं होता है इसका तात्पर्य यह है कि पञ्च महाभूतों में पृथिवी, जल तथा तैजस्— इन तीन द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है और वायु तथा आकाश का नहीं। अतएव इन पाँचों को यदि शरीर का उपादान कारण मान लिया जाए तो इन सबों में समवाय सम्बन्ध से वर्तमान शरीर का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा। क्योंकि प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष पदार्थों में जो समवाय सम्बन्ध से रहता है उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। पृथिवी और वायु के संयोग को दृष्टान्तरूप में लिया जा सकता है[2]

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् के—*'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्'* ६।३।४। इस श्रुतिवाक्य से तेज, जल और पृथिवी इन तीन ही भूतों के त्रिवृत्करण कथित होता है जिससे कितने व्यक्ति केवल इन तीन भूतों को उपादान कारण मानते हैं और कितने व्यक्ति पञ्चीकरण मानकर पाँच भूतों को उपादान कारण मानते हैं। कणाद तथा गौतम के मत में अन्य भूतों के निमित्तकारण होने पर भी इस श्रुतिवाक्य की उपपत्ति होती है। पूर्वोक्त तीन भूतों में परस्पर विलक्षण संयोग विशेष का उत्पादन ही इस श्रुतिवाक्य में त्रिवृत्करण पद से कहा गया है। इनके उपादानकारणभूत विशेष के बाधकत्व का प्रकाश भी इस तरह की उक्ति का उद्देश्य है।

२. वेदान्त सम्प्रदाय का पञ्चीकरण कणाद को भी मान्य है—इसके समर्थन के लिए महामहोपाध्याय चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार फिलासफी लेक्चर के (पञ्चमवर्ष) पृ० ४५ में *'द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वम्'* इसको कणाद का सूत्र कह कर उद्धृत करते हैं। किन्तु कणाद पहले—*'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणाम्'* इत्यादि सूत्र से पञ्चात्मकत्व

महर्षि कणाद ने बाद मे यह भी सयुक्तिक सिद्ध कर दिया है कि पृथीवी, जल तथा तेजस—ये तीनों भूत हो शरीर का उपादान कारण नहीं हो सकते हैं। सारांश यह हुआ कि महर्षि कणाद के मत से भी पार्थिव शरीर का उपादान कारण पृथिवी ही है। अन्य जल आदि भूतचतुष्टय उसके निमित्त कारण हैं। इसी तरह से वरुणलोक, सूर्यलोक तथा वायुलोक में जो क्रमश देवगणों का जलीय तैजस् तथा वायवीय शरीर हैं उनके उपादान कारण क्रमश जल, तेजस् तथा वायु है और अन्य भूतचतुष्टय निमित्त कारण होते हैं। महर्षि कणाद ने इन सभी अयोनिज शरीरों की विशद व्याख्या की है।

तीसरा प्रमेय इन्द्रिय है। छठा प्रमेय मनस भी इन्द्रिय है। किन्तु मनस् के विषय में विशेष ज्ञान के लिए महर्षि गौतम ने यहाँ उसका पृथक् उल्लेख किया है। इसी से यहाँ घ्राण आदि बाह्य इन्द्रियों की सूचना देते हैं— घ्राण रसन चक्षुस्त्वक् श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्य' १।१।१२ सांख्य आदि शास्त्रों में वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों को भी कहते हैं। और वहीं यह भी प्रतिपादित है कि अहङ्कार सभी इन्द्रियों को उत्पन्न करता है। महर्षि गौतम तथा कणाद हस्त आदि अङ्गविशेष को इन्द्रिय नहीं मानते हैं। इन लोगों के मत से घ्राण आदि पाँच ही इन्द्रियाँ हैं। क्योंकि वे प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के साधन हैं किन्तु हस्त आदि इन्द्रिय सदृश हैं। अतएव उनमें इन्द्रिय पद का लाक्षणिक प्रयोग होता है। तात्पर्यटीकाकार वाचस्पतिमिश्र भी गौतम के इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं और कहते हैं कि यदि असाधारण कार्य के साधन हस्त आदि को इन्द्रिय कहा जाय तब तो कण्ठ, हृदय, आमाशय तथा पक्वाशय को भी कर्मेन्द्रिय कहा जा सकता है। किन्तु यह सिद्धान्त किसी भी दार्शनिक को मान्य नहीं है। कणाद तथा गौतम के मत में अहङ्कार किसी इन्द्रिय का उपादान कारण नहीं है किन्तु पृथिवी आदि पञ्चभूत ही क्रमश घ्राण आदि पाँच इन्द्रियों के उपादान कारण हैं। अतएव न्यायदर्शन में इन्द्रिय को भौतिक पदार्थ कहा गया है। इसीलिए—इस सिद्धान्त को व्यक्त करने के लिए ही--उक्त सूत्र के अन्त में महर्षि गौतम कहते

का खण्डन करते हैं पश्चात् तृतीय अध्याय द्वितीय आह्निक म इसका स्मरण करने के लिए कहते हैं— इन्द्रियेषु पञ्चाभूतत्वं प्रतिपिद्धम्'। शारीरक भाष्य में (२।२।११) आचार्य शङ्कर भी कणाद के—'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणाम्' इत्यादि सूत्र का उद्धरण देते हुए उक्त कणाद के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। सारांश यह हुआ कि यह स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि पञ्चकारण कणाद का मान्य नहीं है।

है—'भूतेभ्य'.[१] । महर्षि गौतम न्यायदर्शन के तृतीय अध्याय में इस सिद्धान्त का उपपादन करते हैं । इनकी मूल युक्ति यही है कि गन्ध रस, रूप, स्पर्श तथा शब्दों के बीच में घ्राण इन्द्रिय जब केवल गन्ध को ही ग्रहण करता है तथा रसना केवल रस का ही प्रत्यक्ष कराता है । चक्षुष् केवल रूप का ही और त्वगिन्द्रिय केवल स्पर्श का ही प्रत्यक्ष कराता है । इसी से घ्राण आदि चार इन्द्रियों का यथाक्रम पार्थिवत्व, जलीयत्व, तैजसत्व तथा वायवीयत्व अनुमान से सिद्ध होता है । इसी के समर्थन में इनका सूत्र है—'तद्व्यवस्थानन्तु भूयस्त्वात्' ३।१।६६। घ्राण आदि इन्द्रियों के उत्पादक भूतवर्गों में घ्राणेन्द्रिय के उत्पादन में पृथिवी का ही भूयस्त्व है अर्थात् घ्राण का उपादान पृथिवी ही है । इसी तरह रसना आदि तीन इन्द्रियों में पृथिवी आदि भूतों में क्रमशः जल, तेजस् तथा वायु का ही भूयस्त्व है । अतएव क्रमशः वही सब उपादान कारण होते हैं । पृथिवी आदि भूतों से घ्राण आदि इन्द्रियों की सृष्टि में जीव के अदृष्ट विशेष का भी हाथ रहता है अर्थात् वह सहकारी होता है । किन्तु इस मत में श्रवणेन्द्रिय उत्पन्न नहीं होता है । क्योंकि जीव का कर्णगोलकावच्छिन्न नित्य आकाश ही वस्तुतः श्रवण है । उसी कर्णगोलक की उत्पत्ति मानकर शास्त्र में श्रवणेन्द्रिय को उत्पन्न कहा गया है । किन्तु कर्णगोलकरूप उपाधि के भेद से श्रवणेन्द्रियरूप आकाश के भेद की कल्पना की जाती है । किन्तु उस नित्य आकाश की सत्ता के बिना श्रवणेन्द्रिय की सत्ता सिद्ध नहीं होती है—इसी तात्पर्य से महर्षि गौतम आकाश को श्रवणेन्द्रिय की योनि (मूल) कहा है । श्रवणेन्द्रिय भी अभौतिक पदार्थ नहीं है । किन्तु आकाशात्मक पञ्चमभूतरूप ही है ।

---

१. कणाद तथा गौतम के मत में आकाश का उत्पादक कोई सूक्ष्म भूत नहीं है । इनके मत में आकाश विभु—सर्वव्यापी पदार्थ है । कणाद स्पष्ट कहते हैं—'विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा' ७।१।२२। गौतम भी कहते हैं—'अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्मा' ४।२।२२। विभुद्रव्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है । कणाद तथा गौतम के मत में आकाश नित्य पदार्थ है । इन लोगों के अन्य सूत्रों से भी यही ज्ञात होता है । अतएव आकाशरूप श्रवणेन्द्रिय वस्तुतः नित्य पदार्थ है । अतएव गौतम के इन्द्रिय-लक्षण सूत्र में—'भूतेभ्य' इस पद में पञ्चमी विभक्ति का अर्थ जन्यत्व नहीं है किन्तु प्रयोजकत्व है । जिसकी सत्ता के बिना जिसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती है उसे उसका प्रयोज्य कहते हैं । आकाश की सत्ता के बिना श्रवणेन्द्रिय की सत्ता सिद्ध नहीं होती है अतएव वह आकाश का प्रयोज्य है ।

महर्षि गौतम चक्षुष् इन्द्रिय के तैजसत्व का समर्थन करते हैं और उसकी भौतिकता भी सिद्ध करते हैं। इसीलिए प्रत्येक इन्द्रिय की प्राप्यकारिता भी सिद्ध होती है। इन्द्रिय वर्ग अपने विषय को प्राप्त करके अर्थात् उस विषय के साथ सन्निकृष्ट होकर उस विषय का प्रत्यक्ष कराता है। इसी अर्थ में इन्द्रिय प्राप्यकारी कहा जाता है। चक्षुष् इन्द्रिय से जब दूरस्थ विषय का प्रत्यक्ष होता है तब उस स्थल में इन्द्रिय विषय से सन्निकृष्ट कैसे होगा? यदि चक्षुष् इन्द्रिय अभौतिक पदार्थ है तब तो उस स्थिति में विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष ही सम्भव नहीं होगा। तो भी चक्षुष् से पृष्ठवर्ती व्यवहित तथा अतिदूरस्थ द्रव्य का प्रत्यक्ष कैसे होगा? अतएव यह भी मानना होगा कि चक्षुष् प्रदीप की तरह तैजस पदार्थ है। जैसे प्रदीप में ज्योति होती है उसी तरह से चक्षुष् में भी ज्योति होती है और जैसे प्रदीप की ज्योति किसी व्यवधायक द्रव्य के रहने से व्यवहित हो जाती है उसी तरह से चक्षुष् की ज्योति भी प्रतिहत हो जाती है और व्यवहित विषय के साथ उसका सन्निकर्ष नहीं हो सकता है। इसीलिए उन विषयों का प्रत्यक्ष नहीं होता है। यदि चक्षुष् को अहङ्कार से उत्पन्न माना जाए तो पुनः भित्ति आदि व्यवधायक द्रव्य के रहने से उसका प्रतिघात सम्भव नहीं है क्योंकि तब तो वह अभौतिक रहता। प्रतिहत होना भौतिक पदार्थ का धर्म है। काच जैसा किसी स्वच्छ पदार्थ से चक्षुष् यद्यपि प्रतिहत नहीं भी होता है अर्थात् काच के व्यवधान में भी वस्तु दृश्य होता है तथापि दिवाल आदि के रहने से वह अवश्य प्रतिहत होता है। इससे भी चक्षुष् का भौतिक पदार्थ होना सिद्ध होता है। महर्षि गौतम इसका समर्थन करते हुए अन्त में कहते हैं कि—'नक्तञ्चर नयनरश्मि दर्शनाच्च' ३।१।४४। रात में बिल्ली तथा व्याघ्र आदि किसी किसी जीव का—जो रात में निकलते हैं—आँखों की ज्योति देखी भी जाती है। इसी दृष्टान्त से सभी जीवों की आँख की ज्योति अनुमान से सिद्ध होती है। बिल्ली आदि की आँखों की ज्योति दिवाल आदि के व्यवधान से प्रतिहत हो जाती है और तब वह भी व्यवहित विषय का प्रत्यक्ष नहीं कर पाता है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि बिल्ली की आँख अन्य जीवों की आँख से भिन्न है। किन्तु मनुष्य के चक्षुष् का रूप उद्भूत नहीं है अतएव यद्यपि उसकी ज्योति दूर तक जाती है किन्तु वह स्वयं दृश्य नहीं होता है। क्योंकि उद्भूत रूप और महत्त्व जिसमें रहता है उसी द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है जो चक्षुष् में नहीं है। जैसे आग से उष्ण किए गये जल में तैजस पदार्थ के रहने पर भी उसमें उद्भूत रूप नहीं रहता है अतएव उस तैजस पदार्थ का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसी तरह से मानव के चक्षुष्

इन्द्रिय का प्रत्यक्ष नहीं होता है। रूप दो तरह के होते हैं उद्भूत तथा अनुद्भूत। उनमें केवल उद्भूत रूप प्रत्यक्ष के योग्य हैं किन्तु जहाँ पर वह भी किसी से अभिभूत होकर रहता है वहाँ उसका भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। जैसे उल्का में उद्भूत रूप रहता है किन्तु दिन में वह सूर्य किरण से अभिभूत रहता है अतएव उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है।

किसी प्राचीन सांख्य सम्प्रदाय के अनुसार केवल त्वक् ही बाह्य इन्द्रिय है और घ्राण, रसना, चक्षुष् तथा श्रवण के स्थान में जो त्वक् है वही क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द का प्रत्यक्ष कराता है। शारीरक भाष्य में (२।२।१०) शङ्कराचार्य भी सांख्य के इस सिद्धान्त का उल्लेख करते हैं। महर्षि गौतम पहले इन्द्रिय की परीक्षा करते हैं और बाद में इस मत का सयुक्तिक खण्डन किया है। इन्द्रिय की परीक्षा के समय में महर्षि गौतम ने बहुत सी बातें कही हैं किन्तु संक्षेप में उन विषयों को कहना कठिन है।

चौथा प्रमेय का नाम अर्थ है। यह इन्द्रिय का अर्थ होता है। क्रमशः पाँच इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य पाँच विशेष गुण—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द को इन्द्रियार्थ कहते हैं। अतएव महर्षि कणाद कहते हैं कि इन्द्रियों का अर्थ=विषय प्रसिद्ध है—'प्रसिद्धा: इन्द्रियार्था:' ३।१।१। महर्षि गौतम इसको अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'गन्ध, रस, रूप, स्पर्श शब्दाः पृथिव्यादि गुणास्तदर्थाः १।१।१४। इस सूत्र में तदर्थ से उपर्युक्त इन्द्रियों का ग्रहण होता है। अतएव 'तदर्था:' का पर्याय—'इन्द्रियार्था:' होता है। तेषाम्=इन्द्रियाणाम् अर्थाः=विषयाः। महर्षि गौतम (३।१।६२ और ६३ सूत्रों में) अर्थ नामक प्रमेय की परीक्षा करते हुए पहले अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं—गन्ध, रस, रूप तथा स्पर्श पृथिवी के गुण हैं। रस, रूप तथा स्पर्श जल के गुण हैं, रूप और स्पर्श तेजस के गुण हैं केवल स्पर्श वायु का और केवल शब्द आकाश का गुण है। वैशेषिकदर्शन के द्वितीय अध्याय के आरम्भ में ही क्रमशः पाँच सूत्रों के द्वारा गौतम के इस सिद्धान्त का ही समर्थन किया गया है।

महर्षि गौतम बाद में किसी दूसरे सिद्धान्त का कहते हैं कि केवल गन्ध ही पृथिवी का विशेष गुण है, केवल रस ही जल का, केवल रूप ही तेजस् का, केवल स्पर्श ही वायु का और केवल शब्द ही आकाश का स्वाभाविक (अथवा विशेष) गुण है। अतएव पृथिवी में स्पर्श, रूप तथा रस का प्रत्यक्षानुभव कैसे होगा? इसी तरह से जल में रूप तथा स्पर्श का प्रत्यक्ष कैसे होगा,

तेजस में स्पर्श का प्रत्यक्ष कैसे होगा ? इसका उत्तर देते हुए महर्षि गौतम कहते हैं—'विष्टं ह्यपरं परेण' ३।१।६६। अभिप्राय यह है कि स्थूल भूत की सृष्टि में पृथिवी आदि जल आदि से यथाक्रम विलक्षण संयोग रूप संबंध के द्वारा बद्ध हो जाता है अतएव किसी भूत के विशेष गुणों का प्रत्यक्ष किसी और भूत में होता है। किन्तु यहाँ एक नियम है वह यह कि पूर्वस्थित भूत जैसे पृथिवी अपर भूत से=जल से संबद्ध होकर जल के विशेष गुण का प्रत्यक्ष करता है। किन्तु क्रमशः अपरभूत जैसे पूर्वस्थित भूत पृथिवी के विशेष गुण का प्रत्यक्ष नहीं करता है। इससे सिद्ध होता है कि पूर्वस्थित भूत में अन्य भूत का अनुप्रवेश होता है किन्तु परभूत में पूर्वभूत का अनुप्रवेश नहीं।

महर्षि गौतम बाद में इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि—'न पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात्' ३।१।६७। जब पार्थिव तथा जलीय द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है तब तो यह मानना होगा कि उन द्रव्यों में भी रूप है। जिस द्रव्य में उद्भूत रूप नहीं रहता है किन्तु चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है। यदि यह माना जाए कि पार्थिव तथा जलीय द्रव्य में उद्भूतरूप विशिष्ट तेजस् द्रव्य का विलक्षण संयोग है अतएव उस तेजस वृत्तिरूप का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है—तब तो वायु में जो तेजस् है उसके रूप का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होने लगेगा। यह नहीं कहा जा सकता है कि वायु में तेजस् का संयोग नहीं है किन्तु तेजस् में वायु का संयोग है।

भाष्यकार ने इस सूत्र की भिन्न व्याख्याएँ उपस्थित की हैं। जिनमें बहुत युक्तियों के साथ उक्त मत का खण्डन किया गया है। वे कहते हैं कि यह नहीं कहा जा सकता है कि पार्थिव द्रव्य का स्वाद जो कभी तीता भी होता है वह उस पृथिवी में अन्तर्गत जल का रस है। क्योंकि इसमें कुछ भी प्रमाण नहीं है कि केवल जल में ही तीत रस रहता है। और इसमें भी कुछ प्रमाण नहीं है कि शुक्ल तथा पीत आदि रूप केवल तेजस् का ही होता है। भाष्यकार और भी कहते हैं कि जब किसी पार्थिव द्रव्य में जल आदि भूतत्रय का संबंध नष्ट हो जाता है तो भी उसमें रस रूप और स्पर्श—इन सब गुणों का प्रत्यक्ष होता है। अतएव यह मानना होगा कि पृथिवी में उपर्युक्त चार गुणों का समावेश रहता है इसी तरह से जब जल में तेजस् तथा वायु का संसर्ग छूट जाता है तो भी वहाँ रूप तथा स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है अतएव जल में उक्त तीनों गुण रहते हैं। किसी तेजस पदार्थ में वायु का पूर्वकालिक संबंध यदि नष्ट हो जाय तो उसमें स्पर्श का प्रत्यक्ष होगा अतएव तेजस द्रव्य में रूप की तरह स्पर्श गुण भी मानना होगा।

अब प्रश्न उठता है कि गन्ध आदि चार गुण पृथिवी में जब रहते ही हैं तो घ्राणेन्द्रिय से उन गुणों का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होगा ? इसका उत्तर देते हुए महर्षि गौतम (३।१।६८ सूत्र में) कहते हैं कि जिस इन्द्रिय में जिस गुण का उत्कर्ष रहता है। उस से उसी गुण का प्रत्यक्ष होता है। घ्राण पार्थिव द्रव्य है, उसमें यद्यपि गन्ध, रूप, रस तथा स्पर्श—इन चार गुणों का समावेश रहता है तथापि गन्ध का ही उत्कर्ष रहता है अतएव उससे गन्ध का ही प्रत्यक्ष होता है। इसी तरह रसनेन्द्रिय जलीय द्रव्य है अतएव रस, रूप तथा स्पर्श उसमें रहते हैं किन्तु वहाँ उत्कर्ष रस का ही रहता है अतएव उससे केवल रस का प्रत्यक्ष होता है। चक्षुष् इन्द्रिय तैजस् पदार्थ है। यद्यपि रूप तथा स्पर्श उसमें रहते हैं किन्तु उत्कर्षवशात् रूप का ही उससे प्रत्यक्ष होता है। त्वक् इन्द्रिय में केवल स्पर्श गुण ही रहता है। अतएव उससे स्पर्श का ही प्रत्यक्ष होता है। किन्तु सभी इन्द्रिय अतीन्द्रिय अर्थात् अप्रत्यक्ष होते हैं। श्रवणेन्द्रिय से तद्गत शब्द का प्रत्यक्ष होता है। किन्तु घ्राण आदि इन्द्रियों से तद्गत गन्ध आदि गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता है। गौतम इसका कारण कहते हैं कि घ्राण आदि इन्द्रियों में जो गन्ध आदि गुण रहते हैं उस गुणविशिष्ट द्रव्य को ही इन्द्रिय कहा जाता है। अतएव स्व को = अपने को ग्रहण करने वाला स्वयं नहीं हो सकता है।

यथार्थ में सभी द्रव्यों तथा गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता है। चक्षुष् इन्द्रिय तथा उसके रूप का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है ? इसका उत्तर महर्षि गौतम पहले ही दे चुके हैं—'द्रव्यगुण धर्म भेदाच्चोपलब्धि नियम' ३।१।३७। अभिप्राय यह है कि जिस द्रव्य तथा जिस गुण में प्रत्यक्ष का प्रयोजक धर्म रहता है केवल उसी द्रव्य और गुण का प्रत्यक्ष होता है। केवल उद्भूतत्व धर्म से युक्त रूपविशेष और उस रूप से युक्त द्रव्य का ही प्रत्यक्ष होता है। यद्यपि रूप चक्षुष् में भी है किन्तु वह उद्भूत धर्म विशिष्ट नहीं है। अर्थात् चक्षुष् में उद्भूत रूप नहीं है। घ्राण, रसना और त्वक् इन्द्रियों में जो गुण विद्यमान हैं उनमें प्रत्यक्ष प्रयोजक उद्भूतत्व नहीं है इसलिए प्रत्यक्ष नहीं होता है—प्रतीत होता है कि यही महर्षि गौतम का अन्तिम अभिप्राय है। जैसे पाषाण आदि कठिन द्रव्यों में गन्ध रहने पर भी उसमें गन्ध की उत्कटता नहीं है इसी से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसी तरह से घ्राणगत गन्ध का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसी तरह से रसना आदि इन्द्रियों में रहने वाले रस आदि गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता है।

पाँचवाँ प्रमेय बुद्धि है। जिसके द्वारा ज्ञान होता है—इस अर्थ में निष्पन्न 'बुद्धि' शब्द से जीव का अन्तःकरण अथवा मनस् बुद्धि पद से लिया

जाता है। महर्षि गौतम बाद मे इसी अर्थ में बुद्धिपद का प्रयोग किए हैं। किंतु वे प्रमेय रूप में जिस बुद्धि की चर्चा करते हैं वह आत्मा का प्रयत्न आदि ज्ञान रूप है। ज्ञानार्थक 'बुध' धातु से भाव में क्तिन् प्रत्यय करने पर बुद्धि शब्द बनाने से उसका ज्ञानरूप अर्थ ही लिया जा सकता है। गौतम के मत में इसी को उपलब्धि भी कहते हैं। महर्षि गौतम स्वयं बुद्धि का स्वरूप दिखाते है—'बुद्धिरुपलब्धिज्ञान मित्यनर्थान्तिरम्' बुद्धि उपलब्धि या ज्ञान भिन्न पदार्थ नही हैं। जिसे ज्ञान या उपलब्धि कहा जाता है वही बुद्धि है।

सांख्य मत में प्रकृति का प्रथम परिणाम बुद्धि है उसी का नाम अन्त करण भी है। ज्ञान उसी अन्त करण का परिणाम या प्रवृत्ति है। वह अन्त.करण का ही यथार्थ धर्म है।

गौतम इस मत का सयुक्तिक खण्डन किए हैं। सांख्य मत मे जड़ अन्त करण जानता है और आत्मा (चेतन पदार्थ) उसी की उपलब्धि करता है। *किन्तु यह सर्वथा अनुभव विरुद्ध वस्तु है। क्योंकि किसी विषय का विशिष्ट* ज्ञान जब जीव को होता है तब 'मैं इसे जानता हूँ' 'मैं इसे उपलब्ध करता हूँ' इस तरह का मानस प्रयत्न जीवात्मा को होता है। अतएव यह अनुभव से सिद्ध है कि ज्ञान और उपलब्धि भिन्न पदार्थ नहीं हैं। जीव ही उसका आधार है। सांख्य का यह कहना है कि अन्त करण की वृत्तिरूप ज्ञान के साथ आत्मा का अवास्तव सम्बन्ध है। जिसे उपलब्धि कहते हैं। वह कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है। किन्तु नैयायिक कहता है कि उपलब्धि का अयथार्थ कहना अनुभव विरुद्ध है। चन्द्रमण्डल में सूर्यमण्डल की तरह अन्त:करण में आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ना भी सभव नहीं है। क्योंकि रूप से रहित निर्विकार पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं होता है। भले ही सांख्य आदि संप्रदाय नीरूप पदार्थ का प्रतिबिम्ब मानें किन्तु कणाद तथा गौतम के सिद्धान्त में वह मान्य नहीं होगा।

महर्षि गौतम तथा कणाद को यह मान्य नहीं है कि अन्त:करण का ही परिणाम (भेद) मनस्, बुद्धि तथा अहङ्कार इन नामों से प्रसिद्ध है। इनके मत में मनस् अन्तरिन्द्रिय है इसी का दूसरा नाम अन्त.करण है। जीव का अनज्ञान विशेष अहङ्कार या अभिमान है और बुद्धि तो उपर्युक्त रीति से प्रसिद्ध ही है। किन्तु कर्तव्य निश्चयात्मक बुद्धि को भी बुद्धि पद से लिया जाता है। उपनिषद में इसी बुद्धि को सारथि कहा गया है। इसी तरह से शास्त्रों में अनेक विशेष अर्थों में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है। किन्तु सारांश यही है कि महर्षि गौतम तथा कणाद के मत में ज्ञान, बुद्धि और उपलब्धि एक ही पदार्थ है और वह जीव से उत्पन्न होता है। जीवात्मा

अन्तःकरण की कर्तृता और सुख दुःख आदि का अभिमान करता है—यह कहने पर भी आत्मा से ज्ञान की उत्पत्ति माननी होगी। क्योंकि कर्तृता तथा सुख दुःख आदि अन्तःकरण का वास्तव धर्म है। यह मानने की बात नहीं है कि अन्तःकरण को ही इस विषय में भ्रम होगा। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि अन्तःकरण में स्थित उस ज्ञान के साथ आत्मा का अवास्तव संबन्ध ही उसका अभिमान है। भ्रमात्मक ज्ञान विशेष से भिन्न अर्थ में अभिमान शब्द के व्यवहार में सर्वसम्मत एक भी प्रमाण नहीं है।

छठा प्रमेय मनस् है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जीव के सुख तथा दुःख आदि के मानस प्रत्यक्ष का कारण अन्तरिन्द्रिय मनस् है। मनस् के अस्तित्व साधक इस तरह के अनेक हेतुओं के रहने पर भी महर्षि गौतम अपने एक विशेष हेतु को दिखाने के लिए कहते हैं—'युगपज् ज्ञानानुत्पत्ति-र्मनसो लिङ्गम्' १।१।१६। एक समय में अनेक इन्द्रियों से अनेक विषयों के प्रत्यक्ष का नहीं होना मनस् का हेतु है। तात्पर्य यह है कि जिस काल में किसी विषय के साथ किसी इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है उस समय में अन्य विषय के साथ अन्य इन्द्रिय के सन्निकर्ष रहने पर भी एक समय में अनेक विषयों का प्रत्यक्ष नहीं होता है। किन्तु समय के विलम्ब से ही अपर प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। इसी से अनुमान के आधार पर सिद्ध होता है कि जीव के शरीर में इस तरह के पदार्थ अवश्य हैं जिसके संयोग इन्द्रिय से यदि नहीं रहे तो उस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता है। वह पदार्थ परमाणु की तरह अति सूक्ष्म है अतएव एक समय में अनेक इन्द्रियों से उसका संयोग नहीं हो सकता है। इसी से एक समय में अनेक इन्द्रियों से विभिन्न विषयों का प्रत्यक्ष सर्वथा असंभव है। इसी लिए मन का यह भी लक्षण कहा जा सकता है कि इन्द्रिय के साथ जिसका संयोग होने पर उस इन्द्रिय से ग्राह्य विषय का प्रत्यक्ष होता है और जिसके संयोग के अभाव में अन्य कारणों के रहने पर भी प्रत्यक्ष नहीं होता है वही अति सूक्ष्म द्रव्य मनस् है। महर्षि गौतम उक्त सूत्र के द्वारा इस लक्षण को भी सूचित करते हैं। इसी हेतु के आधार पर यह भी सूचित होता है कि जीव के देह में यह एक ही मनस् रहता है। वह अणु अर्थात् परमाणु की तरह अति सूक्ष्म होता है। जीव के शरीर में एक से अधिक मनस् की सत्ता यदि मान ली जाए तो एक काल में विभिन्न इन्द्रियों के साथ अनेक मनस् का संयोग सम्भव हो जाएगा जो अनेक विषयों का प्रत्यक्ष एक काल में करा देगा। उस एक ही मन को यदि शरीरव्यापी मान लिया जाए तो एक समय में सभी इन्द्रियों के साथ उसका

सयोग होना सम्भव हो जाएगा, जिससे अनेक विषयों का प्रत्यक्ष अनेक इन्द्रियों से एक समय में होने लगेगा।

किन्तु महर्षि गौतम एक समय में विभिन्न ज्ञानों को नहीं मानते हैं। और प्रति शरीर में एक एवं अणु परिमाण विशिष्ट मनस् का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इसी से मनस् की परीक्षा के प्रकरण में वे स्पष्ट कहते हैं—'ज्ञानायौगपद्यादेकम् मन' 'यथोक्त हेतुत्वाच्चाणु' ३।२।५६ तथा ५६ सू०।

यद्यपि विभिन्न सम्प्रदाय एक काल म अनेक ज्ञानों का होना मानते हैं। सम्प्रदाय विशेष पांच इन्द्रियों का सहकारी पाँच मनस् का अस्तित्व प्रत्येक शरीर में मानता है। वैशेषिक दर्शन उपस्कार में शङ्करमिश्र ने भी इस मत का उल्लेख किया है। किन्तु महर्षि कणाद भी ज्ञान का यौगपद्य अर्थात् एक काल में अनेक ज्ञानों का होना स्वीकार नहीं करते हैं। वैशेषिक दर्शन में वे भी कहते हैं कि मनस् एक है और अणु है। 'प्रयत्नायौगपद्याज् ज्ञानायौगपद्याच्चैकम्' ३।२ ३ वै० सू०। 'तद् भावादणु मन' ७।१।२३।

महर्षि गौतम बाद मे मनस् की परीक्षा के प्रकरण में उसके विभुत्व का खण्डन करते हैं—'न गत्यभावात्' ३।२।६८। मनस् विभु (सर्वव्यापी) नहीं है। विभुद्रव्य में गति = क्रिया नहीं रहती है और मनस् में वह है इसी से यह चञ्चल है। शरीर में द्रुतगति से मनस् का व्यापार चलता रहता है। मृत्यु के समय म मनस् शरीर म बाहर चला जाता है। अतएव वह विभु नहीं हो सकता है।

यथार्थ में यह मानना चाहिए कि मनस् गमनशील = चञ्चल है। भगवद्गीता कहती है—'चञ्चल हि मन कृष्ण, प्रमाथि बलवद् दृढम्' ६।३४। किन्तु श्रुति कहती है—'अ यत्र मना अभूवम् नादर्शम्, अन्यत्र मना अभूवम् नाश्रौषम्, इति। मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति (बृहदारण्यक १।५।३) इस श्रुति म 'अन्यत्र मना'—पद से अन्य मनस्क रूप अर्थ लिया जाता है। वास्तव में किसी समय में व्यक्ति बात ही नहीं सुन पाता है समीप के व्यक्ति को भी नहीं देखता है और बाद में कहता है—मैं अन्यमनस्क था कुछ भी नहीं सुन सका आदि। किन्तु उसकी वह अन्यमनस्कता कैसे सम्भव हो सकती है। कणाद तथा गौतम के मत में जिस समय में किसी का मनस् उधर किसी बाह्य इन्द्रिय से युक्त होकर स्थिर रहता है उस समय म उस व्यक्ति को अन्यमनस्क कहा जाता है। उस समय म उसके अन्य इन्द्रिय के साथ मनस् संयुक्त नहीं रहता है अतएव इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता है। किन्तु मनस् मे अत्यधिक द्रुतगति है। अतएव शीघ्र ही अन्य इन्द्रियों से संबद्ध होकर

प्रत्यक्ष उत्पन्न कराता है। किन्तु किसी किसी समय मे क्षण विलम्ब के अभाव में भी अनेक इन्द्रियाँ अनेक प्रत्यक्ष कराती हैं जिसे यौग पद्य भ्रम कहते हैं।

महर्षि गौतम दृष्टान्त देकर इसका समर्थन करते हैं और कहते हैं कि—'अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धिराशु सञ्चारात्' ३।२।५८। आधुनिक समय की आतिशबाजी की तरह प्राचीन समय में अलातचक्र नामक यन्त्र विशेष हुआ करता था। उस यन्त्र को फेंकते ही उसमें चारों ओर घूमने की क्रिया देखी जाती थी। ये सारी क्रियाएँ यद्यपि एक क्षण में नहीं होती थीं किन्तु भ्रम होता था कि एक ही समय में होती हैं। अलात-चक्र का आशु सञ्चार=शीघ्र गमन उस भ्रम का कारण (दोष) होता है। इसी तरह से अनेक इन्द्रियजन्य अनेक प्रत्यक्ष एक काल में होते हैं—यह भी भ्रम है और इसका कारण शरीर में मनस की द्रुतगति रूप दोष है।

भाष्यकार वात्स्यायन इस मत का समर्थन करते हैं और कहते हैं कि किसी स्थल में गन्ध आदि नाना विषयों का एक काल में जो प्रत्यक्ष होता है—यह सर्वसम्मत दृष्टान्त नहीं हो सकता है। किन्तु अनेक स्थलों में क्रमशः उत्पन्न नाना क्रियाओं के यौगपद्य का जो भ्रम होता है—इस विषय में गौतम का कहा हुआ दृष्टान्त तथा अन्य अनेक दृष्टान्त सर्वसम्मत हैं। अतएव इस दृष्टान्त में भ्रम के अभाव में विभिन्न क्षणों में उत्पन्न गन्ध आदि कितने विषयों के प्रत्यक्ष में यौगपद्य बुद्धि को भी भ्रम कहा जाता है। वात्स्यायन और भी अनेक कथाओं को कहे हैं। जो भी हो, महर्षि गौतम तथा कणाद के उक्त मत में बहुत विवाद रहने पर भी मनस् के अणुत्व तथा एकत्व के विषय में विवाद नहीं है। चरकसंहिता के शारीरस्थान में भी कहा गया है—'अणुत्वमथ चैकत्वम् द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ' (१ म० अ०) सांख्य सूत्रकार भी कहते हैं—'अणुपरिमाणम् तत्कृतिश्रुतेः'[१] ३।१४।।

किन्तु परिणामवादी सांख्य सम्प्रदाय के मत में मनस् का परिणाम होता है। इनके मत से प्रत्येक जड़ पदार्थ प्रतिक्षण परिणामी है। अद्वैत वेदान्त के आचार्य

१. सांख्य सूत्र की वृत्तिकार अनिरुद्ध भट्ट इस सूत्र के अनुसार मनस् के अणुत्व सिद्धान्त को कहते हैं। किन्तु योगदर्शन भाष्य में (४।१०) व्यासदेव की उक्ति की व्याख्या में योगवार्तिक में विज्ञानभिक्षु सांख्य मत में देह का परिमाण है और पतञ्जलि के मत में मन विभु है। इस मत में विभु मनस् का सङ्कोच और विकाश नहीं होता है किन्तु उसकी वृत्ति का सङ्कोच और विकास होता है। न्यायकुसुमाञ्जलि में (३।१) महानैयायिक उदयनाचार्य युक्तियों के द्वारा मनस् के विभुत्ववाद का खण्डन किए हैं।

विद्यारण्य मुनि—'जीवन्मुक्ति विवेक' ग्रन्थ में कहते हैं—'सावयवमनित्यम् सर्वत्र जतुसुवर्णादिवत् बहुविधपरिणामार्हम् द्रव्य मनः'। किन्तु आरम्भवादी गौतम और कणाद के मत में मनस् सावयव नहीं हो सकता है। क्योंकि इन लोगों के मत में वैसा जन्य भूत का मूल अवयव परमाणु है और मनस् भौतिक द्रव्य नहीं है। शास्त्रों में भी पञ्चभूत से पृथक् रूप में मनस् का उल्लेख किया गया है। मनस् का मूल कोई सूक्ष्म भूत (परमाणु) नहीं है। अत एव यही मानना चाहिए कि मनस् निरवयव, परमाणु की तरह अति सूक्ष्म और नित्य है। इस मत में मनस् का परिणाम सकोच विकास आदि नहीं होता है। क्योंकि परिणाम सावयवद्रव्य का ही होता है और मनस् निरवयव द्रव्य है। इस मत में प्रत्येक जीव में एक नित्य मनस् रहता है। 'अनादि काल से ही जीव पूर्वजन्मार्जित अदृष्ट की महिमा से उस मनस् के साथ नूतन शरीर में प्रवेश करता है।'[1] स्थूल शरीर में उस मनस् का प्रवेश और जीव के साथ उसके विलक्षण सयोग की उत्पत्ति ही मनस् की सृष्टि कही जाती है। मनस् के साथ जीव के विलक्षण सयोग के बिना उसमें (जीव में) ज्ञान आदि किसी गुण की स्थिति सभव नहीं है। जीव की उपाधि को और मनस् की अतिसूक्ष्मता एव अणुता को लेकर श्रुति कहती है—वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीव स विज्ञेय । (श्वेताश्वतर)। इस से ज्ञात होता है कि जीव केश के अग्रभाग के शतांश परिमाणशाली होता है अर्थात् परमाणु की तरह अतिसूक्ष्म होता है। जीव शब्द का वाच्यार्थ मनोरूप उपाधि विशिष्ट जीवात्मा होता है जिसमें उपाधि भूत मनस् भी परमाणु की तरह अति सूक्ष्म है। अन्यथा विभु व्यापी जीव की उक्त रूप अणुता सिद्ध ही नहीं हो सकती है। सारांश यह है कि जीव की विभुता स्वाभाविक है और अणुता औपाधिक है।[2]

---

१. योग दर्शन में (४।४) कहा गया है कि कायव्यूहकारी योगियों को बहुत मनस् की सृष्टि होती है। उन मनस् को सावयव माना गया है। योगी योगशक्ति के बल पर बहुत शरीर की तरह बहुत मनस् को भी सृष्टि कर सकते हैं और वे एक समय में बहुत शरीरों में बहुत मनस् के द्वारा सुख दुःख का भोग भी करते हैं। तात्पर्य टीकाकार वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि कायव्यूह करने वाले योगी अपने सृष्ट शरीरों में मुक्त पुरुषों के उन मनस् का सञ्चालन करके प्रविष्ट कराते हैं। किन्तु वाचस्पति मिश्र इस विषय में कुछ प्रमाण नहीं कहते हैं।

२ हिरण्यदासनिक श्वेताश्वतर उपनिषद् के—'वालाग्रशतभागस्य' इत्यादि श्रुतिवाक्य के आधार पर जीवात्मा को स्वतः अणु कहते हैं। वेदान्त-दर्शन के बादरायण सूत्र से भी इसे सिद्धान्त कह कर ही व्याख्या करते हैं।

इसी तरह अन्तर्यामी परमात्मा को भी उपाधि विशेष के द्वारा अणु बनाकर किसी किसी शास्त्र में 'अङ्गुष्ठमात्र पुरुष' कहते हैं। इसी तरह जीव की उपाधि–मनस् की अणुता को लेकर उसको किसी किसी स्थल में अङ्गुष्ठमात्र पुरुष कहा गया है। अङ्गुष्ठ मात्र पद का अर्थ होता है अति सूक्ष्म। जैसे महाभारत के वनपर्व में कहा गया है—'अङ्गुष्ठमात्र पुरुष निश्चकर्ष यमो बलात्' १९६ अ० १७। सावित्री का स्वामी सत्यवान् के शरीर से अङ्गुष्ठमात्र पुरुष को यम पकड़कर ले गया। सांख्य आदि अनेक सम्प्रदायों में प्रतिपादित है कि स्थूल शरीर में लिङ्ग शरीर अथवा सूक्ष्मशरीर (जिसे उपर्युक्त श्लोक में अङ्गुष्ठमात्र पुरुष कहा गया है)—रहता है। किन्तु न्याय वैशेषिक के मत में मरण समय में जीव का प्राण से युक्त मनस् ही शरीर से निकल जाता है। उस मनस् की सूक्ष्मता के कारण ही आत्मा को अङ्गुष्ठमात्र पुरुष कहते हैं। प्राण से युक्त उस मनस् का आकर्षण ही उस श्लोक में पुरुष के आकर्षण निर्दिष्ट है। महाभारत में उस श्लोक के बाद—'तत समुद्धृत प्राणम् गतश्वास हत प्रभम्' कहा गया है इत्यादि पद से भी यही ज्ञात होता है। अभिप्राय यह है कि न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय के मत से जीव का नित्य मनस् परमाणु की तरह अति सूक्ष्म है। इसी का नामान्तर अन्त करण, चित्त, हृदय आदि हैं। कोषकार अमरसिंह भी कहते हैं—'चित्त तु चेतो हृदय स्वान्त हृन्मानस मन'।

सातवाँ प्रमेय प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति पद का अर्थ होता है मनुष्यों का शुभाशुभ कर्म। यह तीन प्रकार का होता है—शारीरिक, वाचनिक और मानसिक। इसी को गौतम कहते हैं 'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ' १।१।१७। जो आरब्ध

किन्तु न्याय वैशेषिक आदि सम्प्रदाय के मत में जीवात्मा का स्वभावत विभुत्व ही शास्त्रसिद्ध और युक्तिसिद्ध है। इस मत में—'महान्त विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति' (क० उप०) इत्यादि श्रुति और अन्य शास्त्र वाक्यों के अनुसार परमात्मा की तरह जीवात्मा भी विभु होता है। इस श्वेताश्वतर उपनिषद् की 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव' इत्यादि श्रुति वाक्य से कहा गया है कि जीवात्मा का स्वकीय गुण परम महत्त्व से भी 'अवर' अर्थात सब से बड़ा होने पर भी उस की बुद्धि अर्थात् मनस् के गुण अणुत्व से हो—'आराग्रमात्र'। अधिक तेज (तीक्ष्ण) सुई विशेष का नाम आरा है। उस का अगला भाग अधिक तेज होता है। इस श्रुति वाक्य के अनुसार 'वेदान्त परिभाषा' में अद्वैतवादी धर्मराज कहते हैं—'एतेन जीवस्याणुत्वम् प्रयुक्तम्। बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्ट' इत्यादौ जीवस्य बुद्ध्याद्यवच्छिन्नान्त करणपरिमाणोपाधिकस्य परमाणुत्वप्रश्रवणात्'।

होता है अर्थात् आरम्भ किया जाता है इस अर्थ में आरम्भ शब्द सूत्र में व्यवहृत हुआ है जिसका अर्थ शुभ और अशुभ कर्म होता है। भाष्यकार वात्स्यायन कहते हैं—'मनोऽत्रबुद्धिरित्यभिप्रेतम्। बुद्ध्यतेऽनेनेतिबुद्धि.'। इसलिए उक्त सूत्र से ज्ञात होता है कि वागारम्भ अर्थात् वाचिक शुभाशुभ कर्म, बुद्ध्यारम्भ = मानसिक शुभाशुभ कर्म और शरीरारम्भ = शारीरिक शुभाशुभ कर्म—इस तरह से तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं। महर्षि गौतम न्यायदर्शन के द्वितीय सूत्र में उपर्युक्त त्रिविध शुभाशुभ कर्मजन्य धर्म और अधर्म को प्रवृत्ति कहे हैं। किन्तु वह प्रवृत्ति शब्द का मुख्य अर्थ नहीं है। उद्योतकर गौतम के मत की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है। कारण रूप और कार्य रूप। मानव के धर्म और अधर्म का कारण रूप शुभ और अशुभ कर्म कारणात्मक प्रवृत्ति है। और उसका कार्य या फल धर्म और अधर्म कार्यात्मक प्रवृत्ति है।

आठवाँ प्रमेय दोष है। जीवात्मा का राग, द्वेष तथा मोह इन तीनों को दोष कहते हैं। यह प्रवृत्ति का जनक उत्पादक होता है। इसीलिए महर्षि गौतम प्रवृत्ति के बाद उसके कारण दोष को कहते हैं। 'प्रवर्तनालक्षणादोषा.' १।१।१८। प्रवर्तना पद का अर्थ है प्रवृत्ति जनकत्व। यह प्रवर्तना जिसका लक्षण है वही दोष पद से कहा जाता है। विषय में आसक्तिरूप राग, द्वेष तथा मोह जीवात्मा को शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त कराता है। काम, मत्सर तथा असूया प्रभृति बहुत प्रकार के दोष हैं किन्तु सभी दोष उक्त त्रिविध दोष के अन्तर्गत हैं। इसी से गौतम कहते हैं—'तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात्' ४।१।३। राग, द्वेष और मोह—ये तीन दोष हैं। इन में भी मोह सब से अधम है। इस विषय में गौतम की मान्यता पहले ही (पाँचवें अध्याय में) कही जा चुकी है।

नौवाँ प्रमेय प्रेत्य भाव है। प्र पूर्वक 'इण्' धातु से क्त्वा प्रत्यय करने पर 'प्रेत्य' शब्द बनता है जिस का अर्थ होता है—मरण के बाद। भाव शब्द का अर्थ है जन्म। जीव के धर्म और अधर्म रूप प्रवृत्ति का फल है जीव का पुनर्जन्म होना। धर्म और अधर्म दोषमूलक है अतएव जीव का पुनर्जन्म भी परम्परया दोष मूलक ही सिद्ध हुआ। महर्षि गौतम इसका लक्षण करते हैं—'पुनरुत्पत्ति. प्रेत्यभाव.'। १।१।१९ जीवात्मा नित्य है अतएव उसकी उत्पत्ति एवं विनाश नहीं होता है। अनादिकाल से ही जीव बारम्बार स्थूल शरीर विशेष का परिग्रह करता है जो इस सूत्र में 'पुनरुत्पत्ति' पद से विवक्षित है। बाद में इस विषय में प्रमाण दिखाने के लिए महर्षि गौतम कहते हैं—'आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभाव सिद्धि' ४।१।१० जीवात्मा के नित्य होने से ही उसका पुनर्जन्म या प्रेत्यभाव

सिद्ध होता है। अभिप्राय यह है कि न्यायदर्शन के तृतीय अध्याय में जीवात्मा के नित्यत्व साधक जो युक्तियाँ कही गई हैं उन युक्तियों से ही उसका पुनर्जन्म भी सिद्ध होता है। इस विषय में गौतम के द्वारा कही गई युक्तियाँ एवं अन्यान्य बातें पहले ही (पाँचवें अध्याय में) कही जा चुकी हैं।

दसवाँ प्रमेय फल है। इसके दो प्रकार हैं—मुख्य और गौण। जीव के सुख तथा दुःख का भोग उसका मुख्य फल है और उसका साधन देह तथा इन्द्रिय प्रभृति गौण फल है। जीव का फलमात्र ही उसका पूर्वजन्म कृत धर्म और अधर्म से उत्पन्न होता है और वह धर्माधर्म उस के दोष से होता है। महर्षि गौतम फल का लक्षण करते हैं—'प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम्' १।१।२०। धर्म और अधर्म रूप प्रवृत्ति और राग द्वेष आदि दोष से उत्पन्न पदार्थ मात्र ही जीव का फल है। वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि धर्म और अधर्म रूप प्रवृत्ति की तरह जीव के सुखदुःख आदि फल के प्रति भी उस का राग एवं द्वेष आदि दोष कारण होता है। इसी को स्पष्ट करने के लिए गौतम उस सूत्र में प्रवृत्ति शब्द के बाद दोष पद का व्यवहार किए हैं। दोष रूप जल से सिक्त आत्म रूप भूमि में धर्म और अधर्म रूप बीज सुख और दुःख रूप फल को उत्पन्न करता है। गौतम चतुर्थ अध्याय में याग आदि कर्मों से होने वाले स्वर्ग आदि फल जो कालान्तर में समुत्पन्न होता है वह ऐहिक फल नहीं है—इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए इसी से परलोक का भी समर्थन करते हैं। शुभ और अशुभ कर्मों से उत्पन्न धर्म और अधर्म रूप गुण—जो कर्म—कर्ता रूप जीव में ही उत्पन्न होते हैं—कालान्तर में स्वर्ग और नरक आदि फल का कारण है—यह सिद्धान्त भी व्यक्त होता है।

ग्यारहवाँ प्रमेय दुःख है। दुःख क्या है—इसका ज्ञान जब तक नहीं होता है तब तक अपवर्ग प्राप्ति का अधिकार ही नहीं मिलता है। अतएव महर्षि गौतम दुःख के कारण शरीर आदि फल पर्यन्त प्रमेय पदार्थों के उद्देश एवं लक्षण को कह कर अपवर्ग से पहले दुःख का उद्देश एवं लक्षण करते हैं—'बाधना लक्षणम् दुःखम्' १।१।२१। भाष्यकार इसकी व्याख्या में कहते हैं—'बाधना, पीड़ा ताप इति' बाधना पीड़ा और ताप एकार्थवाचक है अर्थात् पर्याय है। सभी प्राणियों का मनोभाव दुःख ही उपर्युक्त बाधना आदि शब्दों से लिया जाता है। प्राचीन आचार्यों के मत से इस के तीन प्रकार होते हैं—'आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक'। यह 'त्रिताप' पद से भी प्रसिद्ध है। दुःख स्वभाव से ही अप्रिय पदार्थ है। प्रतिकूल रूप ही उसकी अनुभूति होती है,

अथवा मानस प्रत्यक्ष होता है। प्राचीन आचार्यगण ने दुःख का लक्षण यह बना दिया है—'प्रतिकूलवेदनीयम्'।

भाष्यकार दुःख के लक्षण सूत्र की व्याख्या में कहते हैं कि जो दुःख से युक्त है वह भी दुःख है। जहाँ सुख है उस स्थान में भी दुःख अवश्य रहता है। सुख मात्र में दुःख का अविनाभाव रूप सम्बन्ध है जिससे दुःखानुषङ्ग की प्रतीति होती है। *इस लक्षण के अनुसार जीवों का सुख भी दुःख ही है* और दुःख के कारणरूप शरीर आदि भी दुःखात्मक ही है। जीव का शरीर उसके सकल दुःखों का गृह है। शरीर में सभी दुःखों की निमित्तता=कारणता रहती है अतएव दुःख से अनुविद्ध भी है। जीवों के दुःख का साधन इन्द्रिय समूह और उनसे ग्रहण करने योग्य विषयसमूह और उन विषयों का ज्ञान दुःख के साधन होते हैं अतएव उन स्थलों में दुःखानुषङ्ग है अर्थात् ये सब पदार्थ भी दुःख हैं। सभी जीवों का अनुभव रूप दुःख भी दुःख से अनुविद्ध है इसी से उस में दुःख पद का मुख्य व्यवहार होता है। अभिप्राय यह है कि भाष्यकार शरीर आदि को तथा *सुख को भी गौण दुःख रूप में मानते हैं। वार्तिककार उद्योतकर*[1] भी इसी तरह की व्याख्या कर के एकैस प्रकार के दुःखों को गिनाया है। उन सभी दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति की ही मुक्ति के रूप में व्याख्या की गई है।

वास्तव में पूर्वोक्त शरीर आदि सुख पर्यन्त सभी पदार्थों को दुःख पद के वाच्य नहीं होने पर भी इन सबों की दुःख रूप में भावना करनी चाहिए। इसी से महर्षि गौतम प्रमेय वर्ग में सुख का उल्लेख नहीं किए हैं। वे पश्चात् कहते हैं—'बाधनाऽनिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः। दुःख विकल्पे सुखाभिमानाच्च' ४।१।५६-५७। नाना प्रकारों के सुखों की आकाङ्क्षा को बहुत दोष से युक्त देख कर नाना दुःखों के कारण होने से सुख के इच्छुक जीवों के दुःख की निवृत्ति नहीं होती है। सुख की इच्छा रखने वाला मनुष्य नाना प्रकार के दुःख में सुख के अभिमान से सुख और उसके साधन विषय समूहों में आसक्त हो कर राग तथा द्वेष आदि दोष के कारण से नाना कर्मों को कर के उसके फल स्वरूप पुनः पुनः जन्म, जरा तथा नाना प्रकार के व्याधि आदि से नाना दुःखों का भोग करते हैं। अतएव जो मुमुक्षु होगा वह शरीर आदि की तरह

---

[1] जीवों के दुःख का घर शरीर है और उस दुःख का साधन घ्राण आदि छओं इन्द्रियाँ और उन इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य विभिन्न विषय, उन विषयों का छओं प्रकार के ज्ञान और सुख ये बीस प्रकारों के गौण दुःख हैं और एक मुख्य दुःख (प्रतिकूल वेदनीयरूप) है—अतएव सब मिलाकर एकैस प्रकारों के दुःख कहे गये हैं।

सुख को भी दुःख रूप में भावना करता है। सभी प्रकार के सुखों को दुःखरूप में भावना करने पर नाम में आसक्ति नहीं रहती है अथवा दूसरे शब्द में वैराग्य हो जाता है। इसी से सुख के लिए अनेक कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति भी नहीं होगी। किन्तु मुमुक्षुओं के प्रमेय वर्ग में सुख का उल्लेख करने से सुखत्व रूप में उसके तत्त्व ज्ञान से सुख को भी सुख कहकर मुमुक्षुओं को ध्यान करना होगा। किन्तु वह ध्यान मुमुक्षुओं के वैराग्य का विरोधी है। मुमुक्षुगण सुख को भी दुःख रूप में ही ध्यान करते हैं। इसीसे गौतम प्रमेयवर्ग में सुख का उल्लेख नहीं करते हैं। अन्य कितने सूत्रों में सुख का उल्लेख करते हैं अतः वे सुख पदार्थ को नहीं मानते हैं—यह कदापि नहीं कहा जा सकता है।

बारहवाँ प्रमेय अपवर्ग है। महर्षि गौतम इसका लक्षण करते हैं 'तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः' १।१।२२। पूर्व सूत्र में उक्त दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही अपवर्ग पदार्थ है। सुषुप्ति काल में तथा प्रलय आदि में जो सामयिक दुःख निवृत्ति होती है वह आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति नहीं है। जिस दुःख की निवृत्ति के बाद पुनः कदापि जन्म नहीं हो—अर्थात् दुःखोत्पत्ति के कारण का अभाव ही आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति है। इसी का दूसरा नाम अपवर्ग है। गौतम चतुर्थ अध्याय में अपवर्ग की परीक्षा करते हुए पहले उसकी असंभवता दिखाई है। इस पूर्वपक्ष का समर्थन एवं खण्डन करके प्रतिपादित करते हैं कि अपवर्ग को मानना आवश्यक है। इस विषय में बहुत सी बातें पहले ही (द्वितीय अध्याय में) कही जा चुकी हैं।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि महर्षि गौतम उन बारह प्रमेयों में हेय और उपादेय रूप दिखाए हैं। जिन में शरीर आदि दुःखपर्यन्त दश प्रमेय हेय हैं अर्थात् त्याज्य हैं। और प्रथम तथा चरम अर्थात् आत्मा और अपवर्ग उपादेय (ग्रहण करने योग्य) हैं। आत्मा का उच्छेद किसी का काम्य नहीं हो सकता है। अतएव आत्मा और अपवर्ग को हेय कदापि नहीं कहा जा सकता है। आत्मा का परम एवं चरम लक्ष्य अपवर्ग ही चिरस्थायी होता है। किन्तु दुःख स्वभाव से ही अप्रिय है अतएव हेय है। योग दर्शन में पतञ्जलि भी कहते हैं—'हेयं दुःखमनागतम्'।'

———

पन्द्रहवाँ अध्याय

न्यायदर्शन में संशय आदि चौदह पदार्थों की व्याख्या

गौतम के सोलह पदार्थों में प्रमाण तथा प्रमेय पदार्थ का परिचय दिया जा चुका है। इस अध्याय में क्रमशः संशय आदि निग्रहस्थानपर्यन्त[1] चौदह पदार्थों से पाठकों का परिचय कराया जाता है। ये ही संशय आदि चौदह पदार्थ आन्वीक्षिकी विद्या अथवा न्यायशास्त्र के असाधारण प्रतिपाद्य हैं। अन्य किसी शास्त्र में इन संशय आदि पदार्थों का प्रतिपादन नहीं है। प्रस्थान के भेद से *ही विद्या या शास्त्र में भेद होता है। इसी से आन्वीक्षिकी त्रयी, वार्ता और* दण्डनीति—इन तीनों विद्याओं से भिन्न चौथी विद्या के रूप में शास्त्रों में कथित है।[2] इस आन्वीक्षिकी विद्या के भिन्न प्रस्थान होने के लिए संशय आदि चौदह पदार्थों का विशेष रूप से प्रतिपादन करना आवश्यक है। अन्यथा प्रस्थान भेद नहीं होने से विद्या अथवा शास्त्र में भेद नहीं हो सकता है। भाष्यकार *वात्स्यायन इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि इन चौदह पदार्थों का पृथक् उल्लेख* करके साङ्गोपाङ्ग वर्णन नहीं करने से यह विद्या उपनिषद् की तरह अध्यात्म विद्या मात्र कहला सकती है, इसे चतुर्थी विद्या=आन्वीक्षिकी नहीं कह सकते हैं। सामान्यतः प्रमाण तथा प्रमेय पदार्थों की व्याख्या भर कर देने से यदि सभी पदार्थों की चर्चा हो गई—यह कहा जाए तो संशय आदि चौदह *पदार्थों का विशेष ज्ञान नहीं हो सकता है। इसी से न्यायशास्त्र के वक्ता महर्षि गौतम* न्यायशास्त्र के असाधारण प्रतिपाद्य संशय आदि चौदह पदार्थों की व्याख्या अर्थात् पृथक् रूप से संशय आदि पदार्थों का लक्षण और उदाहरण आदि कहते हैं।

संशय

संशय गौतम के सोलह पदार्थों में तीसरा पदार्थ है। यह न्याय का पूर्वाङ्ग है। क्योंकि अज्ञात पदार्थ में और निश्चित पदार्थ में न्याय की प्रवृत्ति नहीं

---

१. *देखिए मनुसंहिता—अ० ७ श्लोक ४३। और महाभारत शान्तिपर्व अ० ३१८ श्लोक ४७।*

२. संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान—ये ही चौदह पदार्थ हैं।

होती है। जिस पदार्थ में किसी को सन्देह होता है उसी पदार्थ में न्याय की प्रवृत्ति होती है। महर्षि गौतम के द्वारा कहे गये प्रतिज्ञा आदि वाक्य समष्टियों का यथाक्रम उच्चारण करना ही 'न्याय' शब्द का अर्थ होता है।

वादी और प्रतिवादी के अपने-अपने सिद्धान्त म सशय नहीं रहता है। किन्तु मध्यस्थ के सन्देह को दूर करने के लिए वादी और प्रतिवादी प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव वाक्यों के प्रयोग से अपने पक्ष का स्थापन और परप क्ष का खण्डन करता है। इस न्याय प्रयोग का ही न्याय की प्रवृत्ति कहते है। मध्यस्थ का सशय ही इस का मूल है। इसी से महर्षि गौतम पहले प्रमाण और प्रमेय की व्याख्या कर के न्याय के पूर्वाङ्ग सशय का उद्देश करते हैं। और इसका लक्षण और कारण भेद प्रयुक्त प्रकार भेद की सूचना भी करते हैं। 'समानानेकधर्मोपपत्ते विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातो विशेषापेक्षो विमर्शः सशय' १।१।२३। इस सूत्र के विमर्श शब्द से सशय के सामान्य लक्षण की सूचना मिलती है। वि शब्द का अर्थ है विरोध और मृश धातु का अर्थ है ज्ञान अतएव विमर्श शब्द का अर्थ होता है विरुद्ध पदार्थ का ज्ञान। फलितार्थ यह है कि किसी एक पदार्थ म नाना विरुद्ध पदार्थों का ज्ञान ही सशय पद से लिया जाता है। भाष्यकार वात्स्यायन आदि आचार्यगण इसको अनवधारण ज्ञान कहते हैं। अवधारण का अर्थ है निश्चय। किन्तु निश्चय का अभाव ही सशय नहीं है। क्योंकि जिस पदार्थ के विषय में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हुआ है उस विषय में निश्चय का अभाव है किन्तु इस स्थल में सशय नहीं होता है। क्योंकि जिस विषय का सशय होता है पहले से ही उस का सामान्य ज्ञान अवश्य रहता है। इस विषय का अवधारण नहीं किया जा सकता है अतएव तद्विषयक सशयात्मक ज्ञान को ही अनवधारण ज्ञान कहते हैं। विशेष धर्म का निश्चयात्मक ज्ञान उस विषय के सशयात्मक ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है। इस लिए जिस विषय के विशेष धर्म का निश्चय हो जाता है उसका सशय नहीं होता है। उक्त सूत्र के—'विशेषापेक्ष' इस पद से सूत्रकार को यही अभिप्रेत है। किन्तु इस पद के द्वारा ज्ञात होता है कि विशेष धर्म का स्मरण सशय मात्र म आवश्यक है। पहले ही किसी अन्य स्थल में उस विशेष धर्म की उपलब्धि हो जानी चाहिए।

इस सूत्र म—'समानानेकधर्मोपपत्ते' आदि पदों से सशय के पाच प्रकार सूचित होते हैं। प्रथम पद मे समान धर्म विशिष्ट धर्मी के ज्ञान से सशय के प्रथम प्रकार का होना और असाधारण धर्म विशिष्ट धर्मी के ज्ञान से सशय के दूसरे प्रकार का होना सूचित होता है। जैसे शाम म सुर्यास्त के समय में रास्ते

पर एक ठूंठ पेड़ खड़ा है, किसी ने उसे देखकर उसमें स्थाणुत्व (ठूंठ पेड़ को स्थाणु कहते हैं और उस में रहने वाला धर्म स्थाणुत्व है) है या मनुष्यत्व इस तरह से किसी एक विशेष धर्म के निर्णय नहीं होने पर यह स्थाणु है या मनुष्य यह संशय होता है। 'स्थाणुर्नवा पुरुषो नवा' यह आकार भी संशय का होता है। 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस संशय में स्थाणुत्व, उसका अभाव, पुरुषत्व और उसका अभाव—ये चारों ही विषय होते हैं। यह भी एकमत है। संशय के विशेषण के विषय में बहुत भेद है। जो भी हो सारांश यह है कि उक्त स्थल में उस दण्डायमान द्रव्य में स्थिर होकर खड़ा हुआ पुरुष का समान धर्म दीर्घ होना और विस्तार आदि के दर्शन से—'अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस आकार का संशय होता है[1] यह समान धर्म के ज्ञान से प्रथम प्रकार के संशय का उदाहरण हुआ। किन्तु समक्ष में स्थित उसी द्रव्य में स्थाणुत्व या मनुष्यत्व आदि किसी विशेष धर्म का निश्चय होने पर यह संशय नहीं होता है। अतएव सिद्ध होता है कि विशेष धर्म के निश्चय का अभाव संशय के प्रति कारण होता है।

इसी तरह से असाधारण धर्म विशिष्ट धर्मी के ज्ञान से संशय होता है। जैसे शब्द में नित्यत्व अथवा अनित्यत्व धर्म का निश्चय नहीं होने पर शब्द में रहने वाला असाधारण धर्म अर्थात् नित्य और अनित्य इन दोनों में नहीं रहने वाला शब्दत्व धर्म के ज्ञान से शब्द में नित्यता का सन्देह होता है। गौतम के मत में और भी कितने स्थलों में इस तरह से असाधारण धर्म विशिष्ट धर्मी के ज्ञान से संशय का दूसरा प्रकार होता है। किन्तु शब्द में नित्यत्व या अनित्यत्व किसी एक धर्म के निश्चय हो जाने पर उक्त रूप संशय नहीं हो सकता है।

गौतम 'विप्रतिपत्ते' कहकर विप्रतिपत्ति प्रयुक्त संशय का होना रूप उसके तीसरे प्रकार को कहते हैं। भाष्यकार की व्याख्या के अनुसार एक ही आधार

---

१ किन्तु नव्यनैयायिकों के मत में संशय का यह स्वरूप होता है—'अयं स्थाणुर्न वा' अथवा 'पुरुषो न वा'। किन्तु भाष्यकार आदि प्राचीन आचार्यगण केवल भाव पदार्थ कोटिक अथवा बहुभाव पदार्थ कोटिक संशय का प्रदर्शन करते हैं। इस विषय में वैशम्पा यणि दीधिति की व्याख्या में गदाधर भट्टाचार्य दोनों मतों में युक्ति दिखाते हुए विचार करते हैं। यथार्थ में दो भाव पदार्थों को अथवा उससे भी अधिक भाव पदार्थों को लेकर संशय हो सकता है यदि उसका कारण पहले उपस्थित रहे। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के पञ्चम अङ्क में—स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु कालिदास के इस श्लोक में तथा—किमिदं किं पद्मं किमु मुकुरबिम्बं किमु मुखम् इत्यादि पुनः उन्हीं महाकवि के श्लोक में बहुत भाव पदार्थों को लेकर भावकोटिक संशय का वर्णन किया गया है।

म विरुद्ध दो पदार्थों को कहने वाले दो वाक्य—उस विप्रतिपत्ति शब्द का अर्थ है। जैसे मीमांसक कहता है—शब्द नित्य है। नैयायिक कहता है—शब्द नित्य नहीं है। एक ही शब्द रूप अधिकरण में नित्यत्व और अनित्यत्व इन दो पदार्थों की स्थिति प्रमाण से सिद्ध नहीं है। उक्त विरुद्ध पदार्थों के प्रतिपादक दोनों वाक्यों के श्रवण से उन वाक्यार्थ के ज्ञान से मध्यस्थ को संशय होता है—शब्द नित्य है या अनित्य। वादी मीमांसक और प्रतिवादी नैयायिक मध्यस्थ के संशय को हटाने के लिए न्याय के प्रयोग से अपने सिद्धान्त की रक्षा करते हैं।

महर्षि गौतम उपलब्धि की अव्यवस्था से और अनुपलब्धि की अव्यवस्था से क्रमशः चौथे तथा पाँचवें प्रकार के संशय को कहते हैं। अतएव उपर्युक्त दोनों ही अव्यवस्थाएँ क्रमशः दोनों संशयों के प्रति कारण होती हैं। उपलब्धि की अव्यवस्था का अर्थ है उपलब्धि के नियम का अभाव। जैसे जलाशय में विद्यमान जल की उपलब्धि होती है और मरु मरीचिका में अविद्यमान जल की भ्रमात्मक उपलब्धि होती है। इससे प्रतीत होता है कि उपलब्धि विद्यमान पदार्थ की ही होती है अथवा अविद्यमान पदार्थ की ही—इस तरह का कोई नियम नहीं है। इसी तरह से भूगर्भ में स्थित अथवा अन्यत्र ही स्थित जल की उपलब्धि नहीं होती है और अविद्यमान पदार्थ कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। अतएव उपलब्धि की तरह अनुपलब्धि की भी अव्यवस्था है। अतएव किसी को यदि किसी वस्तु की उपलब्धि होती है तो वहाँ उस पदार्थ की स्थिति अथवा अविद्यमानता का निश्चय नहीं किया जा सकता है। अतएव उस स्थल में संशय होता है *कि उपलब्धि विद्यमान पदार्थ की होती है या अविद्यमान पदार्थ की।* यही संशय का चौथा प्रकार है। जिसका मूल उपलब्धि की अव्यवस्था है।

इसी तरह से किसी स्थान में किसी पदार्थ के उपलब्ध नहीं होने पर जब तक उसकी विद्यमानता या अविद्यमानता का निश्चय नहीं हुआ है तब तक संशय होता है कि क्या यहाँ विद्यमान पदार्थ की अनुपलब्धि हो रही है अथवा अविद्यमान पदार्थ की। यह अनुपलब्धि की अव्यवस्था से होने वाले संशय का पाँचवाँ प्रकार है।

भाष्यकार वात्स्यायन ने संशय सूत्र की व्याख्या इसी तरह से की है। न्यायसार[1] में भासर्वज्ञ ने भी गौतम के सूत्रानुसार संशय के पाँच प्रकारों को माना है।

---

१ वार्तिककार उद्योतकर भाष्यकार की इस व्याख्या का खण्डन करके व्याख्या करते हैं कि उपलब्धि की अव्यवस्था से एक पक्ष के साधक प्रमाणों का

प्रयोजन

संशय की तरह प्रयोजन भी न्याय का पूर्वाङ्ग है। क्यों कि प्रयोजन के बिना न्याय की प्रवृत्ति ही नहीं होती है। प्रयोजन की व्याख्या में भाष्यकार भी पहले ही कहते हैं—'तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्तते'। अतएव महर्षि गौतम संशय के बाद प्रयोजन का लक्षण करते हैं 'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्' १।१।२४। भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि जिस पदार्थ को प्राप्य अथवा त्याज्य समझकर उसे पाने या छोड़ने के लिए जीव उपाय करता है वही प्रयोजन पदार्थ है। भाष्यकार के मत में प्राप्य पदार्थ की तरह त्याज्य पदार्थ भी प्रयोजन होता है। क्योंकि त्याज्य पदार्थ के परित्याग के लिए भी जीव की प्रवृत्ति देखी जाती है। अतएव त्याज्य पदार्थ भी जीव की प्रवृत्ति के प्रति कारण है। 'प्रयुज्यते अनेन' इस तरह की व्युत्पत्ति करने पर प्रयोजन शब्द का उक्त रूप अर्थ हो जाता है। किन्तु न्यायसूत्र की वृत्ति के लेखक विश्वनाथ सरल रूप से व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जीवगण जिस पदार्थ का उद्देश कर के उसके उपाय में प्रवृत्त होता है वही उसका प्रयोजन है। यह दो प्रकार के होते हैं—मुख्य प्रयोजन और गौण प्रयोजन। सुख में या दुःख से निवृत्ति में जीव की स्वतः इच्छा होती है अतएव इन दोनों को स्वतः प्रयोजन या मुख्य प्रयोजन कहते हैं। सुख और दुःख निवृत्ति के जितने उपाय हैं—उन उपायों को गौण प्रयोजन कहते हैं।

दृष्टान्त

प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव वाक्य रूप न्याय में दृष्टान्तबोधक उदाहरण वाक्य प्रस्तुत किया जाता है। यह उदाहरण वाक्य दृष्टान्त के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। इसी से महर्षि गौतम—'प्रयोजन' पदार्थ के बाद दृष्टान्त का लक्षणसूत्र करते हैं—'लौकिकपरीक्षकाणाम् यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यम् स दृष्टान्तः'

अभाव और अनुपलब्धि की अव्यवस्था से बाधक प्रमाणों का अभाव लिया जाता है। ये दोनों सन्देह मात्र के प्रति कारण होते हैं किसी खास प्रकार के सन्देह का कारण नहीं हैं। महर्षि गौतम संशय मात्र के प्रति इन दोनों को कारण कहे हैं। अतएव साधारण धर्म आदि कारणों से होने वाले तीन प्रकार के संशय होते हैं। परवर्ती नैयायिकगण इस विषय में उद्योतकरके मत को ही ग्रहण करते हैं। किन्तु गौतम के सूत्र से भाष्यकार की व्याख्या ही समुचित जान पड़ती है। नव्यनैयायिक सम्प्रदाय गौतम के इस सूत्र में 'च' शब्द से व्याप्य पदार्थ के संशय से व्यापक पदार्थ का संशय भी गौतम का अभिमत मानते हैं। 'अनुमान चिन्तामणि' के उपाधि भाग की व्याख्या में रघुनाथ शिरोमणि ने भी इस कथा को कहा है।

१।१।२५। भाष्य में कहा गया है कि जिस व्यक्ति ने स्वाभाविक और शास्त्रों के अनुशीलन से होने वाले बुद्धि के प्रकर्ष का लाभ नहीं किया है वह लौकिक है और जिस व्यक्ति ने शास्त्रों के अनुशीलन से बुद्धि का प्रकर्ष प्राप्त किया है अर्थात् जो व्यक्ति लौकिक को भी तत्त्व समझा सकता है वह परीक्षक है। जिस पदार्थ में लौकिक तथा परीक्षक—इन दोनों की बुद्धि का साम्य है। जिस विषय में दोनों की बुद्धि में वैषम्य या विरोध नहीं है उस पदार्थ को दृष्टान्त कहते है।

गौतम को यह नहीं विवक्षित है कि सर्वत्र लौकिक व्यक्ति का बुद्धि-गम्य पदार्थ ही = लोक प्रसिद्ध पदार्थ, ही दृष्टान्त हो सकता है। क्योकि उन्होंने स्वय वेद के प्रामाण्य की परीक्षा के अवसर में अन्तिम सूत्र मे मन्त्र और आयुर्वेद के प्रामाण्य का दृष्टान्त रूप में उल्लेख किया है। इसी तरह से अन्यत्र भी और भी कितने पदार्थों को दृष्टान्त बनाए है जो लोकसिद्ध नहीं है केवल पण्डित-जन ही उन पदार्थों को जानते रहते हैं। अतएव इस सूत्र में लौकिक शब्द से *जिसे तत्त्व का ज्ञान नहीं है वह व्यक्ति और परीक्षक शब्द से जिसे तत्त्व का ज्ञान है*—वह बोद्धा पुरुष महर्षि गौतम का विवक्षित है। जो पदार्थ इन दोनों कोटियों के मनुष्य से स्वीकृत है अर्थात् दोनों के मत मे जो पदार्थ प्रमाण से सिद्ध है उसे लोकसिद्ध नहीं होने पर भी दृष्टान्त कहा जा सकता है।

भामती टीका (२।१।१४।) मे वाचस्पति मिश्र भी गौतम के इस सूत्र के इसी तात्पर्य को कहते है। 'यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्य' यह कहकर महर्षि गौतम इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि जिस पदार्थ मे वादी तथा प्रतिवादी का मत वैषम्य रहता है वह कदापि दृष्टान्त नहीं हो सकता है। इस दृष्टान्त के दो प्रकार है—साधर्म्य दृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टान्त। पश्चात् तृतीय अवयव उदाहरण वाक्य की व्याख्या मे यह और अधिक स्पष्ट होगा।

सिद्धान्त

किसी सिद्धान्त को लेकर ही उसकी स्थापना के लिए दृष्टान्त मूलक न्याय वाक्य का प्रयोग किया जाता है। अतएव यह कहना आवश्यक हो जाता है कि सिद्धान्त किसे कहते हैं और उनके कितने प्रकार होते है। अतएव महर्षि गौतम पहले दृष्टान्त पदार्थ को कहते हैं और पश्चात् सिद्धान्त को कहने के लिए क्रमशः उसका लक्षण और प्रकार भेद कहते है—'तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः' १।१।२६। स चतुर्विधः सर्वतन्त्रः प्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगम संस्थित्यर्थान्तरभावात्' १।१।२७। तन्त्र शब्द का अर्थ है शास्त्र। शास्त्र जिसका अधिकरण है=आश्रय है अर्थात् जो पदार्थ किसी शास्त्र से जाना जाता है वह तन्त्राधिकरण पद से विवक्षित है। उन सभी पदार्थों का अभ्युपगम=स्वीकार रूप

जो सत्स्थिति=निश्चय अर्थात् निश्चित शास्त्रार्थ ही सिद्धान्त है। 'अन्त' शब्द से यदि निश्चय रूप अर्थ लिया जाए तो सिद्धान्त शब्द का अर्थ होता है शास्त्रसिद्ध पदार्थ का निश्चय। भाष्यकार इसी निश्चयभूत पदार्थ को सिद्धान्त कहते हैं। विभिन्न सम्प्रदायों के विभिन्न मत भी उन संप्रदाय के द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त ही हैं। यहाँ उपर्युक्त द्वितीय सूत्र से महर्षि गौतम सिद्धान्त के चार प्रकारों को कहते हैं—(१) सर्वतन्त्र सिद्धान्त (२) प्रतितन्त्र सिद्धान्त (३) अधिकरण सिद्धान्त और (४) अभ्युपगम सिद्धान्त।

महर्षि गौतम प्रथम प्रकार के सिद्धान्त का लक्षण करते हैं—'सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः १।१।२८। सर्वतन्त्रसिद्धान्त उसे कहते हैं जो प्रत्येक शास्त्र का अविरोधी है और किसी एक शास्त्र में कहा गया है। जैसे घ्राण आदि का इन्द्रिय होना (इन्द्रियत्व), पृथिवी आदि का भूत होना (भूतत्व) और आत्मा का नित्य होना (नित्यत्व) आदि सभी आस्तिक शास्त्रों का अविरोधी है और शास्त्र में कहा गया भी है इसी से वह सर्वतन्त्र सिद्धान्त हुआ। किन्तु जो सिद्धान्त किसी शास्त्र में कहा नहीं गया है वह यदि सभी शास्त्रों का अविरोधी है तो उसे सर्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता है। इसीलिए सूत्र में—'तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः' इस पद का समावेश किया गया है।

अब सिद्धान्त के दूसरे प्रकार को कहा जाता है—'समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः' १।१।२९। समानतन्त्र शब्द से यहाँ एक तन्त्र अर्थात् प्रत्येक सम्प्रदाय का स्वमत प्रतिपादक शास्त्र को लिया जाता है। जिस संप्रदाय का जो सिद्धान्त स्वतन्त्र में सिद्ध है और अन्य तन्त्र में सिद्ध नहीं है वह सिद्धान्त उस सम्प्रदाय का प्रतितन्त्र सिद्धान्त होता है। जैसे शब्द का अनित्य होना (अनित्यत्व) न्यायवैशेषिक का प्रतितन्त्र सिद्धान्त है और उसका नित्य होना (नित्यत्व) मीमांसक सम्प्रदाय का प्रतितन्त्र सिद्धान्त है। इसी तरह से अन्य भिन्न भिन्न सिद्धान्त भी इसके उदाहरण होते हैं।

महर्षि गौतम तीसरे प्रकार के सिद्धान्त का लक्षण कहते हैं—'यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः'। जिस पदार्थ के सिद्ध होने से अन्य पदार्थ की=प्रकृत साध्य की सिद्धि होती है उसे 'अधिकरण सिद्धान्त' कहते हैं। इसकी व्याख्या और उदाहरण के विषय में मतभेद है। वार्तिककार उद्योतकर और रघुनाथ शिरोमणि की व्याख्या को आधार मानकर वृत्तिकार विश्वनाथ गौतम के इस सूत्र की व्याख्या इस रीति से की है—'जिस पदार्थ की सिद्धि के बिना जो अन्य पदार्थ अन्य प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है वही पदार्थ 'अधिकरण सिद्धान्त' होता है। जैसे—

तद्द्व्यणुकं सकर्तृकम् कार्यत्वात् घटवत्' इत्यादि न्याय वाक्य के प्रयोग से अनुमान के द्वारा सृष्टि का प्रथम उत्पन्न द्व्यणुक नामक द्रव्य में कर्तृजन्यत्व सिद्ध करने के लिए अर्थात् उस द्व्यणुक के कर्ता सिद्ध होने पर उस कर्ता का सर्वज्ञत्व सिद्ध हो जाता है। क्योंकि उस द्व्यणुक के उपादान कारण अतीन्द्रिय परमाणु के प्रत्यक्ष के बिना उस द्व्यणुक की सृष्टि सम्भव नहीं है। अतएव यह मानना होगा कि उस द्व्यणुक का कर्ता पुरुष अतीन्द्रिय को भी देखता है अतएव सर्वज्ञ है। इस स्थल में जगत्कर्ता उस परमेश्वर का नित्य सर्वज्ञत्व ही इस लक्षण के अनुसार अधिकरण सिद्धान्त है। क्योंकि पूर्वोक्त अनुमान के द्वारा सृष्टि के प्रथम उत्पन्न द्रव्य में (द्व्यणुक में) सकर्तृकत्व या कर्तृजन्यत्व सिद्ध होने से ही आनुषङ्गिक रूप से उस द्व्यणुक के कर्ता का नित्य सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है। अन्यथा किसी भी अन्य प्रमाण से उस द्व्यणुक में कर्तृजन्यत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अतएव परमेश्वर का नित्य सर्वज्ञ होना (नित्य सर्वज्ञत्व) रूप सिद्धान्त उक्त कर्तृजन्यत्वरूप सिद्धान्त का अधिकरण अथवा आश्रय है, अतएव इसे अधिकरण सिद्धान्त कहा जाता है। इसी तरह आत्मा इन्द्रिय से भिन्न है—यह सिद्ध करने के लिए गौतम पहले अनुमान को कहते हैं। इस अनुमान से आत्मा में इन्द्रिय भिन्नत्व सिद्ध हो जाने पर आनुषङ्गिक रूप से इन्द्रिय का नानात्व (अनेक होना) आदि भी अवश्य मानना होगा। भाष्यकार इन सभी सिद्धान्तों को इसके उदाहरण रूप में उद्धृत करते हैं।

महर्षि गौतम चतुर्थ प्रकार के सिद्धान्त को कहते हैं—'*अपरीक्षिताऽभ्युपगमात् तद्विशेष परीक्षणमभ्युपगम सिद्धान्तः*' १।१।३१। भाष्यकार के सिद्धान्त के अनुसार जिस स्थल में प्रतिवादी किसी पदार्थ में अपना अपरीक्षित धर्म को स्वीकार कर लेता है और उसी पदार्थ में उसके (*वादी के असम्मत*) असम्मत अन्य विशेष धर्म की परीक्षा करता है उस स्थल में प्रतिवादी का स्वीकृत अपर सिद्धान्त उसका अभ्युपगम सिद्धान्त होता है। जैसे वादी मीमांसक कहता है *कि शब्द द्रव्य है और नित्य है और प्रतिवादी नैयायिक वादि के सम्मत* (स्वीकृत) शब्द के द्रव्यत्व सिद्धान्त (द्रव्य होना रूप सिद्धान्त) की परीक्षा नहीं कर के अर्थात् उस विषय में बिना कुछ विचारे ही कहता है कि शब्द द्रव्य ही हो कोई हानि नहीं है, किन्तु यह विचारणीय वस्तु है कि यह नित्य है अथवा अनित्य। इस स्थल में नैयायिक का स्वीकृत वादी का सिद्धान्त—शब्द का द्रव्य होना प्रतिवादी (नैयायिक) के लिए अभ्युपगम सिद्धान्त होता है। प्रतिवादी नैयायिक का अभिप्राय यह है कि शब्द के द्रव्यत्व सिद्धान्त को मान लेने पर भी उसका नित्य होना यदि सिद्ध नहीं होता है तो वादी का प्रधान सिद्धान्त-शब्द

का द्रव्यत्व भी भङ्ग हो जाएगा और वाद म पुन: वह शब्द में द्रव्यत्व के स्थापन के लिए प्रयास नहीं करेगा। इसी उद्देश्य से प्रतिवादी वादी के अभिमत किसी सिद्धान्त विशेष को मान लेता है और अन्य सिद्धान्त का खण्डन करता है। इस स्थल म (नैयायिक का) उसका स्वीकृत सिद्धान्त उसी के पक्ष म अभ्युपगम सिद्धान्त होता है। किन्तु वादी के पक्ष म वह प्रतितन्त्र सिद्धान्त होगा। चरकसंहिता के विमानस्थान में इसी तरह अभ्युपगम सिद्धान्त की व्याख्या की गई है।

किन्तु वार्तिककार उद्योतकर आदि व्याख्या करते हैं कि जो सूत्र से अपरीक्षित है और सूत्र में स्पष्ट नहीं कहा गया है उसे स्वीकार करने के लिए सूत्रकार उस पदार्थ के विशेष धर्म की परीक्षा करते हैं और उसी अपरीक्षित पदार्थ को अभ्युपगम सिद्धान्त कहते हैं। जैसे गौतम इन्द्रिय विभाजक सूत्र म मनस् का उल्लेख नहीं करते हैं और वे ही पश्चात् मनस् के सभी विशेष धर्मों की परीक्षा करते हैं। इसी से ज्ञात होता है कि मनस् भी इन्द्रिय विशेष है। यहाँ मनस् का इन्द्रिय होना (इन्द्रियत्व) अभ्युपगम सिद्धान्त है। किन्तु गौतम के पूर्वोक्त 'अपरीक्षिताऽभ्युपगमात्' पद से प्रतीत होता है कि भाष्यकार की व्याख्या ही उचित है। भाष्यकार पहले ही प्रत्यक्ष लक्षण के सूत्र की व्याख्या म मनस् के इन्द्रियत्व का समर्थन करते हैं और स्पष्ट रूप से कहते हैं कि महर्षि गौतम क्यों नहीं इन्द्रियों मे मनस् का उल्लेख किए हैं। भाष्यकार के मत से मनस का इन्द्रिय होना (इन्द्रियत्व) सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।

अवयव

न्याय से सिद्धान्त के निर्णय करने के लिए अवयव पदार्थ का तत्त्वज्ञान आवश्यक है। इसी से महर्षि गौतम पहले सिद्धान्त का लक्षण कह कर पश्चात् अवयव का उल्लेख करते हैं और इसका विभाग भी करते हैं—'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा:' १।१।३२। (१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु, (३) उदाहरण, (४) उपनय और (५) निगमन—इन पाँचों को अवयव कहते हैं। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि अनुमान दो प्रकार के होते हैं—स्वार्थ और परार्थ। अपने ज्ञान के लिए जो अनुमान होता है उसे स्वार्थानुमान कहते हैं। और दूसरों को समझाने के लिए जो अनुमान किया जाता है उसे परार्थानुमान कहते हैं। विवाद होने पर विचार करता हुआ वादी और प्रतिवादी अपने अपने मत के प्रतिपादन म जो अनुमान दिखाता है वह परार्थानुमान न्याय शब्द से कहा जाता है। उसी स्थल में वादी और प्रतिवादी प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों का प्रयोग करते हैं जिसे पञ्चावयव न्याय कहते हैं। भाष्यकार इसी को परम न्याय कहते है।

तात्पर्य टीकाकार वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि जैसे सावयव द्रव्य के सभी अवयव मिलकर उस द्रव्य का उत्पादन करते हैं और उसके स्वरूप को धारण करते हैं उसी तरह से यथाक्रम प्रतिज्ञा आदि पाँचों वाक्य मिलकर न्याय नामक महावाक्य बनकर वक्ता के विवक्षित विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। अतएव प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों में अवयव शब्द का गौण प्रयोग होता है। ये सभी वाक्य अवयव के समान हैं इसी से अवयव पद से कहे जाते हैं। अभिप्राय यह है कि यथाक्रम उच्चरित प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव रूप वाक्य समष्टि ही न्याय है। इस न्याय वाक्य में प्रतिज्ञा आदि जो खण्ड वाक्य हैं वही उस न्याय के अवयव हैं। गङ्गेश उपाध्याय आदि नव्य न्याय के विद्वान् इस न्याय और अवयव के लक्षण की व्याख्या में बहुत सूक्ष्म विचार उपस्थित किए हैं।

पहला अवयव 'प्रतिज्ञा' है। इसी से महर्षि गौतम पहले इसका लक्षण कहते हैं—'साध्य निर्देशः प्रतिज्ञा' १।१।३३। न्यायसूत्र में साध्य शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। भाष्यकार भी कहते हैं—'साध्यञ्च द्विविधम्'। किसी धर्मी में धर्म के अनुमान करने के उद्देश्य से यदि न्याय का प्रयोग होता है तो वह अनुमेय धर्म 'साध्य' होता है। और उसी धर्म से युक्त धर्मी यदि साध्य होता है तो वह उसका दूसरा प्रकार हुआ। जैसे शब्द में अनित्यत्व धर्म के अनुमान में शब्द में अनुमेय धर्म अनित्यत्व साध्य होता है और वह शब्द धर्मी है। प्रतिज्ञा के लक्षणसूत्र में साध्य शब्द का अर्थ है धर्मी। वादी या प्रतिवादी न्याय का प्रयोग करता हुआ सबसे पहले जिस साध्य धर्मी का वाक्य के द्वारा निर्देश करता है अर्थात् साधनीय धर्म विशिष्ट धर्मी के बोधक वाक्य को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे शब्द में अनित्यत्व की स्थापना करने के लिए नैयायिक पहले ही प्रतिज्ञा वाक्य कहता है कि—'शब्दोऽनित्यः'। (भाष्यकार—'नित्यः शब्दः' इस तरह से कहते हैं।)

प्रतिज्ञा के बाद दूसरा अवयव 'हेतु' है। अनुमेय धर्म के लिङ्ग को अथवा तज्जन्य बोधक वाक्य को हेतुशब्द से लिया जाता है। वाक्यात्मक उस हेतु के दो प्रकार हैं—'साधर्म्य हेतु और वैधर्म्य हेतु'। महर्षि गौतम क्रमशः इन दोनों हेतुओं का लक्षण कहते हैं—'उदाहरण साधर्म्यात् साध्य साधन हेतुः' १।१।३४। 'तथा वैधर्म्यात्' १।१।३५। इस सूत्र में उदाहरण पद से उदाहृत पदार्थ या दृष्टान्त पदार्थ को लेते हैं। जहाँ हेतु के साथ साध्य का = अनुमेय धर्म का व्याप्ति निश्चय होता है वही पदार्थ उस अनुमान में दृष्टान्त होता है। इस दृष्टान्त के भी दो प्रकार होते हैं—'साधर्म्य दृष्टान्त' और वैधर्म्य दृष्टान्त। सूत्र में 'उदाहरण

साधर्म्य' शब्द से साध्य धर्मी और दृष्टान्त पदार्थ का समान धर्म लिया जाता है और वैधर्म्य शब्द से उदाहरण के व्यतिरेक अर्थात् दृष्टान्तभूत पदार्थ का वैधर्म्य लिया जाता है। अवयव के प्रकरण में इस सूत्र में हेतु शब्द से द्वितीय अवयव वाक्यात्मक हेतु ही लिया जाता है। अतएव—'साध्य साधनम्' इस पद से साध्य धर्म का साधनत्वबोधक वाक्य ही लिया जाता है।

उपर्युक्त इन दो सूत्रों से ज्ञात होता है कि अन्वयदृष्टान्त अर्थात् साध्य धर्मी के समान धर्म प्रयुक्त उस समान धर्मरूप हेतु का साध्य-साधनत्वबोधक वाक्य साधर्म्य हेतु वाक्य है और व्यतिरेक दृष्टान्त के वैधर्म्य प्रयुक्त उस वैधर्म्य रूप हेतु का साध्यसाधनत्वबोधक वाक्य वैधर्म्य हेतु वाक्य है। जैसे नैयायिक—'शब्दोऽनित्यः' इस प्रतिज्ञावाक्य के बाद हेतुवाक्य—'उत्पत्तिमत्त्वात्' कहता है। नैयायिक के मत में विद्यमान शब्द की अभिव्यक्ति नहीं होती है किन्तु अविद्यमान शब्द उत्पन्न होता है। नैयायिक उपर्युक्त स्थल में—'उत्पत्तिमत्त्वात्' इस वाक्य से कहता है कि *उत्पत्तिमत्व अनित्यत्व रूप साध्य धर्म का साधन* है। उत्पत्तिमत्व साध्य धर्मी शब्द और दृष्टान्त घट इन दोनों पदार्थों का समान धर्म है। इसी धर्म से प्रयुक्त होकर यह (उपर्युक्त) वाक्य कहा गया है। अत एव सिद्ध होता है कि यह वाक्य साधर्म्य हेतु का वाचक है।

भाष्यकार के मत में उपर्युक्त स्थल में ही नैयायिक यदि नित्य आत्मा को व्यतिरेक दृष्टान्त के रूप में ले लेता है और उसी को वैधर्म्योदाहरण के रूप में उपस्थित कर देता है। अत एव वह वाक्य (उपर्युक्त वाक्य) वैधर्म्य हेतु का वाचक हो सकता है।

किन्तु वार्तिककार उद्योतकर आदि विद्वान् का कहना है कि जहाँ अन्वय दृष्टान्त सर्वथा असम्भव है केवल व्यतिरेक दृष्टान्त ही हो सकता है *उस स्थल* के हेतु को वैधर्म्य हेतु अथवा व्यतिरेकी हेतु कहते हैं और उस हेतु के बोधक वाक्य को वैधर्म्य हेतु वाक्य। अतएव यह *सिद्ध होता है कि यहाँ भाष्यकार का* मत इन विद्वानों को मान्य नहीं है। आगे में इसको और अधिक स्पष्ट किया जाएगा।

हेतु के बाद तीसरा अवयव 'उदाहरण' है। 'उदाह्रियते येन वाक्येन' अर्थात् जिस वाक्य से हेतु और साध्य में व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध ज्ञात होता है उसे उदाहरण वाक्य कहते हैं। उक्त व्युत्पत्ति के आधार पर *उदाहरण पद का उक्त अर्थ स्पष्ट होता है। यह भी दो प्रकार के होते हैं*— साधर्म्योदाहरण और वैधर्म्योदाहरण। महर्षि गौतम क्रमशः इन दोनों का लक्षण देते हैं—'साध्य साधर्म्यात्तद्धर्म भावी दृष्टान्त उदाहरणम्'

१।१।३६। 'तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्' १।१।३७। साध्य धर्मी के समान धर्म की स्थिति के कारण जिस पदार्थ में साध्य धर्म भी रहता है उस पदार्थ को साधर्म्य दृष्टान्त अथवा अन्वय दृष्टान्त कहते हैं। उस दृष्टान्त के वाचक वाक्य को साधर्म्योदाहरण वाक्य कहा जाता है। जैसे उक्त स्थल में ही नैयायिक—'उत्पत्तिमत्वात्' हेतु कहकर बाद में कहता है—'यो य. उत्पत्तिमान् सोऽनित्यः यथा घट.'। साधर्म्योदाहरण वाक्य के आकार के विषय में मतभेद है। भाष्यकार के मत में उपर्युक्त स्थल में ही आत्मा आदि व्यतिरेक दृष्टान्त वाक्य को यदि कहा जाए तो वह वैधर्म्योदाहरण वाक्य होगा।

किन्तु वार्तिककार उद्योतकर कहते हैं कि जिस स्थल में अन्वय दृष्टान्त नहीं दिखाया जा सकता है उस स्थल में व्यतिरेक दृष्टान्त को लेकर उदाहरण वाक्य यदि कहा जाए तो वह वैधर्म्योदाहरण होता है। और उस स्थल का हेतु भी वैधर्म्य हेतु कहा जाता है। जैसे 'जीवच्छरीर न निरात्मक प्राणादिमत्वात् यन्नैवं तन्नैवम् यथा घट.' इस न्याय वाक्य में अन्वयदृष्टान्त का प्रदर्शन सम्भव नहीं है अतएव व्यतिरेक दृष्टान्त दिखाया जाता है।

क्योंकि प्रतिवादी (नैरात्म्यवादी) प्राण आदि विशिष्ट किसी शरीर में अतिरिक्त आत्मा नहीं मानता है, अतएव जहाँ प्राण है उस स्थल में आत्मा है—इस में दृष्टान्त नहीं दिखाया जा सकता है। जो सात्मक नहीं है उसमें प्राण भी नहीं है जैसे घट आदि—इस तरह से व्यतिरेक दृष्टान्त ही वादी (नैयायिक) दिखाता है। प्राणादिमत्त्व का अभाव सात्मकत्व भाव का (निरात्मकत्व का) व्यापक है और निरात्मकत्व उसका व्याप्य। क्योंकि जो पदार्थ निरात्मक है। उसमें प्राण आदि नहीं है। प्रत्येक जीवित व्यक्ति के शरीर में प्राण अवश्य रहता है अतएव प्राणादिमत्त्वरूप हेतु में निरात्मकत्व का अभाव अर्थात् सात्मकत्व अनुमान से सिद्ध होता है। जहाँ व्यापक पदार्थ का अभाव रहता है उस स्थान में उसके व्याप्य का अभाव अवश्य रहता है। साराश यह है कि इस मत में उक्त स्थल में व्यतिरेक दृष्टान्त में व्यतिरेक व्याप्ति के निश्चय से ही उपर्युक्त अनुमिति होती है। इस स्थल के हेतु और उदाहरण को व्यतिरेकी कहते हैं। यही अनुमान व्यतिरेकी अनुमान शब्द से निर्दिष्ट होता है[१]।

१. तत्त्वचिन्तामणि के रचयिता गङ्गेश उपाध्याय—'पृथिवीइतरेभ्यो· भिद्यते गन्धवत्त्वात्' इस प्रयोग में 'केवल व्यतिरेकी' अनुमान का समर्थन करते हैं और इस प्रसङ्ग में सूक्ष्म विचार उपस्थित करते हैं। किन्तु ये मा बाद में—'जीवच्छरीरम्' आदि उद्योतकर के प्रयोग को लेकर यहीं विचारपूर्वक व्यतिरेकी अनुमान का समर्थन करते हैं। मीमांसक सम्प्रदाय अनुमान मात्र को अन्वयी ही

दो प्रकार के हेतु और उदाहरण के कथन से ज्ञात होता है कि गौतम को केवल व्यतिरेकी हेतु मान्य है। बहुतों के मत से हेतु के लक्षण सूत्र से अन्वय व्यतिरेकी नामक हेतु का तीसरा प्रकार भी सूचित होता है। वस्तुतः गौतम के *अनुमान सूत्र में कहे गये—'त्रिविधम्' पद से प्राचीन नैयायिक उद्योतकर भी* पहले—अन्वयी, व्यतिरेकी और अन्वय व्यतिरेकी—इन तीन प्रकारों के अनुमान की व्याख्या करते हैं। किन्तु इन अनुमानों के लक्षण तथा उदाहरण के विषय में बहुत मतभेद है। तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय के मत में केवलान्वयि *साध्यधर्म का साधक अनुमान ही केवलान्वयि अनुमान है। जिस पदार्थ का* अभाव कहीं भी नहीं रहता है अर्थात् जिस पदार्थ का सामान्याभाव अलीक (मिथ्या) है उसी पदार्थ को केवलान्वयि कहते हैं। जैसे पदार्थ मात्र में उसके वाचक शब्द का वाच्यत्व धर्म रहता है। किसी भी पदार्थ में वाच्यत्व *धर्म का व्यतिरेक = सामान्याभाव नहीं रहता है अतएव वाच्यत्व केवलान्वयी* होता है। इसी का साधक अनुमान केवलान्वयी अनुमान है। क्योंकि इस तरह के साध्य धर्म के सम्बन्ध में अन्य पदार्थ में केवल अन्वय व्याप्ति का ही निश्चय हो पाता है। केवल अन्वय दृष्टान्त में जिस व्याप्ति का निश्चय होता है उसी का *नाम अन्वय व्याप्ति है। जिस स्थल में अन्वय दृष्टान्त सम्भव नहीं है, केवल किसी* व्यतिरेक दृष्टान्त में व्यतिरेक व्याप्ति के निश्चय होने पर अनुमिति होती है उस स्थल में उस व्याप्ति का ज्ञान रूप अनुमान तथा हेतु केवल व्यतिरेकी पद से कहा जाता है। इसका उदाहरण पहले ही कहा जा चुका है।

इसी तरह से किसी स्थल में किसी हेतु के साथ दोनों प्रकारों के दृष्टान्त में दोनों प्रकारों की व्याप्ति के निश्चय हो जाने पर उस से अनुमिति होती है उस अनुमान का करण रूप व्याप्तिज्ञान और उस स्थल का हेतु अन्वयव्यतिरेकी

मानता है क्योंकि इस मत में सर्वत्र अन्वय व्याप्ति के निश्चय से ही अनुमिति होती है। अतएव उद्योतकर के द्वारा प्रस्तुत उदाहरण के स्थल में 'अर्थापत्ति' नामक प्रमाण से वह बोध होता है। (पूर्व २१९-२० पृ० देखिए।) वेदान्त परिभाषा के रचयिता धर्मराज केवल व्यतिरेकी अनुमान का खण्डन करते हैं और बाद में कहते हैं कि जिस व्यक्ति को धूम में वह्नि की अन्वयव्याप्ति का ज्ञान नहीं है किन्तु आग के अभाव में धूमाभाव का व्याप्तिज्ञान है। (व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान है) उस व्यक्ति को किसी स्थान में धूम देखने के बाद जो वह्नि का निश्चय होता है वह भी अर्थापत्ति प्रमाण से ही होता है। किन्तु [यह अनुभव है कि] उस स्थल में—'पर्वतो वह्निमान्' इस तरह की निश्चयात्मक अनुमिति होती है।

पद में निर्दिष्ट होता है। यह वाचस्पति मिश्र को भी मान्य है। किन्तु यह गौतम को मान्य था या नहीं इसमें विवाद है। निबन्ध के कलेवर में वृद्धि के भय से इन विषयों की विशद विवेचना नहीं की जाती है। मूलतया स्मरण रखना चाहिए कि महर्षि गौतम ने हेतुवाक्य और उदाहरणवाक्य के दो प्रकारों को कहा है।

उदाहरण के बाद चौथा अवयव उपनय है। उदाहरण के दो प्रकार होने से उपनय के भी दो प्रकार होते हैं—साधर्म्योपनय और वैधर्म्योपनय। महर्षि गौतम इस उपनय का लक्षण करते हैं—'उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः' १।१।३८। उदाहरण वाक्य के अनुसार साध्यधर्मी के साथ 'तथा' अथवा 'न तथा' इस तरह का उपसंहार वाक्य उपनय पद से कहा जाता है। जैसे—'शब्दोऽनित्यः उत्पत्ति धर्मकत्वात्' इत्यादि न्यायप्रयोग में नैयायिक यदि—'यथा घटः' इस तरह से साधर्म्योदाहरणवाक्य का प्रयोग करता है और इसके बाद उपनय वाक्य कहता है—'तथा चोत्पत्तिधर्मकः शब्दः' तो इस वाक्य को साधर्म्योपनय कहा जाएगा। इससे प्रतीत होता है कि शब्द भी घट की तरह उत्पत्ति से युक्त (उत्पत्ति विशिष्ट) है। किन्तु इसी स्थल में नैयायिक यदि—'यथा आत्मा' कहकर वैधर्म्योदाहरण प्रस्तुत करता है तो पश्चात् वैधर्म्योपनय का यह रूप होगा—'न च तथाऽनुत्पत्ति धर्मकः शब्दः'=शब्द आत्मा की तरह अनुत्पत्ति धर्म विशिष्ट नहीं है। किसी के मत से इस स्थिति में भी—'तथा चायम्' इसी वाक्य का उपनय होना उचित है। उपनय वाक्य के स्वरूप के विषय में भी मतभेद है। नवीन नैयायिक के मत में उपनय वाक्य में 'तथा' शब्द का प्रयोग आवश्यक नहीं है।

उपनय के बाद पांचवाँ या अन्तिम अवयव निगमन है। महर्षि गौतम इसका लक्षण करते हैं—हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनम् निगमनम् १।१।३९। भाष्यकार की व्याख्या के अनुसार प्रतिज्ञा वाक्य के बाद जो हेतुवाक्य कहा जाता है उसका उल्लेख करते हुए प्रतिज्ञा वाक्य का पुनः कथन 'निगमन' होता है। जैसे उपर्युक्त स्थल में भाष्यकार—'अनित्यः शब्दः' इस प्रतिज्ञा वाक्य को कहकर बाद में—'तस्मादुत्पत्ति धर्मकत्वादनित्यः शब्दः' इस निगमन वाक्य को कहते हैं।

और वे (*भाष्यकार*) *गौतम के*—'*हेत्वपदेशात्*'—इस पद के अनुसार निगमन वाक्य में—'तस्मात्' इस पद के बाद में—'उत्पत्ति धर्मकत्वात्'—इस हेतु वाक्य का भी उल्लेख करते हैं। किन्तु अर्वाचीन विद्वान् केवल 'तस्मात्' इसी शब्द से हेतु का उल्लेख मानकर निगमन-वाक्य को कहते हैं। हेतुवाक्य, उदाहरणवाक्य और उपनयवाक्य के द्विविध होने पर भी अन्त में कहा जानेवाला

निगमन वाक्य एक रूप ही होता है। क्योंकि साधर्म्य हेतु रहे अथवा वैधर्म्य उसके उल्लेख करने पर पुन. प्रतिज्ञावाक्य के कह देने से निगमनवाक्य में प्रकार भेद नहीं हो पाता है। किन्तु न्यायसार म काश्मीरी नैयायिक भासर्वज्ञ ने निगमन वाक्य के दो प्रकारों को कहा है।

पञ्चावयव का प्रयोजन

अवयव की सख्या के विषय में विवाद है[1]। भाष्यकार वात्स्यायन आदि विद्वानों ने गौतम के द्वारा कहे गये पञ्चावयव वाक्यों के प्रयोजन के विषय में जो सब बातें कही हैं उन सभी बातों का यही तात्पर्य है कि सबसे पहले प्रतिज्ञा वाक्य के नहीं कहने से न्याय का प्रयोग हो ही नहीं सकता है। क्योंकि वादी का साध्य धर्म क्या है—इसका ज्ञान यदि पहले नहीं है तो हेतु वाक्य आदि का कहना सङ्गत ही नहीं होगा। वादी पहले प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा अपने साध्य धर्म को कहता है। पश्चात् इसका साधक क्या है? इस तरह से प्रश्न उठने पर हेतु वाक्य का प्रयोग करता है। उदाहरण अथवा उपनयवाक्य से किसी पदार्थ में साध्य धर्म के साधनत्व रूप हेतुत्व का ज्ञान नहीं होता है। अतएव उसे समझाने के लिए प्रतिज्ञावाक्य के बाद पञ्चमी विभक्ति से युक्त पद हेतुवाक्य का कथन आवश्यक होता है। पश्चात् इस हेतु में वादी के साध्य की व्याप्ति है—इसे समझाने के लिए उदाहरण वाक्य का प्रयोग होता है। क्योंकि व्याप्ति सम्बन्ध के ज्ञान के बिना उस हेतु से उस साध्य की अनुमिति ही नहीं हो सकती है। अन्य किसी अवयव से उस व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतएव उदाहरणवाक्य का उपादान (कहा जाना) आवश्यक है।

जिस धर्मी =अधिकरण म धर्म की-साध्य की अनुमिति होती है, उस धर्मी म उस धर्म की व्याप्ति से युक्त उसका हेतु रहता है—इस तरह के निश्चयात्मक ज्ञान का रहना उस अनुमिति के अव्यवहित पूर्व क्षण में आवश्यक है। यह ज्ञान लिङ्ग परामर्श शब्द से अभिहित होता है। अन्यथा अनुमिति नहीं हो

[1] मीमांसक सम्प्रदाय कहता है कि प्रतिज्ञा आदि तीन अवयवों का अथवा उदाहरण आदि तीन अवयवों का प्रयोग करना चाहिए। पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग आवश्यक नहीं है। प्रसिद्ध है कि बौद्ध सम्प्रदाय उदाहरण और उपनय दो ही अवयव मानता है। बाद में बौद्धाचार्य रत्नाकरशान्ति ने 'अन्तर्व्याप्तिसमर्थन' नामक ग्रन्थ में जैन सम्प्रदाय की तरह 'अन्तर्व्याप्ति' को मानकर उदाहरण वाक्य के प्रयोग को अनावश्यक कहा है। अवयव की सख्या के विषय में बहुत मतभेद है। इसकी समालोचना मेरे सपादित बङ्गला न्यायभाष्य के द्वितीय संस्करण प्रथमखण्ड के २६०—६५ पृष्ठों को देखिए।

सकती है। इसी से वादी प्रतिवादी को अथवा मध्यस्थ को अनुमिति के चरम कारण इस ज्ञान को उत्पन्न करने के लिए उदाहरण के बाद उपनयवाक्य को कहता है। अन्त में उपर्युक्त चारवाक्यों में साकाङ्क्षता जताने के लिए निगमन-वाक्य को कहता है। क्योंकि न्यायवाक्यों में परस्पर सम्बन्ध को जाने बिना वादी के प्रतिपाद्य अर्थ को नहीं जाना जा सकता है। भाष्यकार निगमन शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं—'निगम्यन्तेऽनेन प्रतिज्ञा हेतूदाहरणोपनयाः एकत्रेति निगमनम्' = जिस वाक्य से प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय—इन वाक्यों का सम्बन्ध एक ही प्रतिपाद्य अर्थ के लिए होता है वह निगमन है। बाद में भाष्यकार निगमन वाक्य के अन्य विशेष प्रयोजनों को भी कहे हैं।

रामानुज सम्प्रदाय का वैष्णव वेदान्ती श्री निवास दास यतीन्द्रमतदीपिका में कहते हैं कि हम लोगों के मत में अवयव के प्रयोग के विषय में कुछ नियम नहीं है। किसी स्थल में पाँच, कहीं दो और कहीं तीन अवयवों को भी कहा जा सकता है। जिसकी बुद्धि तेज होती है वह केवल उदाहरण और उपनय वाक्यों को सुनकर भी वादी के विवक्षित विषय का ज्ञान कर लेता है। अत एव उसके लिए दो ही अवयवों का प्रयोग समुचित है। मध्यम बुद्धि वालों को समझाने के लिए निगमन वाक्य का कहा जाना आवश्यक है। किन्तु कोमल बुद्धि वालों के लिए पाँच अवयवों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है।

बाद में जैन सम्प्रदाय भी इस तरह की कथाओं को कहता है। इस मत में सर्वत्र प्रतिज्ञा और हेतु—इन दो ही अवयवों का प्रयोग उचित है।

किन्तु इस मत में वक्तव्य है कि विजिगीषामूलक जल्प और वितण्डा कथा में वादी पहले प्रतिवादी और मध्यस्थ की बुद्धि के तारतम्य का निश्चय करेगा और उसके अनुसार न्यायवाक्य का व्यवहार करेगा—यह नहीं हो सकता है। अतएव विजिगीषामूलक विचार में वादी या प्रतिवादी का वाक्य संक्षेप करना कदापि उचित नहीं है। क्योंकि इसमें (वाक्य संक्षेप में) उसको अनेक निग्रह स्थानों का भय रहता है जिससे पराजय की सम्भावना होती है। वादी या प्रतिवादी के साध्य धर्मी में साध्य धर्म के बोधक किसी शब्द के प्रयोग नहीं करने से केवल उदाहरण और उपनयवाक्यों के कह देने भर से उस साध्य धर्म का ज्ञान भी नहीं हो सकता है। अतएव मीमांसक सम्प्रदाय ने उदाहरण और उपनय वाक्य के साथ निगमन वाक्य तृतीय अवयव के प्रयोग को समुचित कहा है। मीमांसक सम्प्रदाय विशेष के मत में भी हेतु वाक्य के प्रयोग नहीं करने से उससे पहले उदाहरण वाक्य का प्रयोग असङ्गत माना गया है। क्योंकि पहले हेतुवाक्य से हेतु पदार्थ के ज्ञान हो जाने पर मध्यस्थ के प्रश्न के अनुसार उस

हेतु पदार्थ में साध्य धर्म की व्याप्ति के प्रदर्शन के लिए उदाहरण वाक्य कथन समुचित होता है। और सबसे पहले प्रतिज्ञा-वाक्य नहीं कहने से हेतु के प्रयोग में भी सङ्गति नहीं होती है।

किन्तु जो विद्वान् स्थलविशेष में पञ्चावयव के प्रयोग को समुचित कहते हैं, वे पञ्चावयववाद को मानते हैं। न्यायसार में भासर्वज्ञ और प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद भी पञ्चावयव का उल्लेख किए हैं। चरक संहिता के विमान स्थान में (आठवें अध्याय में) गौतम के पञ्चावयववाद की सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत की गई है। विष्णुधर्मोत्तर में भी इसकी चर्चा है[१]। महाभारत सभापर्व में नारद के गुणवर्णन में कहा गया है—'पञ्चावयव युक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित्' ५।५। अतएव इसमें सन्देह नहीं कि यह पञ्चावयववाद प्राचीन काल से ही विद्वानों के द्वारा मान्यता प्राप्त करता आ रहा है।

तर्क

प्राचीन काल से ही तर्कशब्द के अनेक अर्थ होते आ रहे हैं। किन्तु गौतम का तर्क पदार्थ प्रमाण का सहकारी और ज्ञानविशेषरूप है। प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव रूप न्याय के प्रयोग से तत्त्वनिर्णय आदि करने में तर्क आवश्यक होता है। इसीसे महर्षि गौतम अवयव के बाद तर्क का लक्षण करते हैं—'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः' १।१।४०। भाष्यकार व्याख्या करते हैं कि जिस पदार्थ का तत्त्व निश्चय नहीं होता है उसके तत्त्व निर्णय के लिए उसमें कारण रूप प्रमाण की उपपत्ति से जो ऊह किया जाता है उसी का नाम 'तर्क' है। दो धर्मों के सन्देह में—इस विषय में ही प्रमाण मिलता है—इस तरह के ऊह (मानसज्ञान) को तर्क कहते हैं। यह (ऊह) प्रमाण नहीं है और प्रमाण का फल तत्त्व निश्चय भी नहीं है किन्तु प्रमाण का सहकारी है तथा ज्ञानविशेषात्मक है।

भाष्यकार इसका उदाहरण दिखाते हैं—किसी कारण से आत्मा की नित्यता के विषय में सन्देह उपस्थित होता है तो उस आत्मा के नित्यत्वसाधक प्रमाण उसमें प्रवृत्त ही नहीं हो सकता है। किन्तु बाद में तत्त्व जिज्ञासा के लिए मन में तर्क होता है कि यदि जीव की देह की उत्पत्ति के समय में अभिनव आत्मा की ही उत्पत्ति होती है तो आत्मा की बन्ध मोक्ष व्यवस्था टूट जाएगी। क्योंकि आत्मा के पूर्वकृत कर्मफल के बिना उसका विचित्र जन्म और संसार सम्भव नहीं है और आत्मा की उत्पत्ति मानने पर किसी समय में उसका विनाश

---

१. 'प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्तावुपसंहार एव च। तथा निगमनश्चैव पञ्चावयव मिष्यते'। विष्णुधर्मोत्तर।३।५।१।

भी मानना होगा। जिसे मुक्ति नहीं कहा जा सकता है। अतएव आत्मा की नित्यता में (उसकी उत्पत्ति तथा विनाश के अभाव में) प्रमाण की प्रवृत्ति हो सकती है। इस तर्क का यही फल है कि आत्मा की नित्यता में संशय की निवृत्ति होती है। और उसके नित्यस्वरूप तत्त्व का निर्णय होता है। यह तर्क उस प्रमाण को अनुग्रह करता है और तत्त्व निश्चय में उसका सहायक भी होता है। तर्क प्रमाण का अनुग्रह करता है अर्थात् प्रमाण को सन्दिग्ध विषय में लगाकर संशय को दूर करता है। भाष्यकार की अन्य कथाओं से भी यही ज्ञात होता है कि इस विषय में प्रमाण की प्रवृत्ति हो सकती है—इस तरह के सम्भावनात्मक ज्ञान को ही तर्क कहते हैं[१]।

प्राचीन काल से ही इस तर्क के स्वरूप के विषय में मतभेद है। उद्योतकर के विचार से भी यही ज्ञात होता है। किसी मत में इसे संशयरूप ज्ञान विशेषात्मक कहा गया है, और किसी मत में इसे निर्णयविशेषरूप माना गया है। किसी मत में इसे स्वतन्त्र रूप से प्रमाण माना गया है। किसी मत में अनुमान में ही इसका अन्तर्भाव है। न्यायकन्दलीकार श्रीधरभट्ट विचार पूर्वक कहते हैं कि प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद तर्क या ऊह को पृथक् से ज्ञान रूप में उल्लेख नहीं करते हैं। किन्तु उद्योतकर न्यायवार्तिक में विभिन्न मतों का खण्डन करते हैं और कहते हैं कि यह पदार्थ इसी तरह से हो सकता है—यह सम्भावनात्मक ज्ञान तर्क है। इसे संशय नहीं कहा जा सकता है न यह निर्णय ही है। इसी से महर्षि गौतम सोलह पदार्थों में स्वतन्त्र रूप से इसका उल्लेख किए हैं। पश्चात् उदयनाचार्य आदि विद्वान् संशय से भिन्न किसी ज्ञान को सम्भावना नाम से नहीं स्वीकार करते हैं। इन लोगों के मत में सम्भावना भी संशयात्मक ज्ञान ही है। किन्तु इस तर्क का ज्ञान हो जाने पर मनन् से उसका संशयत्व रूप में ज्ञान नहीं हो सकता है अतएव सिद्ध होता है कि तर्क को संशयात्मक ज्ञान नहीं माना जा सकता है।

इसके स्वरूप के विषय में तात्पर्यपरिशुद्धि में उदयनाचार्य कहते हैं—

---

१. भगवद्गीता' के—'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च' १५।१५। इस वाक्य में अपोहन शब्द से भाष्यकार रामानुज गौतम के तर्क को लेते हैं और ऊहन अथवा ऊह तर्क का पर्याय है—इस कहने के लिए वात्स्यायन के मत के अनुसार इसके स्वरूप की व्याख्या करते हैं—'ऊहनाम इदं प्रमाणमित्थं प्रवर्तितुमर्हतीति प्रमाण प्रवृत्त्यर्हता प्रयोजक सामग्र्यादिनिरूपणजन्यम् प्रमाणानुग्राहक ज्ञानम्'। न्यायपरिशुद्धि' ग्रन्थ में वङ्कनाथ भी गौतमोक्त तर्क पदार्थ की व्याख्या में रामानुज की इस व्याख्या का उल्लेख करते हैं।

'तस्य च स्वरूपमनिष्टप्रसङ्गः' – अनिष्ट पदार्थ का प्रसङ्ग आपत्ति ही तर्क है। इसी मत के अनुसार तार्किकरक्षा में वरदराज कहते हैं—

> 'तर्कोऽनिष्टप्रसङ्गःस्यात् अनिष्टं द्विविधं स्मृतम्।
> प्रामाणिक परित्यागस्तथेतर परिग्रहः ॥'

इसका अर्थ होता है कि अनिष्ट की आपत्ति तर्क है। इसके दो प्रकार होते हैं— प्रमाणसिद्ध पदार्थ का परित्याग और अप्रामाणिक पदार्थ का स्वीकार। जैसे किसी ने कहा पानी पीने से प्यास नहीं बुझती है। यहाँ यह सर्वसम्मत है कि पानी पीना प्यास को बुझाना है। उसका परित्याग अथवा अपलाप प्रथम प्रकार के अनिष्ट का उदाहरण है। यही अनिष्ट की आपत्ति तर्क है। इसी तरह किसी ने कहा पानी पीने से अन्तर्दाह होता है। यहाँ पानी पीने में अन्तर्दाह का कारण प्रमाण से सिद्ध नहीं है अतएव यह अनिष्ट का दूसरा प्रकार है। यह अनिष्ट पदार्थ की आपत्ति तर्क है। इसी तरह से सर्वत्र जिस किसी अनिष्ट पदार्थ की आपत्तिरूप मानसज्ञान तर्क है। नव्य नैयायिकगण इसी सिद्धान्त के अनुसार इस विषय में और अधिक सूक्ष्म विचार करते हुए विस्तृत रूप से तर्क के स्वरूप की व्याख्या करते हैं। वृत्तिकार विश्वनाथ तर्कसूत्र में कारण शब्द से व्याप्य पदार्थ को और उपपत्ति शब्द के आरोप अर्थ को लेते हैं और तब तर्क के स्वरूप की व्याख्या में कहते हैं कि जहाँ यह निर्णीत है कि व्यापक पदार्थ नहीं रहता है उस स्थल में व्याप्य पदार्थ के आरोप से उस व्यापक पदार्थ का आरोपरूप ऊह तर्क है। जैसे धूम आग का व्याप्य है और आग उसका व्यापक। जहाँ व्याप्य पदार्थ रहता है उस स्थल में उसका व्यापक पदार्थ अवश्य रहता है अन्यथा उसे व्यापक कहा ही नहीं जा सकता है। किसी स्थान में व्याप्य पदार्थ है—यह कहने पर उसी के आरोप से उसके व्यापक पदार्थ का आरोप होता है। किन्तु यदि उस स्थान में व्यापक पदार्थ विद्यमान ही है तब उसकी आपत्ति तर्क नहीं हो सकता है। इसे इष्टापत्ति कहा जाता है। जैसे महानस में जब आग और धूम दोनों रहते हैं तब वहाँ आग की आपत्ति इष्टापत्ति हुई। यह तर्क नहीं है। किन्तु जहाँ धूम नहीं है उस स्थान में वह्नि भी नहीं है। कोई वहीं यदि धूम है यह कह कर आग की आपत्ति करे तो वह तर्क होगा।

यह तर्क मनस् में ही उत्पन्न होता है। अतएव यह मानसप्रत्यक्षरूप से ज्ञान है। कितने समयों में एकान्त में अनेक विषयों के लिए मनस् में यह तर्क होता है। यदि प्रयोजन रहा तो उसे वाक्य के द्वारा व्यक्त किया जाता है।

किन्तु यह वाक्य तर्क नहीं है। अपितु उपर्युक्त लक्षण से युक्त मानसप्रत्यक्षरूप आपत्ति ही तर्क होता है[१]।

इसे भ्रमात्मक ज्ञान होने पर भी इसके साहाय्य से पश्चात् प्रमाण से तत्त्व निश्चय होता है। यह तत्त्व निश्चय कैसे होता है—संक्षेप में इसका वर्णन किया जाता है। इसे जानने के लिए पहले यह जानना आवश्यक है कि तर्कस्थल में व्याप्य पदार्थ के आरोप से व्यापक पदार्थ की जो आपत्ति होती है उस स्थल में उस व्याप्य पदार्थ को आपादक और उस व्यापक पदार्थ को आपाद्य कहते हैं। जिस पदार्थ की आपत्ति की जाती है उसे आपाद्य और जिस पदार्थ के आरोप से आपत्ति होती है उसे आपादक कहा जाता है। जैसे यदि धूम है तो आग अवश्य होगी—इस तरह से धूम के आरोप से आग की आपत्ति में वह्नि आपाद्य है और धूम आपादक। आपाद्य पदार्थ का व्याप्य आपादक और आपादक का व्यापक आपाद्य होता है। जहाँ व्याप्य पदार्थ रहता है उस स्थान में उसका व्यापक पदार्थ अवश्य रहता है। अतएव जहाँ व्यापक पदार्थ नहीं है उस स्थान में उस का व्याप्य पदार्थ भी नहीं रहता है।

जिस स्थान में व्यापक पदार्थ का अभाव रहता है उस स्थान में व्याप्य पदार्थ का अभाव रहता है। इसी से इन दोनों में व्याप्ति का निश्चय होता है। इस तरह की स्थिति में यही तर्क व्याप्ति का स्मरण कराता है। जैसे—'जलं धूमाभाववद् वह्न्यभावात्' इस रूप में जल में धूम के अभाव का साधक अनुमान उपस्थित होता है। इस अनुमान में जल में धूमाभावरूप तत्त्व के निर्णय में तर्क सहायक होता है। प्रकृत में आपादक धूम पदार्थ में आपाद्य वह्नि पदार्थ की जो व्याप्ति है वही इस तर्क की मूलव्याप्ति है। इस व्याप्ति के नहीं रहने से उक्त रूप आपत्ति कदापि तर्क नहीं हो सकता है। अतएव आपादक पदार्थ में आपाद्य पदार्थ की व्याप्ति ही तर्क का प्रथम अङ्ग है। तर्क के और भी अन्य चार

---

१. आरोपात्मक ज्ञान को ही भ्रमात्मक ज्ञान कहते हैं। भ्रम का ही दूसरा नाम आरोप है। भ्रम ज्ञान आहार्य और अनाहार्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं। आहार्य शब्द का अर्थ है कृत्रिम। भ्रम के बाधक रहने पर भी इच्छा से ही जो आरोप किया जाता है उसी को आहार्य भ्रम कहते हैं। जल में धूम तथा आग नहीं रहती है—इसके निश्चय रहने पर यदि पानी में धूम रहता है तो आग भी अवश्य होगी—इस तरह से पानी में स्वेच्छा से धूम और आग का आरोप आहार्य भ्रम है। यह तर्क भ्रमात्मक निश्चय रूप ज्ञान है। तथा मानस प्रत्यक्षरूप है। वृत्तिकार विश्वनाथ भी लिखते हैं—'ऊहत्वञ्च मानसत्व व्याप्यो जाति-विशेष।'

अङ्ग होते हैं। इन पाँच अङ्गों से युक्त तर्क को ही प्रकृत तर्क माना जाता है। प्रमाण से तत्त्व के निश्चय में यही तर्क प्रमाण का सहायक होता है। वरदराज कहते हैं—'अङ्ग पञ्चक सम्पन्नस्तत्त्व ज्ञानाय कल्पते'। इनमें से किसी अङ्ग की भी हानि से वह तर्क नहीं रहकर तर्काभास हो जाता है[1]। किसी तर्क के उपस्थित होने पर पहले यह विचार करना चाहिए कि यह तर्क है या तर्काभास। तर्क के दोषों का ज्ञान भी आवश्यक है। अन्यथा किसी के द्वारा तर्क उपस्थित करने पर यह नहीं जाना जा सकता है कि यह प्रकृत तर्क है या तर्काभास। यदि वह तर्क नहीं है तो इसमें क्या दोष है।

तर्क का प्रकार भेद

महानैयायिक उदयनाचार्य आत्मतत्त्वविवेक में इसी तर्क पदार्थ के पाँच भेद मानते हैं—(१) आत्माश्रय, (२) इतरेतराश्रय, (३) चक्रक (४) अनवस्था और (५) अनिष्ट प्रसङ्ग। तार्किकरक्षा में वरदराज कहते हैं—'आत्माश्रयादि भेदेन तर्कः पञ्चविधः स्मृतः'। इस अनिष्ट प्रसङ्ग को बाधितार्थ प्रसङ्ग भी कहा जाता है। प्रसङ्ग शब्द का अर्थ है आपत्ति। जो पदार्थ प्रमाण से बाधित है उस अनिष्ट=अस्वीकृत पदार्थ की आपत्ति ही बाधितार्थ प्रसङ्ग है। यद्यपि तर्क के प्रत्येक भेद आत्माश्रय आदि बाधितार्थ प्रसङ्ग ही हैं। तथापि प्रत्येक तर्क में कुछ वैशिष्ट्य है। अतएव स्वतन्त्र नाम से उसका उल्लेख किया जाता है। आत्माश्रय आदि चार तर्कों से भिन्न पाँचवाँ प्रकार तर्क का बाधितार्थ प्रसङ्ग अनिष्टापत्ति है। इसी से वृत्तिकार विश्वनाथ इसे तदन्यबाधितार्थ प्रसङ्ग शब्द से कहते हैं[2]।

---

१. तार्किकरक्षा में वरदराज कहते हैं—'व्याप्तिस्तर्काप्रतिहतिरवसानं विपर्यये। अनिष्टाननुकूलत्वे इति तर्काङ्ग पञ्चकम्। अङ्गान्यतमवैकल्ये तर्कस्याभासतामवेत्।' (१) आपादक पदार्थ में आपाद्य पदार्थ की व्याप्ति (२) तर्क के व्याघातक अन्य प्रतिकूल तर्कों से अप्रतिघात। (३) आपाद्य पदार्थ के अभाव में पर्यवसान। (४) आपाद्य पदार्थ का अनिष्टत्व। (५) और उस आपत्ति की अननुकूलता अर्थात् प्रतिपक्ष की असाधकता—ये पाँच तर्क के अङ्ग हैं। इनमें से किसी एक अङ्ग के अभाव में तर्क प्रकृत तर्क नहीं होकर तर्काभास—होता है।

२ सर्वदर्शनसंग्रह में अक्षपाद दर्शन विभाग में माधवाचार्य पूर्वोक्त आत्माश्रय आदि चार प्रकारों के तर्कों को और इस से भिन्न व्याघात आदि सात प्रकारों के तर्कों का उल्लेख करते हैं और गौतम तर्क के ग्यारह प्रकार मानते हैं। किन्तु ये पुनः इन तर्कों की कुछ भी व्याख्या नहीं करते हैं। किसी प्रसिद्ध ग्रन्थ में इनकी व्याख्या मिलने पर भी इनका मूल नहीं मिलता है। न्यायपरिशुद्धि ग्रन्थ में वेङ्कटनाथ तर्क के प्रकार भेद के विषय में प्रमाणसिद्धान्त

जो पदार्थ अपनी उत्पत्ति, स्थिति और ज्ञान में अव्यवहित पूर्वक्षण मे अपनी अपेक्षा करता है उसमे जो अनिष्ट की आपत्ति होती है उसीका नाम आत्माश्रय है। किसी पदार्थ के ज्ञान में किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा है और उस अन्य पदार्थ के लिए यदि पुन उपर्युक्त पदार्थ की ही अपेक्षा होती रहे और इससे जो अनिष्ट की आपत्ति होती है वही इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय) है। अन्य दो पदार्थों की अथवा उससे भी अधिक पदार्थों की अपेक्षा करके अन्त मे यदि पुनः अपनी ही अपेक्षा हो जाती है और इससे जो अनिष्ट की आपत्ति होती है वही चक्रक है। जिस आपत्ति का कहीं भी विश्राम नहीं है इस तरह की धारावाहिक आपत्ति अनवस्था है। किन्तु यदि धारावाहिक आपत्ति प्रमाण सिद्ध है तो इसको दोष नहीं माना जाता है। उसे सर्वसम्मत से इष्टापत्ति कही जाती है। उक्त अनन्त आपत्तिमूलक अनिष्टापत्ति को भी बहुतों के मत मे अनवस्था कही जाती है। जैसे परमाणु को सावयव मानने पर उस अवयव का अवयव पुनः उसका भी अवयव आदि धारावाहिक रूप से अनन्त आपत्ति हो जाती है। और इसे स्वीकार कर लेने पर पर्वत और सरसों मे तुल्य परिमाणत्व की अनिष्टापत्ति हो जाएगी। आत्माश्रय, इतरेतराश्रय और चक्रक के बहुत उदाहरण मिलते हैं। किन्तु संक्षेप में उन उदाहरणों को नहीं कहा जा सकता है। बहुत लिखने पर भी अच्छी तरह से उनका ज्ञान होना कठिन है अतएव गुरुओं के उपदेश से ही उन तर्कों को जाना जा सकता है।

उन चार प्रकारों के तर्क से भिन्न सभी तर्क उसके पञ्चम प्रकार में अन्तर्भूत होते हैं। वह विषय का परिशोधक और व्याप्तिका ग्राहक है। अनुकूल तर्क और प्रतिकूल तर्क आदि नाना संज्ञाओं से इसका बोध कराया जाता है। यहाँ

नामक ग्रंथ के सिद्धान्त को व्याख्या करते हुए आत्माश्रय आदि चार प्रकारों के तर्क को और इस से भिन्न विरोध और असम्भव नामक तर्क को लेकर इसके ६ प्रकारों का वर्णन करते हैं। मानमेयादेय ग्रन्थ मे अनुमान की परीक्षा के प्रकरण में नारायण भट्ट आत्माश्रय आदि प्रसिद्ध चार तर्कों के साथ गौरव और लाघव को जोडकर इसके छ प्रकारो का वर्णन करते हैं। वृत्तिकार विश्वनाथ की कथा से ज्ञात होता है कि किसी मत में प्रथमोपस्थितत्व और विनिगमनाविरह ये दोनों भी तर्क ही हैं। विश्वनाथ अन्त में कहते हैं कि नैयायिक सम्प्रदाय पाँच प्रकारों के तर्क को मानता है जो पहले कहा गया है। और प्रथमोपस्थितत्व, लाघव और गौरव आदि में आपत्तिका स्वरूप नहीं है अतएव वस्तुत वे तर्क नहीं हैं। किन्तु ये सब भी तर्क की तरह प्रमाण के सहकारी होते हैं। इसी से तर्क की तरह इन सबों को भी व्यवहार किया जाता है।

उपर्युक्त तर्क का उदाहरण विषय परिशोधक - अनुकूल तर्क का है। अनुमान के स्थल म जो तर्क हेतु मे साध्य धर्म के व्यभिचार सशय को हटाता है उसे व्याप्ति ग्राहक अनुकूल तर्क कहते हैं। जैसे धूम मे वह्नि के अनुमान में क्या धूम वह्नि का व्यभिचारी है अर्थात् जहाँ आग नहीं रहती है उस स्थान में धूम रहता है या नहीं—इस तरह के सन्देह होने पर धूम यदि आग का व्यभिचारी होता तो आग से धूम की उत्पत्ति नहीं होती। आग के अभाव में भी धूम उत्पन्न हो जाता—इस तरह से आपत्ति को कहना तर्क का फल होता है कि—'धूमोन वह्नि व्यभिचारी वह्नि जन्यत्वात्' धूम म आपाद्य पदार्थ आग के अभाव रूप वह्नि जन्यत्व हेतु मे आपादक पदार्थ का अभाव वह्निव्यभिचारित्वाभाव सिद्ध होता है जो धूम म वह्नि के व्यभिचारसशय को हटाता है। यहाँ तर्क व्याप्ति निश्चय का सहायक है अतएव इसे व्याप्तिग्राहक तर्क कहते हैं।

किसी प्रमाण से तत्त्व के निर्णय में विषय परिशोधक तर्क का रहना आवश्यक होता है। इसी से इस तर्क के स्वरूप के विषय में विवाद रहने पर भी यह अन्य सप्रदाय भी कहता है कि तर्क सभी प्रमाणों का अनुग्राहक है। मानमेयोदय म मीमासक नारायण भट्ट इसका समर्थन करते हैं—'तस्मात् सर्वप्रमाणाना तर्कोऽनुग्राहक स्थित.'। यथार्थ में वेद आदि शास्त्रों के तात्पर्य में सन्देह होने पर उसके निरास के लिए विचार या मीमासा रूप तर्क आवश्यक है। इसी से मीमासक सप्रदाय तर्क को विचार और मीमासा शब्द से उल्लेख करता है। और इसको प्रमाण का सहकारी (इति कर्तव्यतारूप) कहता है। क्योंकि प्रकृत तर्क की सहायता के बिना वेद आदि शास्त्रों के विषयों का निर्णय भी सभव नहीं है। इसी से भगवान् मनु भी कहते हैं—

'आर्ष धर्मोपदेशश्च वेदशास्त्र विरोधिना।
यस्तर्केणानुसधत्ते सधर्म वेद नेतर ॥' १२।१०६।

निर्णय

तर्क के बाद निर्णय का लक्षण करते हैं। तत्त्व का अवधारण (निश्चय) ही निर्णय पदार्थ है। किन्तु न्यायदर्शन के सोलह पदार्थों में निर्णय वह है जो अवयव तथा तर्क से सिद्ध किया जाता है। इसी से गौतम अवयव और तर्क के बाद निर्णय का लक्षण कहते हैं—'विमृश्य पक्ष प्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणम् निर्णय' १।१।४१। सशय के बाद वादी और प्रतिवादी के द्वारा स्वपक्ष का स्थापन और परपक्ष का खण्डन किया जाता है। जिससे मध्यस्थ तत्त्व का अवधारण करता है उसे ही निर्णय कहते हैं। अभिप्राय यह है कि वादी और प्रतिवादी का अपने अपने सिद्धान्त में निर्णय रहता ही है किन्तु मध्यस्थ यदि सशय उपस्थित

करता है तो उसके निरास के लिए वादी और प्रतिवादी स्वपक्ष के स्थापन म और परपक्ष के खण्डन म प्रवृत्त होता है। क्योंकि मध्यस्थ को जब तक एक पक्ष का निर्णय नहीं हो जाएगा तब तक वह किसी सिद्धान्त का अनुमोदन नहीं कर सकता है। अतएव सिद्ध हुआ कि वादी और प्रतिवादी के द्वारा स्वपक्ष का स्थापन और परपक्ष का खण्डन हो जाने पर मध्यस्थ जिस एक पक्ष का अवधारण करता है उसी का नाम निर्णय है। सभा म विजय प्राप्त करने की इच्छा से जल्प और वितण्डा कथा मे वादी और प्रतिवादी के द्वारा सिद्धान्त पक्ष उपस्थित करने पर मध्यस्थ को जिसका अवधारण होता है उसी को गौतम निर्णय कहते हैं। इस निर्णयसूत्र म पहले विमृश्य पद का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है विचार करके अर्थात् मध्यस्थ के द्वारा संशय होने के बाद।

सभा में विजय की कामना नहीं रखने वाले गुरु तथा शिष्य की कथा 'वाद' में मध्यस्थ नहीं होता है। इस कथा से जो तत्त्व निर्णय होता है उसम मध्यस्थ के द्वारा पहले सन्देह प्रस्तुत किया गया नहीं रहता है अतएव निर्णयसूत्र के 'विमृश्य' पद को छोड़कर सूत्र के अन्य अश से ही वादकथा स्थल के निर्णय का लक्षण समझना चाहिए। 'अर्थावधारणम् निर्णयः' इतना अश ही निर्णय का सामान्य लक्षण है। जिस किसी प्रमाण से अर्थ का अवधारण होता है = तत्त्व का निर्णय होता है वही निर्णय पदार्थ है और प्रमाणाभास से जिस पदार्थ का तत्त्व निर्णय होता है इसे भ्रमात्मक निर्णय कहते है।

वाद-जल्प और वितण्डा

महर्षि गौतम ने प्रथम सूत्र मे वाद, जल्प और वितण्डा इन तीन पदार्थों की चर्चा की है। इन पदार्थों को कथा कहा जाता है। भाष्यकार इन पदार्थों की व्याख्या में पहले ही कहते हैं-'तिस्रः कथाः भवन्ति। वादो जल्पो वितण्डा चेति' महर्षि गौतम स्वय वाद में (५।२।१९ २३ सूत्रों में) इस पारिभाषिक कथा शब्द का व्यवहार करते हैं। वाल्मीकि रामायण के अयोध्या काण्ड में भी (२।४२१) इस कथा शब्द का व्यवहार किए है। अभी पहले यह जानना आवश्यक है कि इस कथा का सामान्य लक्षण क्या है। तार्किकरक्षा में वरद राज कहते हैं—'विचार विषयो नाना वक्तृको वाक्यसन्दर्भः।' विचारणीय विषय में अनेक वक्ताओं के वाक्यसमूह को कथा कहा जाता है। किसी एक वक्ता या ग्रन्थकार के पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष, दोष और समाधान—इन विषयों के प्रतिपादक वाक्यसमूह को 'कथा' शब्द से नहीं कहा जाता है। अपितु विचारणीय विषय में नियमपूर्वक वादी और प्रतिवादी का उक्ति प्रत्युक्तिरूप

वचनसमूह 'कथा' है। वृत्तिकार विश्वनाथ इसी विषय को विशद करते हुए कहते हैं कि तत्त्वनिर्णय अथवा विजयलाभ के संपादन योग्य न्यायानुकूल वाक्य सन्दर्भ कथा है। लौकिक विवाद के विषय में वादी और प्रतिवादी की उक्तिप्रत्युक्ति न्याय के पञ्चावयव वाक्य के अनुकूल नहीं होती है। इसलिए उसे कथा शब्द से नहीं कहा जाता है।

यथार्थ में तत्त्वनिर्णय अथवा विजय की प्राप्ति–इन दो उद्देश्यों से ही वादी और प्रतिवादी अपने मत के संस्थापन में और दूसरों के मत के खण्डन में प्रवृत्त होते हैं। जिस में केवल तत्त्वनिर्णय के लिए गुरु तथा शिष्य में विचार होता है वह वादकथा है। इसमें किसी व्यक्ति का विजय की इच्छा नहीं रहती है। केवल तत्त्वनिर्णय करना ही उद्देश्य रहता है। अतएव जबतक तत्त्वनिर्णय नहीं हो जाता है तब तक यह वाद चलता है।

जब वादी और प्रतिवादी विजय की इच्छा से विचार करते हैं उस स्थान के न्यायानुकूल उक्तिप्रत्युक्तिरूप वाक्यसमूह जल्प और वितण्डा शब्द से कहा जाता है। जहाँ प्रतिवादी भी वादी की तरह अपने पक्ष का स्थापन करता है उस कथा को जल्प कहते हैं और जहाँ प्रतिवादी अपने पक्ष का स्थापन नहीं करता है केवल परपक्ष का खण्डन ही करता है उस कथा को वितण्डा कहते हैं। महर्षि गौतम न्यायदर्शन के प्रथम अध्याय द्वितीय आह्निक में आरम्भ में ही इन कथाओं का लक्षण करते हैं—'प्रमाणतर्कसाधनो-पालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः। यथोक्तो-पपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः। स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा'।

यहाँ प्रथम सूत्र में वाद का लक्षण कहते हैं। जहाँ प्रमाण तथा तर्क से स्वपक्ष का स्थापन और परपक्ष का खण्डन किया जाता है और जो सिद्धान्त का अविरोधी है अर्थात् जिसे अपसिद्धान्त नहीं कहा जा सकता है जो प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों से युक्त है इस तरह के पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रह – अर्थात् जहाँ वादी और प्रतिवादी नियमतः दो विरुद्ध धर्मों का – पक्ष और प्रतिपक्ष का सम्स्थापन करता है उस वादी तथा प्रतिवादी के वाक्यसमूह को वाद कहते हैं। जैसे तत्त्वनिर्णय के लिए शिष्य पहले गुरु के समीप में जाकर प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग करके आत्मा के अनित्यत्व रूप पक्ष का स्थापन करता है। पश्चात् गुरु नियमपूर्वक आत्मा के नित्यत्वरूप प्रतिपक्ष का संस्थापन करता है और अनित्यत्व पक्ष का खण्डन करता है जिसमें शिष्य को तत्त्व का निर्णय हो जाता है। इस स्थल के गुरु तथा शिष्य

दोनों का उक्ति प्रत्युक्तिरूप वाक्यसमूह 'वाद' है। यहाँ शिष्य के द्वारा कहा गया प्रमाण तथा तर्क प्रकृत प्रमाण और प्रकृत तर्क नहीं है। किन्तु इसे प्रमाणाभास और तर्काभास कहते हैं, यद्यपि शिष्य इसे प्रकृत प्रमाण तथा प्रकृत तर्क समझकर प्रयोग करता है। इसी तात्पर्य से शिष्य के द्वारा कहे गये वाक्यसमूह को—'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ' शब्द से व्यवहृत किया जाता है।

जल्प और वितण्डा कथा में प्रतिवादी जय की प्राप्ति के लिए किसी स्थल में प्रमाणाभास तथा तर्काभास को तत्त्वतः समझकर भी प्रमाण और तर्क रूप में प्रस्तुत करता है और उसके द्वारा स्वपक्ष का स्थापन तथा परपक्ष का खण्डन करता है। किन्तु वाद कथा में ऐसा नहीं होता क्योंकि प्रतारक व्यक्ति वाद कथा का अधिकारी ही नहीं है। प्रमाणाभास अथवा तर्काभास को जान बूझकर उसमें यदि स्वपक्ष का स्थापन आदि नहीं किया जाता है तो इसे वाद कहते हैं। वाद के लक्षणसूत्रगत प्रथम पद से गौतम का यही अभिप्राय व्यक्त होता है। भाष्यकार कहते हैं कि—'पञ्चावयवोपपन्नः' इस पद से पहले—'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ' इस पद के प्रयोग से सूचित होता है कि किसी स्थल में पञ्चावयव के प्रयोग के बिना भी वाद कथा होती है। किन्तु प्रमाण तथा तर्क से ही वहाँ निज पक्ष का स्थापन और परपक्ष का खण्डन किया जाता है। अन्यथा वह वाद कथा नहीं हो सकता है।

जल्प और वितण्डा में मध्यस्थ के प्रश्न के अनुसार वादी यथानियम प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों का प्रयोग करता है और उसके साथ जय एवं पराजय की व्यवस्था पहले से ही रहती है। इसीसे प्रतिज्ञाहानि आदि सभी निग्रहस्थानों का उद्भावन किया जाता है। किन्तु वाद कथा में केवल अपसिद्धान्त तथा हेत्वाभास का प्रयोग होता है। गुरु भी यदि भ्रमवश अपसिद्धान्त कह देता है तो इसका ज्ञान उसे करा दिया जाता है। गुरु यदि दुष्ट हेतु से स्वपक्ष का स्थापन करता है तो शिष्य इसका उल्लेख कर देता है अन्यथा तत्त्वनिर्णयरूप उद्देश्य सिद्ध ही नहीं होता है। वाद के लक्षणसूत्र के—'सिद्धान्ताविरुद्धः' पद से सूचित होता है कि वाद कथा में अपसिद्धान्त और हेत्वाभास का प्रयोग किया जा सकता है एवं किया जाता भी है। भाष्यकार तथा अन्य प्राचीन आचार्यों के मत से वादकथा में पञ्चावयव वाक्य के प्रयोग होने में न्यून तथा अधिक नामक निग्रहस्थान की उद्भावना अवसर पर की जा सकती है। पश्चात् निग्रहस्थान के विचार में इसका स्पष्टीकरण होगा।

महर्षि गौतम द्वितीय सूत्र के द्वारा जल्पकथा का लक्षण कहते हैं। पहले वाद कथा के सूत्र में वाद के सभी धर्मों को कहा गया है। उन धर्मों से युक्त

होकर ही जहाँ छल, जाति और सभी प्रकारों के निग्रहस्थानों के द्वारा स्वपक्ष का स्थापन और परपक्ष का खण्डन किया जाता है इस तरह के वाक्य समूह को जल्प कहते हैं इस सूत्र में अन्तिम विशेषण से ज्ञात होता है कि वाद कथा म वादी और प्रतिवादी को जय की इच्छा नहीं रहती है किंतु जल्प कथा म दोनों को जय की इच्छा रहती है क्योंकि विजय की कामना से ही प्रतिवादी छल आदि का व्यवहार करता है। जल्प और वितण्डा में जयलाभ के लिए असदुत्तर का जो व्यवहार किया जाता है उस असदुत्तरविशेष को ही छल और जाति कहते हैं। बाद में (इसी अध्याय में) इनके स्वरूप का परिचय कराया *जाएगा।*

अभिप्राय यह है कि केवल तत्त्वनिर्णय के लिए जो विचार किया जाता है जिसम किसी भी पक्ष को जय की इच्छा नहीं रहती है वह 'वाद' है। जल्प कथा में जय की इच्छा से वादी और प्रतिवादी अपने-अपने सिद्धान्त के स्थापनपूर्वक विचार करता है। गौतम के इन दोनों सूत्रों का यही अभिप्राय है। इसी के अनुसार प्राचीन आचार्यगण कहते हैं—'तत्त्वबुभुत्सुकथा वाद' 'उभयपक्षस्थापनावती विजिगीषुकथा जल्प'।

वितण्डा का लक्षण किया जाता है—'स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा' (स = जल्प प्रतिपक्षहीन सन् वितण्डा भवति)। जल्प कथा म ही यदि प्रतिवादी के मत की स्थापना नहीं रहती है तो वह वितण्डा कथा होती है। तात्पर्य यह है कि वादी के मत की स्थापना होने पर प्रतिवादी केवल उसका खण्डन करता है। वादी का जो प्रतिपक्ष रहता है वह—अर्थात् वैतण्डिक का मत स्थापित ही नहीं किया जाता है। किसी के मत से वैतण्डिक का अपना सिद्धान्त ही नहीं होता है। किन्तु भाष्यकार वात्स्यायन ने युक्तियों से सिद्ध कर दिया है कि *वैतण्डिक का भी अपना सिद्धान्त होता है। अन्यथा उसकी वितण्डा* कथा सभव नहीं है। किन्तु वह उसका (निजपक्ष का) उपपादन नहीं करता है।

वस्तुत महर्षि गौतम भी इस सूत्र में प्रतिपक्ष शब्द व वाद स्थापना शब्द का प्रयोग करके स्पष्ट कहते हैं कि वैतण्डिक का भी अपना सिद्धान्त होता है। *किन्तु वादी के मत के खण्डन कर देने पर उसके मत की स्वत सिद्धि* हो जाएगी—इसी आशा से प्रतिवादी वैतण्डिक अपने मत की स्थापना नहीं *करता है, और वादी के मत का खण्डन करता है।* उद्योतकर भी कहते हैं—*'अभ्युपेत्य पक्षं यो न स्थापयति स वैतण्डिक उच्यते'।* जल्प कथा में वादी और प्रतिवादी दोनों ही नियमपूर्वक पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग करता है किन्तु वितण्डा म प्रतिवादी अपने मत की स्थापना नहीं करता है—जल्प और वितण्डा म

यही अन्तर है। चरकसंहिता के विमानस्थान (अध्याय ८) में कहा गया है—'जल्पविपर्ययो वितण्डा। वितण्डा नाम परपक्षदोषवचनमात्रमेव'। इस वितण्डा पदार्थ को नहीं जानकर कितने व्यक्ति वाक्कलह अथवा सत्य के अपलाप के लिए कुतर्क के प्रयोग को वितण्डा शब्द से लेते हैं और वाक्वितण्डा तथा वादवितण्डा आदि शब्दों का व्यवहार भी करते हैं। वितण्डा शब्द का प्रयोग प्रायः उचित अर्थ में अभी नहीं होता है। 'वितण्ड्यते=व्याहन्यते परपक्षोऽनया' इस व्युत्पत्ति के आधार पर वितण्डा वह कथा है जिसमें प्रतिवादी केवल परपक्ष का खण्डन करता है।

विचार के अवसर में क्रुद्ध होकर जो कलह करता है अथवा सर्वजनसिद्ध वस्तु का अपलाप करने के लिए कुतर्क प्रस्तुत करता है वह व्यक्ति वितण्डा कथा का भी अधिकारी नहीं है। तर्कशास्त्र के व्याख्याता और प्रचारक प्राचीन आचार्यगण इस तरह अनुचित करने के लिए उसे भी छूट नहीं देते हैं जो विचार के द्वारा केवल विजय की ही कामना करता है।

तीन प्रकार की कथाओं के अधिकारी के वर्णन के अवसर में स्पष्ट कहा गया है कि जो व्यक्ति तत्त्वनिर्णय अथवा जयलाभ की इच्छा रखता है और सर्वजनसिद्ध वस्तु का अपलाप नहीं करता है, सुनने में पटु है, बहरा या प्रमत्त नहीं है, कथा करने के सभी व्यापारों में निपुण है और कलह नहीं करता है वही कथा का यथार्थ अधिकारी है। इनमें भी जो तत्त्वनिर्णय की कामना रखता है, सत्य का ज्ञान बूझकर अपलाप नहीं करता है, प्रकृत विषय में ही सभी वाक्यों का प्रयोग करता है, अवसर पर ही उत्तर कह सकता है, और केवल युक्ति से सिद्ध तत्त्व का ही ग्रहण करता है वह यथार्थतः 'वाद' कथा का अधिकारी है।

किन्तु प्राचीन आचार्यगण जल्प और वितण्डा के अङ्गरूप में (१) वादिनियम (२) प्रतिवादिनियम (३) सभापति नियम और (४) मध्यस्थ तथा सदस्य नियम—इन चार को भी कह गये हैं। उसमें वादिनियम और प्रतिवादिनियम अर्थात् वादी और प्रतिवादी कौन हो सकता है—इसके अधिकार का निर्णय करना आवश्यक है। सभापति इसका निश्चय करके वादी और प्रतिवादी को नियुक्त करता है। उस सभा में राजा अथवा राजा के सदृश प्रभावशाली व्यक्ति ही सभापति हो सकता है। सभापति उपयुक्त मध्यस्थ को चुनकर देता है और तब वादी तथा प्रतिवादी में विचार आरम्भ होता है। वादी और प्रतिवादी मध्यस्थ के समीप में जाकर नियमपूर्वक सभी कथाओं को (अपने वक्तव्य को) कहते हैं। अभी जल्पकथा के क्रम का विवरण संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है।

वादी पहले मध्यस्थ के प्रश्न के अनुसार प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयवरूप न्याय का प्रयोग करता है जिससे अपने मत का स्थापन होता है। पश्चात् उसके द्वारा कहे गये हेतु में दोष नहीं है—इसका प्रतिपादन किया जाता है। अर्थात् उक्त हेतु में सम्भाव्यमान सभी दोषों के निराकरण के लिए पहले हेत्वाभास का सामान्य लक्षण नहीं घटता है अतएव हेत्वाभास दोष नहीं है पश्चात् उसके विशेष विशेष लक्षणोंको घटाकर सव्यभिचार आदि दोषों का अभाव सिद्ध किया जाता है। अतएव सिद्ध करना पड़ता है कि यह हेतु प्रकृत साध्यधर्म का साधक है।

इस तरह से वादी के सभी वक्तव्यों के समाप्त हो जाने पर प्रतिवादी मध्यस्थ के समक्ष म ही पहले वादी के प्रधान वक्तव्य का अनुवाद करता है क्योंकि मध्यस्थ को यह जानना आवश्यक रहता है कि प्रतिवादी यदि वादी की कथा को नहीं जानता है तो प्रतिवादी के पक्ष में अनेक निग्रहस्थान की उद्भावना भी हो सकती है। पश्चात् वादी के सिद्धान्त के खण्डन के लिए वादी के पक्ष मे हेत्वाभास से भिन्न निग्रहस्थानविशेष का उल्लेख करता है। यदि यह सम्भव नहीं है तो यथासम्भव हेत्वाभास दिखाकर वादी के हेतु में दोष का उद्भावन करता है और अन्त म प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयवरूप न्याय के प्रयोग से अपने मत का स्थापन करता है।

प्रतिवादी का वक्तव्य समाप्त होने पर वादी तीसरा पक्ष लेकर प्रतिवादी की कथाओं का अनुवाद करता है जिससे मध्यस्थ को यह ज्ञान हो जाता है कि वादी प्रतिवादी की कथा को जानता है। पश्चात् वह (वादी) प्रतिवादी के द्वारा कहे गये दोषों का उद्धार करता है और प्रतिवादी के पक्ष म उपर्युक्त रीति से दोष दिखाकर उसका खण्डन करता है। पुन. प्रतिवादी चौथा पक्ष लेकर पूर्ववत् सभी कार्यों को करता है। इसी प्रणाली से विजय की इच्छा (विचारों) मे प्रवृत्त वादी और प्रतिवादी का शास्त्रार्थ होता है। अन्त म जो अपने मत मे कहे गये दोषों का उद्धार नहीं कर सकता है और दूसरों के मत म दोष नहीं दिखा सकता है वह पराजित होता है। मध्यस्थ उस जय पराजय का निर्णय करता है और इसे जानकर सभापति इसकी घोषणा करता है। इस विचार काल में वादी अथवा प्रतिवादी यदि किसी भी नियम से च्युत हो जाता है तो उचित रूप से स्वपक्ष के स्थापन करने पर भी नियमच्युत होने से तात्कालिक निग्रहस्थान को पाकर निगृहीत हो जाता है अर्थात् पराजित हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि जय और पराजय के लिए जिन नियमों को कहा गया है उन नियमों का पालन अवश्य होना चाहिए। अतएव यहाँ संशय या सन्देह की

गुञ्जाइश ही नहीं है। किन्तु निग्रह और अनुग्रह में समर्थ सर्वमान्य किसी सभापति का होना और इसी तरह का पक्षपात से रहित बोद्धा मध्यस्थ का मिलना आजकल दुर्लभ है। काल के प्रभाव से आजकल कोई भी व्यक्ति नियम के बन्धन में रहना पसन्द नहीं करता है। इसीसे नियमपूर्वक वादी और प्रतिवादी की विचार पद्धति लुप्त सी होती जा रही है। इस विषय में अधिक कहना आवश्यक भी नहीं है।

किन्तु यहाँ यह कहना आवश्यक है कि वाद कथा में सभा तथा मध्यस्थ आदि का प्रयोजन नहीं है। पर्णकुटी में या पेड़ के नीचे बैठकर गुरु और शिष्य तत्व निर्णय के लिए 'वादकथा' करते हैं। मुमुक्षु व्यक्ति को भी तत्त्वनिर्णय और उसकी दृढ़ता के लिए पहले आन्वीक्षिकी विद्या का अध्ययन, धारणा तथा निरन्तर चिन्तनरूप अभ्यास आवश्यक है। वाद में इस विद्या को जानने वाला असूया से रहित शिष्य, गुरु, सतीर्थ्य और शास्त्र में निष्णात किसी अन्य के समीप में भी वादकथा कर सकता है। इसी का प्राचीन नाम—'तद्विद्यसंवाद या तद्विद्यसभाषा' है। महर्षि गौतम ने भी वाद को इस शब्द से दो सूत्रों में कहा है[1]। वाद-विचार में लेशमात्र भी किसी को विजय की इच्छा नहीं रहती है। अतएव इसे वीतरागकथा कहते हैं। किन्तु इसमें भी नियमपूर्वक किसी एक मत का खण्डन हो ही जाता है। अन्यथा वाद का उद्देश्य ही सिद्ध नहीं हो सकता है। शारीरकभाष्य में शङ्कराचार्य ने इसका समर्थन किया है।

उपर्युक्त तीन कथाओं में वाद ही सर्वश्रेष्ठ है[2] क्योंकि वह तत्त्वनिर्णय में सहायक और परम पवित्र भी है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—'वादः प्रवदतामहम्' (गीता–१०–३२) अर्थात् उन कथाओं में मैं वाद हूँ।

स्थान-स्थान पर मुमुक्षुओं को भी जल्प और वितण्डा करनी पड़ती है। इन कथाओं का भी तत्त्वज्ञान आवश्यक है। इसी से महर्षि गौतम सोलह पदार्थों में इन पदार्थों की भी चर्चा करते हैं। विजय की कामना से होनेवाली जल्प

---

१. 'ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैः सह संवादः। तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारि-विशिष्टश्रेयोर्थिभिरनसूयिभिरभ्युपेयात्।' न्यायदर्शन ४।२।४७–४८।

२. 'ननु मुमुक्षुणा मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शननिरूपणाय स्वपक्षस्थापनमेव केवलं कर्तुं युक्तम् किं परपक्षनिराकरणेन परद्वेषकरेण, बाढमेवं, तथापि महाजन-परिगृहीतानि महान्ति सा[illegible]ख्यादितन्त्राणि'–इत्यादि (शारीरकभाष्य २।२।१।) 'तत्त्वनिर्णयावसाना वीतरागकथा, न च परपक्षदूषणमन्तरेण तत्त्वनिर्णयः शक्यः कर्तुमिति तत्त्वनिर्णयाय वीतरागेणापि परपक्षो दूष्यते न तु परपक्षतयेति न वीत-रागकथात्वव्याहतिरित्यर्थः'।—भामती।

और वितण्डा कथा में मुमुक्षुओं को क्यों रुचि रखनी चाहिए—इसके उत्तर में महर्षि गौतम कहते हैं—'तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोह-संरक्षणार्थम् कण्टकशाखावरणवत्' ४।२।५०।[1] किसी ने अपने खेत में बीज बोया है। अङ्कुर भी आ गये हैं। तब गाय महिष आदि से उन अंकुरों को बचाने के लिए जैसे काँटे वाली डाल से खेत को घेरकर उन अंकुरों की रक्षा की जाती है उसी तरह से मुमुक्षु व्यक्ति को अपने तत्त्वनिश्चय की रक्षा के लिए आवश्यकता होने पर जल्प और वितण्डा कथा करनी चाहिए। भाष्यकार वात्स्यायन गौतम के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शास्त्रों के द्वारा पहले तत्त्वों के सुन लेने पर जिसे वह तत्त्वनिश्चय दृढ़ या परिपक्व नहीं हुआ है वह व्यक्ति उसकी दृढ़ता के लिये गुरु के उपदेश में प्रवृत्त होता है। इन लोगों के समीप में नास्तिकगण उसके विप-रीत पक्ष का समर्थन करते हैं जिससे तत्त्वनिश्चय में हानि होती है। अतएव उस तत्त्वनिश्चय की रक्षा के लिए मुमुक्षुओं को भी अगत्या जल्प और वितण्डा कथा का आश्रय लेना पड़ता है जिससे नास्तिक को निरस्त किया जा सकता है। किन्तु धन का लाभ, समाज में आदर और ख्याति के लाभ के लिए इन कथाओं की कुछ भी उपयोगिता नहीं है। भाष्यकार स्पष्ट कहते हैं—'तदेतद् विद्या-परिपालनार्थम्, न लाभपूजाख्यात्यर्थमिति'।

तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि कितने साहसिक नास्तिक सद्विद्या में विरक्ति के कारण अथवा लाभ, पूजा (आदर) तथा ख्याति की कामना से आस्तिकों के ऊपर आक्रमण करते हैं और वेद, ब्राह्मण आदि का खण्डन करते हैं जिससे समाज में और धर्मरक्षक राजाओं में मतिविभ्रम उपस्थित होता है और प्रजाजनों में इससे धर्मसङ्कट की आपत्ति हो जाती है। इसके निवृत्ति के लिए आस्तिक पण्डित समाज तत्काल में जल्प और वितण्डा से उन नास्तिकों को पराजित करता है। किंतु ये लोग भी वेद विद्या तथा वैदिक धर्म की रक्षा के लिए ही ऐसा करते हैं। धन की आशा से अथवा समाज में प्रतिष्ठा के लिए ये कथाएँ नहीं चलाई जाती हैं। गौतम के इसी सूत्र के अनुसार तार्किकरक्षा में वरदराज[2] कहते हैं कि धर्मशास्त्र में—'न विरुध्य

---

१. ज्ञात होता है कि गौतम के इस सूत्र के अनुसार ही किसी समय में वेदान्ती—'इदं तु कण्टकावरणम्, तत्त्वन्तु बादरायणात्' इस तरह की वाक्यरचना करता है। किन्तु इस सूत्र से गौतम न्यायशास्त्र को कण्टकावरण नहीं कहते हैं। उन्होंने 'तत्त्वन्तु बादरायणात्' इस तरह की भी सूत्ररचना नहीं की है।

२. यच्च 'न विगृह्य कथां कुर्यात्' इत्यादिभिः जल्पवितण्डयोर्निषेधः, तदुद्-बोधः, नास्तिकनिराकरणार्थम् अवश्यकर्तव्यत्वेन तद्वितरविषयत्वान्निषेधस्य। तदुक्तं—'तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थम्' इत्यादि।

कथा कुर्यात्' यह निषेध वाक्य कहा जाता है अर्थात् जल्प और वितण्डा नहीं करनी चाहिए। किन्तु इस निषेध वाक्य का तात्पर्य यह है कि अनुचित उद्देश्य को लेकर विजय की इच्छा से शिष्ट आस्तिकों के साथ इन कथाओं को नहीं करना चाहिए किन्तु अवसर पर अशिष्ट एवं दुर्विनीत नास्तिकों के साथ उन्हें निरस्त करने के लिए जल्प और वितण्डा कथा का आश्रय लेना कोई अनुचित नहीं है। महर्षि गौतम का भी यही अभिप्राय है। रामानुज सम्प्रदाय के वैष्णव दार्शनिक वेङ्कटनाथ ने न्यायपरिशुद्धि में इस कथा को स्पष्ट कहा है। इस व्यवस्था को शास्त्र सिद्ध प्रमाणित करते हुए भगवद्गीता के—'वादः प्रवदतामहम्' का उद्धरण देकर दिखाते हैं कि रामानुज सिद्धान्त भी इस व्यवस्था का समर्थन करता है[1]। यथार्थ में जो भी उद्देश्य हो, जिस अवस्था में हो—किन्तु देखा गया है कि अवसर पाकर निष्पक्ष (शुद्धचित्त) व्यक्ति भी विजय की कामना से शास्त्र विचार करता है। प्राचीन समय में राजर्षि जनक की यज्ञसभा में ब्रह्म को जानने वाले मुनि याज्ञवल्क्य ने भी विजय की इच्छा से उषस्त कहोल और आर्त भाग आदि ब्राह्मणों के साथ शास्त्रविचार करके उन्हें पराजित किया था और इन लोगों ने भी याज्ञवल्क्य को पराजित करने के लिए कितने दुरुत्तर प्रश्न पूछे थे। बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय के आरम्भ में ही इसका विवरण दिया गया है। यद्यपि वहाँ उन प्रश्नों में तथा याज्ञवल्क्य के उत्तरों में गौतम के प्रतिपादित जल्प तथा वितण्डा कथा के लक्षण समन्वित नहीं होते हैं तथापि जीवन्मुक्तिविवेक नामक ग्रन्थ में अद्वैतवादी विद्यारण्य मुनि भी उन लोगों के विचारों का समर्थन करते हैं[2]।

जो भी हो, इस विषय में अनावश्यक जानकर अभी कुछ भी अधिक नहीं कहा जाता है। अब पाठकों को हेत्वाभास का परिचय दिया जाता है।

— • —

१ 'आगमसिद्धा चेयं व्यवस्था' 'वादजल्पवितण्डाभि'रित्यादिवचनात्। भगवद्गीताभाष्येऽपि-इत्यादि—न्यायपरिशुद्धि (चौखम्भा सीरिज) द्वितीय आह्निक देखिये।

२. अस्ति हि याज्ञवल्क्यस्य तत्प्रतिवादिनामुषस्तकहोलादीनाञ्च भूयान् विद्यामदः, तै. सर्वैरपि विजिगीषुकथाया प्रवृत्तत्वात्' इत्यादि—'जीवन्मुक्ति विवेक' द्वितीय प्रकरण (बम्बई संस्करण पृ० २५७)।

सोलहवाँ अध्याय
(उत्तरार्द्ध भाग)
हेत्वाभास

अनुमान में जो प्रकृत हेतु नहीं रहता है और हेतु की तरह प्रतीत होता है उसका नाम हेत्वाभास है। इस हेत्वाभास के ज्ञान के बिना उन तीनों प्रकारों की कथा का अधिकार ही किसी को नहीं होता है। इसी से गौतम यथा क्रम इसकी चर्चा एवं विभाग करते हैं—'सव्यभिचारविरुद्ध प्रकरणसम साध्यसम कालातीता हेत्वाभासाः' १।२।४। सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष), साध्यसम (असिद्ध) और कालातीत (बाधित)—इन पाँच प्रकारों के हेत्वाभास होते हैं। इस सूत्र का हेत्वाभास शब्द इसके सामान्य लक्षण की सूचना देता है क्योंकि—'हेतुवदाभासन्ते' इस व्युत्पत्ति से जो पदार्थ हेतु के सभी लक्षणों से युक्त नहीं है और हेतु की तरह प्रतीत होता है वही हेत्वाभास पद से लिया जाता है। अतएव हेत्वाभास शब्द से उक्त व्युत्पत्ति रूप इसका सामान्य लक्षण सूचित होता है। भाष्यकार वात्स्यायन पहले ही कहते हैं—'हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः'। हेतु के सभी लक्षणों के नहीं घटने पर भी जो पदार्थ हेतु नहीं है और सादृश्य से हेतु की तरह प्रतीत होता है वही हेत्वाभास है। अनुमानस्थल में पहले यह जानना आवश्यक है कि हेतु के क्या लक्षण हैं। महर्षि गौतम हेतुवाक्य के लक्षणसूत्र में—'साध्य साधनम्' पद से और पश्चात् पाँच प्रकारों के हेत्वाभास के द्वारा हेतु के सामान्य लक्षण की सूचना देते हैं। इसी से आधुनिक नैयायिक कहता है कि (१) पक्ष में हेतु की स्थिति (रहना) (२) सपक्ष में हेतु का रहना (३) विपक्ष में उसका नहीं रहना (४) असत्प्रतिपक्षितत्व और (५) अबाधितत्व—इन पाँच धर्मों को हेतु के सामान्य लक्षणरूप में कहा गया है। कहीं कहीं इनमें से चार धर्मों को भी इसका लक्षण कहा गया है[1]।

---

१. जिस स्थल में सपक्ष का रहना सम्भव नहीं है उस स्थल में सपक्षसत्त्व को छोड़ कर अन्य चार धर्म ही और जहाँ विपक्ष सम्भव नहीं है उस स्थल में विपक्षासत्त्व को छोड़कर अन्य चार धर्म ही हेतु के लक्षण होते हैं—यह जानना आवश्यक है। तर्कामृत ग्रन्थ में जगदीश तर्कालङ्कार ने भी इसका समर्थन किया है।

जिस अधिकरण (धर्मी) में किसी धर्म का – साध्य का अनुमान किया जाता है उसका नाम 'पक्ष' है। जहाँ इस अनुमेय धर्म की स्थिति का निश्चय रहता है वह अधिकरण 'सपक्ष' है। जिस अधिकरण में इस अनुमेय धर्म का अभाव निश्चित रहता है उसका नाम विपक्ष है। जैसे धूम से आग के अनुमान में पर्वत पक्ष होता है, पाकशाला (महानस) सपक्ष और जल आदि विपक्ष। पक्ष में हेतु का रहना पक्ष सत्त्व शब्द से कहा जाता है। सपक्ष में हेतु का रहना सपक्ष सत्त्व है और विपक्ष में हेतु का नहीं रहना विपक्षासत्त्व है। उपर्युक्त अनुमान में पर्वतरूप पक्ष और पाकशालारूप सपक्ष में धूम रहता है और जलादि विपक्ष में वह नहीं रहता है, अत एव धूम हेतु में पक्षसत्त्व, सपक्ष सत्त्व तथा विपक्षासत्त्व—ये तीन धर्म विद्यमान हैं। यहाँ उक्त हेतु का प्रतिपक्ष का अर्थात् तुल्यबलविरोधी किसी हेतु का ज्ञान नहीं हुआ है अतएव असत्प्रतिपक्षित्व धर्म भी है। पर्वत में आग नहीं रहती है—यह प्रमाण से निश्चित नहीं है अतएव अबाधितत्व धर्म भी रहता है। इसलिए धूम हेतु में हेतु के सभी लक्षण उक्त पाँच धर्म की स्थितिरूप विद्यमान हैं।

महर्षि गौतम उक्त पाँच धर्मों में एक धर्म के अभाव में पाँच प्रकार के हेत्वाभास को कहते हैं। क्योंकि विपक्ष में हेतु की असत्ता नहीं रहने पर हेतु में विपक्षासत्व नहीं रहने पर (१) सव्यभिचार नामक हेत्वाभास होता है। (२) सपक्ष में हेतु के नहीं रहने से विरुद्ध नामक हेत्वाभास रहता है। (३) असत्प्रतिपक्षितत्व नहीं होने से प्रकरणसम नामक हेत्वाभास होता है। (४) पक्ष में हेतु के नहीं रहने से साध्यसम नामक हेत्वाभास होता है। (५) अबाधितत्व नहीं रहने से 'कालातीत' नामक हेत्वाभास होता है। किन्तु इन सभी पदार्थों में हेतु के किसी किसी धर्म के रहने से वह हेतु का सदृश है। इसीसे हेतु की तरह प्रतीयमान होता है अतएव उपर्युक्त हेत्वाभास का लक्षण रचना है। तार्किकरक्षा ग्रन्थ में वरदराज भी कहते हैं—

> 'हेतोः येनापि रूपेण रहिताः कैश्चिदन्विताः।
> हेत्वाभासाः पञ्चधा ते गौतमेन प्रपञ्चिताः॥'

पूर्व सूत्र में कहे गये हेत्वाभासों में प्रथम प्रकार का नाम सव्यभिचार है। महर्षि गौतम इसका लक्षण सूत्र कहते हैं—'अनैकान्तिकः सव्यभिचारः' १।२।५। जो अनैकान्तिक है उसे ही सव्यभिचार कहते हैं। यह अनैकान्तिक तथा अनैकान्त शब्द से भी कहा जाता है। प्राचीन समय में परस्पर विरोधी अर्थ में 'अन्त' शब्द का प्रयोग होता था। अनुमान स्थल में साध्यधर्म और उसका अभाव परस्पर विरुद्ध दो 'अन्त' होते हैं। 'एकस्मिन् अन्ते नियते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'ऐकान्तिक'

शब्द का अर्थ होता है किसी एक अन्त में नियत रहने वाला और दूसरा विपरीत अर्थात् जो हेतु किसी एक पक्ष में नियतरूप से नहीं है वह अनैकान्तिक होता है। भाष्यकार की इस व्याख्या के अनुसार फलितार्थ यह होता है कि अनुमान-स्थल में जो हेतु सपक्ष में तथा विपक्ष में रहता है वही सव्यभिचार नामक हेत्वाभास है। इस हेतु में विपक्षासत्त्वरूप हेतु का लक्षण नहीं घटता है। अतएव साध्यधर्म के व्यभिचारी होने से यह व्याप्तिशून्य हेतु है। जैसे वादी कहता है—'शब्दो नित्यः, स्पर्शशून्यत्वादात्मवत्'। इस स्थल में आत्मा आदि अनेक नित्य पदार्थों की तरह रूप आदि अनेक अनित्य पदार्थ में भी स्पर्श-शून्यत्व रहता है अतएव यह हेतु नित्यत्व का व्यभिचारी होता है। इसी का नाम सव्यभिचार है। इस हेतु में हेतु का विपक्ष सत्त्व अर्थात् साध्य के निश्चित अनधिकरण में हेतु की विद्यमानता है जो दोष है या व्यभिचार कहिए। व्यभिचार के निश्चय से व्याप्ति का निश्चय संभव ही नहीं है अतएव इस हेतु से अनुमिति नहीं होती है। बाद में महर्षि गौतम भी—'व्यभिचारादहेतुः'—(४।१।५) इस सूत्र में व्यक्त करते हैं साध्यधर्म के व्यभिचार विशिष्ट होने से हेतु व्याप्ति विशिष्ट नहीं होता है अतएव यह प्रकृत हेतु नहीं है। इस सूत्र से ज्ञात होता है कि साध्य धर्म के व्यभिचार का अभाव ही व्याप्ति का स्वरूप है यह अनुमान का अङ्ग होता है। यद्यपि व्याप्ति के अन्य लक्षण भी हैं।

तार्किक रक्षाकार वरदराज तथा अन्य नैयायिकों ने भी इस सव्यभिचार के साधारण और असाधारण नामक दो प्रकारों को कहा है[१]। जो हेतु पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष तीनों में रहता है वह 'साधारण' सव्यभिचार है। 'शब्दो नित्यः स्पर्शशून्यत्वात्' 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' आदि इसके उदाहरण होते हैं।

---

१. बाद में 'तत्त्वचिन्तामणिकार' गङ्गेश उपाध्याय ने सव्यभिचार के तीसरे प्रकार को भी कहा है जो 'अनुपसंहारी' है। क्रमशः इन तीनों प्रकारों के सव्यभिचार की विभिन्न व्याख्याएँ हुईं। गङ्गेश आदि के मत में 'सर्वं प्रमेयम्' इस तरह सभी पदार्थों में प्रमेयत्व धर्म के अनुमान में जो हेतु होगा वह अनुप-संहारी सव्यभिचार होता है क्योंकि इस अनुमान में सभी पदार्थ पक्ष हो हो जाते हैं सपक्ष या विपक्षरूप दृष्टान्त के अभाव में उस हेतु के साथ प्रमेयत्वरूप साध्य धर्म की व्याप्ति का निश्चय नहीं होता है। सारांश यह है कि सभी पदार्थों को किसी अनुमान के पक्ष मान लेने पर इस मत में वहाँ जो भी हेतु होगा वह 'अनुपसं-हारी' होगा। अनेक नवीन नैयायिकों के मत में सभी पदार्थों में विद्यमान वाच्यत्व तथा प्रमेयत्व आदि केवलान्वयी धर्म हैं इनके साध्यधर्मरूप में अथवा हेतुरूप में गृहीत होने पर उस स्थल का हेतु अनुपसंहारी होता है।

जो हेतु सपक्ष तथा विपक्ष में नहीं रहता है केवल पक्ष में ही रहता है वही सव्यभिचार का दूसरा भेद असाधारण है। जैसे 'शब्दो नित्यः शब्दत्वात्' इस अनुमान में शब्द में नित्यत्व सिद्ध करने के लिए शब्दमात्र के असाधारण धर्म शब्दत्व के हेतुरूप में लिया गया है। अतएव यह असाधारण सव्यभिचार है। क्योंकि जबतक शब्द में नित्यत्व या अनित्यत्व का निश्चय नहीं हुआ है तब तक शब्द न सपक्ष हो सकता है न विपक्ष ही। और सपक्ष या विपक्ष रूप किसी दृष्टान्त के समक्ष नहीं होने पर उक्त स्थल में शब्दत्वरूप हेतु के साथ नित्यत्व का व्याप्तिनिश्चय ही नहीं होता है। किन्तु शब्द में शब्दत्वरूप असाधारण धर्म के ज्ञान से–'शब्दो नित्यो न वा' यह संशय होता है। अतएव यह हेतु सद्धेतु नहीं है, अपितु असाधारण नामक सव्यभिचार का दूसरा भेद है। इस मत में उपर्युक्त सूत्र में अनैकान्तिक शब्द का यही अर्थ ज्ञात होता है। किन्तु भाष्यकार इस तरह की व्याख्या नहीं करते हैं।

द्वितीय हेत्वाभास का नाम विरुद्ध है। गौतम इसका लक्षणसूत्र कहते हैं—'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः' १।२।६। किसी सिद्धान्त को मानकर उसके विरोधी पदार्थ को हेतुरूप में ग्रहण करने पर वह विरुद्ध नामक हेत्वाभास होता है। अभिप्राय यह है कि जो हेतु साध्यधर्म का अभावसाधक है अर्थात् उसके अभाव का साधक है वही विरुद्ध शब्द से कहा जाता है। जैसे वादी पहले—'शब्दो नित्यः' कहकर अर्थात् शब्द में नित्यत्व सिद्धान्त को मानकर पश्चात् भ्रम से या किसी अन्य कारण से—'उत्पत्तिमत्त्वात्' इस हेतुवाक्य को कहता है। यहाँ 'उत्पत्तिमत्त्व' हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है क्योंकि जिन पदार्थों में 'उत्पत्तिमत्त्व' धर्म है वे सभी अनित्य पदार्थ हैं। अतएव अनित्यत्व के साथ ही उत्पत्तिमत्त्व की व्याप्ति है। यह अनित्यत्व का ही साधक है और नित्यत्व का विरोधी है। यह 'उत्पत्तिमत्त्व' हेतु नित्यत्वरूप साध्य धर्म के अभाव का (अनित्यत्व का) साधक है अतएव नित्यत्व का साधक नहीं हो सकता है। इस स्थल में नित्यत्वविशिष्ट आत्मा आदि पदार्थों में अर्थात् सपक्ष में उत्पत्तिमत्त्व धर्म नहीं रहता है। हेतु में सपक्षसत्त्वरूप हेतु का रूप नहीं घटता है। अतएव यह विरुद्ध हेत्वाभास होता है। तार्किकरक्षाकार वरदराज कहते हैं—'विरुद्धः स्यात् वर्तमानो हेतुः पक्षविपक्षयोः'। अर्थात् केवल पक्ष तथा विपक्ष में वर्तमान हेतु विरुद्ध होता है। इस मत में हेतु में सपक्षसत्त्व नहीं है अतएव विरुद्ध नामक हेत्वाभास होता है।

'प्रकरणसम' हेत्वाभास का तीसरा भेद है। गौतम इसका लक्षण सूत्र कहते हैं—'यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः' १।२।७

जिससे प्रकरण के विषय में चिन्ता होती है अर्थात् किसी पक्ष का निर्णय नहीं होकर संशय के विषय रूप पक्ष और प्रतिपक्ष के विषय में जिज्ञासा होती है, वह निर्णय के लिए कहा गया अर्थात् हेतु रूप में कथित होने से 'प्रकरणसम' नामक हेत्वाभास होता है। इस प्रकरण शब्द का अर्थ है वादी और प्रतिवादी के पक्ष तथा प्रतिपक्ष रूप दो धर्म। इन धर्मों के विषय में मध्यस्थ की जिज्ञासा ही 'प्रकरणचिन्ता' है।

जैसे वादी नैयायिक कहता है—'शब्दोऽनित्यः नित्यधर्मानुपलब्धेः' शब्द अनित्य है क्योंकि इसमें नित्य धर्म की उपलब्धि नहीं होती है। अर्थात् नित्य पदार्थ के किसी धर्म की उपलब्धि नहीं होती है। पश्चात् प्रतिवादी मीमांसक कहता है—'शब्दो नित्यः अनित्यधर्मानुपलब्धेः' शब्द नित्य है, इसमें अनित्य पदार्थ के किसी धर्म की उपलब्धि नहीं होती है। यहाँ शब्द में अनित्यत्व तथा नित्यत्व पक्ष तथा प्रतिपक्षरूप दो प्रकरण हैं। किन्तु वादी या प्रतिवादी इस स्थल में किसी के हेतु में दोष नहीं दिखाता है अतएव मध्यस्थ उन दोनों हेतुओं में बलाबल का निश्चय नहीं कर पाता है और वे दोनों ही हेतु तुल्यबल होते हैं। अनिश्चित बलाबलत्व ही यहाँ दो हेतुओं में तुल्यबलत्व है। इस स्थल में किसी हेतु से किसी पक्ष का अनुमितिरूप निर्णय नहीं होने से मध्यस्थ को शब्द में नित्यत्व और अनित्यत्व के संशय की निवृत्ति नहीं होती है। बाद में इस विषय में जिज्ञासा होती है। उपर्युक्त वे दोनों हेतु ही इस जिज्ञासा के प्रयोजक हैं अतएव वे दोनों ही हेतु प्रकरणसम नामक हेत्वाभास हैं। यही 'प्रकरणसम' आज कल 'सत्प्रतिपक्ष' शब्द से प्रसिद्ध है। दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि व्याख्या करते हैं—'सन् प्रतिपक्षो विरोधि परामर्शो यस्य स तथा'। जयन्तभट्ट के मत में उक्त दोनों हेतु 'विरुद्धाव्यभिचारी' नाम से कहे जाते हैं[१]।

---

१ जयन्त भट्ट के मत में इन प्रकरणसम हेतुओं के प्रयोग में मध्यस्थ को इन दो प्रकरणों के विषय में मानस संशय रूप चिन्ता होती है। बाद में रत्न-कोषकार पूर्वाचार्य आचार्य इस स्थल में संशयात्मक अनुमिति ही मानते हैं। (प्रथम संस्करण में जयन्तभट्ट के मतानुसार व्याख्या लिखी गई है। किन्तु भाष्यकार महर्षिकार से इसमें भेद दिखाने के लिए सूत्रोक्त—'प्रकरणचिन्ता' पद की व्याख्या करते हैं कि प्रकरण के विषय में जिज्ञासा। उदयनाचार्य आदि नैयायिकगण भी समर्थन करते हैं कि सत्प्रतिपक्षात्मक दो हेतुओं के प्रयोग में बाद में साध्य धर्म और उस के अभाव के विषय में मध्यस्थगण को संशय नहीं होता है। किन्तु किसी पक्ष के निर्णय नहीं होने पर इस विषय में जिज्ञासा नहीं होती है। इस विषय में बहुत सूक्ष्म विचार किए गये हैं और मतभेद भी है—

'साध्यसम' हेत्वाभास का चौथा प्रकार है। गौतम इसका लक्षण कहते हैं—'साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः' १।२।८। साध्यता के कारण जो पदार्थ साध्यधर्म का सदृश रहता है वह 'साध्यसम' नामक हेत्वाभास है। अभिप्राय यह है कि सिद्ध पदार्थ ही अनुमान का हेतु हो सकता है। किन्तु वादी और प्रतिवादी के साध्य धर्म जैसे अनुमान से पहले असिद्ध होने के कारण साध्य होता है उसी तरह से उसके हेतु पदार्थ भी पहले असिद्ध होने के कारण साध्य के समान होता है। इस पदार्थ में पक्षसत्त्वरूप हेतु का लक्षण नहीं रहता है इसी से वह प्रकृत हेतु नहीं होकर हेत्वाभास होता है। पक्षसत्त्वरूप हेतुलक्षण के अभाव में 'साध्यसम' नामक हेत्वाभास होता है। यही साध्यसम बाद में 'असिद्ध' शब्द से प्रसिद्ध हुआ है। विभिन्न ग्रन्थों में इसकी विभिन्न व्याख्याएँ तथा अनेक प्रकार के वर्णन मिलते हैं। भाष्यकार वात्स्यायन ने—'द्रव्यं छाया गतिमत्त्वात्' इस अनुमानमें 'गतिमत्त्व' हेतु को साध्यसम के उदाहरण रूप में कहा है क्योंकि छाया में गतिक्रिया है अर्थात् मनुष्य की तरह छाया भी चलती है—इसे प्रतिवादी (नैयायिक) नहीं मानता है। नैयायिक के मत में मनुष्यों के द्वारा किया गया आलोक का अभाव ही 'छाया' है। वह कोई विलक्षण पदार्थ नहीं है। उसमें गतिक्रिया नहीं रहती है। किन्तु कितने स्थानों में उसका भ्रम होता है। इसी से प्रतिवादी के मत में छाया में गतिमत्त्व हेतु के असिद्ध होने से वह हेतु प्रकृत हेतु नहीं होकर 'साध्यसम' हेत्वाभास होता है।

न्यायवार्तिककार उद्योतकर इस साध्यसम या असिद्ध के तीन भेद मानते हैं—स्वरूपासिद्ध, आश्रयासिद्ध और अन्यथासिद्ध। उपर्युक्त उदाहरण ही तीनों भेदों के होते हैं। जैसे छाया में गतिक्रिया स्वरूपतः असिद्ध है अतएव वह 'स्वरूपासिद्ध' का उदाहरण हुआ। वादी मीमांसक यदि कहे कि छाया जो एक स्थान में दृश्य होती है वही अन्यत्र भी दीखती है—यह स्थानान्तरण उस पदार्थ की गतिक्रिया के बिना सम्भव नहीं है—इस तरह से व्याख्या करने पर वही हेतु आश्रयासिद्ध हुआ क्योंकि छाया में जबतक द्रव्यत्व सिद्ध नहीं हुआ है तबतक अन्यद्रव्य की तरह स्थानान्तर में दर्शनरूप हेतु भी सिद्ध नहीं है। अतएव छाया में द्रव्यत्व के सिद्ध नहीं होने से उसी को आश्रय कर के कहा गया स्थानान्तर में दर्शनरूप हेतु 'आश्रयासिद्ध' हुआ। किन्तु आलोक विशेष के अभाव को छाया मानने पर भी स्थानान्तर में उसका दर्शन हो सकता है क्योंकि प्रतिवादी के मत में अभाव पदार्थ का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। किन्तु

इन सभी विषयों की व्याख्या तथा आलोचना के लिए न्यायदर्शन (द्वि. सं.) प्रथमखण्ड के ३५०-५२ पृष्ठों को देखिए।

अन्य दार्शनिकों के मत में छाया यदि द्रव्य पदार्थ नहीं है तो भी स्थानान्तर में उसका दर्शन हो सकता है। अतएव यह हेतु 'अन्यथासिद्ध' हुआ।

महर्षि गौतम ने भी यद्यपि असिद्ध शब्द का प्रयोग नहीं किया है किन्तु सूत्र के 'साध्याविशिष्ट' शब्द से सूचित किया है कि जो हेतु केवल प्रतिवादी के मत में असिद्ध है वह भी साध्यसम है। वैशेषिक दर्शन के प्राचीन आचार्य प्रशस्तदेव भी इस असिद्ध को 'अन्यतरासिद्ध' नाम से और जो हेतु वादी और प्रतिवादी दोनों के मत में असिद्ध रहता है उसको 'उभयासिद्ध' नाम से कहते हैं। जैसे— 'शब्दोऽनित्य, चाक्षुषत्वात्' इस प्रयोग में चाक्षुषत्व हेतु 'उभयासिद्ध' है क्योंकि वादी और प्रतिवादी दोनों के मत में शब्द में चाक्षुषत्व असिद्ध है। इस तरह से जो हेतु अनुमान के धर्मी (पक्ष) के एक अंश में असिद्ध रहता है उसे 'एकदेशासिद्ध' अथवा 'भागासिद्ध' कहते हैं। जो हेतु अनुमान के धर्मी (पक्ष) में है या नहीं इसका सन्देह है उसे सन्दिग्धासिद्ध कहते हैं। किसी विशिष्ट हेतु के विशेषण या विशेष्य के असिद्ध होने से क्रमशः विशेषणासिद्ध और विशेष्यासिद्ध हेत्वाभास होता है। इन सभी असिद्धों का अन्तर्भाव स्वरूपासिद्ध में होता है।

तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय हेतु की असिद्धि को (१) आश्रया सिद्धि, (२) स्वरूपासिद्धि और (३) व्याप्यत्वासिद्धि—इन तीन प्रकारों को कहते हैं। हेतु की व्यर्थ विशेषणवत्ता व्याप्यत्वासिद्धि है। किन्तु रघुनाथ शिरोमणि इसको हेतु के दोषरूप में नहीं मानते। इनके मत में साध्य धर्म या हेतु के विशेषण के असिद्ध होने से उस स्थल में व्याप्तिनिश्चय नहीं होने से हेतु का दोष व्याप्यत्वासिद्धि होता है। 'तर्कभाषा' में केशव मिश्र कहते हैं कि व्याप्यत्वासिद्धि दो प्रकार के होते हैं (१) हेतु में व्याप्तिनिश्चय अभाव में और (२) उपाधि से युक्त हेतु के रहने पर। तर्कसंग्रह में अन्न भट्ट भी उपाधिविशिष्ट हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं।

किसी नैयायिक के मत में सिद्ध साधन और अप्रयोजक ये दो अधिक हेत्वाभास माने गए हैं। भासर्वज्ञ 'न्यायसार' में 'अनध्यवसित' नामक छठा हेत्वाभास भी मानते हैं। किन्तु आचार्य उदयन न्यायकुसुमाञ्जलि (३।७) में कहते हैं कि हेत्वाभास के पाँच प्रकारों से भिन्न और किसी हेत्वाभास को गौतम का सम्मत नहीं कहा जा सकता। अन्यथा उनके हेत्वाभास के विभाजक सूत्र की व्यर्थता हो जाएगी। उस हेत्वाभास के विभाग सूत्र से ज्ञात होता है कि सभी हेत्वाभासों का इन पाँच प्रकारों में ही अन्तर्भाव होता है। इसी से उदयनाचार्य साध्यसम या असिद्ध की व्याख्या में कहते हैं—असिद्धि के कारण जो हेत्वाभास

होता है उसी का नाम असिद्ध है। सिद्धि के अभाव को असिद्ध कहते हैं। साध्यधर्म के साथ व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता का निश्चय अर्थात् अनुमिति का चरम कारण लिङ्ग परामर्श सिद्धि पद का अर्थ है। इस असिद्धि के तीन प्रकार हैं (१) अन्यथासिद्धि (२) आश्रयासिद्धि (३) और स्वरूपासिद्धि। पुन. आश्रयासिद्धि के दो प्रकार है—अनुमान का आश्रय अर्थात् पक्ष की स्वरूपत. असिद्धि। जैसे—'*आकाशकुसुम गन्धवत् पुष्पत्वात्*' इस प्रयोग म पक्ष=आकाश कुसुम असिद्ध है या अलीक है। अतएव यह हेतु आश्रयासिद्धि के प्रथम प्रकार का उदाहरण होता है। इसका दूसरा प्रकार यह है—कोई यदि किसी पदार्थ में सर्वसम्मत सिद्ध पदार्थ के अनुमान के लिए किसी हेतु का प्रयोग करता है तो वह हेतु आश्रयासिद्धि का दूसरा प्रकार अथात् हेत्वाभास होता है। इस स्थल म धर्मिरूप पक्ष मे पक्षता (विशेषण) के नहीं रहने से वह पक्ष ही नहीं हो सकता है। प्राचीनों के मत म साध्यधर्म की सशय-योग्यता ही 'पक्षता' पदार्थ है। किन्तु सिद्ध या निश्चित पदार्थ में सशय नहीं होता है। स्वार्थानुमान के स्थल में स्वेच्छा से सशय (आहार्य सशय) हो भी सकता है किन्तु परार्थानुमान मे सशय का होना सभव नहीं है। अतएव 'सिद्धसाधन' स्थल मे आश्रयासिद्ध *हेत्वाभास ही होता है। सिद्धसाधन को पृथक् हेत्वाभास नहीं माना गया है।*

इस मत म साध्यधर्म की व्याप्ति से युक्त पक्षधर्म रूप जो हेतु वह साध्य धर्म के सदृश है अर्थात् असिद्ध है अतएव वह भी साध्यसम नामक हेत्वाभास है यह गौतम का तात्पर्य है। हेतु पदार्थ में साध्य धर्म की व्याप्ति के असिद्ध होने से *अथवा अनुमान के आश्रय पक्ष के असिद्ध होने से अथवा* उस पक्ष म उस हेतु के स्वरूपत असिद्ध होने से 'व्याप्तिविशिष्ट पक्ष धर्म' असिद्ध हो जाता है अतएव इन सभी स्थलों में साध्यसम नामक हेत्वाभास होता है। इनमे जहाँ हेतु *पदार्थ में साध्यधर्म की व्याप्ति असिद्ध है* उस स्थल का हेतु *उदयनाचार्य* के मत में अन्यथा सिद्ध होता है। प्रकाश टीकाकार वर्द्धमान उपाध्याय उदयन की अन्यथासिद्धि की व्याख्या करते हैं—'अन्यथासिद्धि सोपाधित्वम्'। *जिस हेतु में उपाधि रहती है वह अन्यथासिद्ध हेत्वाभास होता है।*

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि उपाधि किसे कहते हैं? अनुमान के स्थल में जो पदार्थ साध्यधर्म का व्यापक है तथा व्याप्य है और हेतु का अव्यापक है वह उदयन के मत में मुख्य उपाधि है। जो पदार्थ साध्यधर्म का व्याप्य नहीं होकर केवल व्यापक है और हेतु का अव्यापक है वह भी उपाधि होता है। जैसे पर्वत में धूम का अनुमान करते हुए वह्नि को हेतुरूप में लेने पर ('पर्वतो धूमवान् वह्नेः') आर्द्र इन्धन (गीला जलावन) उपाधि होता है क्योंकि

आर्द्र इन्धन (गीला जलावन) के साथ वह्नि के संयोग के बिना धूम नहीं होता है। जिस जिस स्थान में धूम रहता है उस उस स्थान में आर्द्र इन्धन रहता है अतएव इस स्थल में आर्द्र इन्धन साध्य धर्म धूम का व्यापक होता है और अयोगोलक (तपाया गया लोहा) में आग के रहने पर भी वहाँ आर्द्र इन्धन नहीं रहता है अतएव वह हेतु का अव्यापक भी होता है। उक्त लक्षण के अनुसार इस स्थल में आर्द्र इन्धन के उपाधि होने से वह्नि हेतु सोपाधिक होता है। यह उपाधि दो प्रकार की होती है—सन्दिग्ध उपाधि और निश्चित उपाधि। जिस पदार्थ के साध्य धर्म की व्यापकता में अथवा हेतु की अव्यापकता में अथवा इन दोनों में ही सन्देह है वह सन्दिग्ध उपाधि है। सन्दिग्ध उपाधि के स्थल में हेतु में साध्यधर्म के व्यभिचार का सन्देह होने से उस हेतु से अनुमिति नहीं होती है। निश्चित उपाधि के स्थल में उस उपाधि पदार्थ के व्यभिचारित्व हेतु से हेतु पदार्थ में उस साध्यधर्म के व्यभिचार की अनुमिति होती है जिससे व्यभिचार निश्चयरूप प्रतिबन्धक के विद्यमान रहने से व्याप्ति निश्चय सम्भव नहीं है अतएव अनुमिति नहीं होती है।

जैसे उक्त स्थल में आर्द्र इन्धन से रहित तपाये हुये लौहपिण्ड में वह्नि रहता है, वह्नि आर्द्र इन्धन का व्यभिचारी है अतएव धूम का भी व्यभिचारी है। क्योंकि जो व्यापक पदार्थ का व्यभिचारी होता है वह उसके व्याप्य पदार्थ का भी व्यभिचारी होता है। उपर्युक्त स्थल में 'वह्निर्धूम व्यभिचारी आर्द्रेन्धन व्यभिचारित्वात्' इस अनुमान से वह्नि के साथ धूम का व्यभिचार निश्चय उत्पन्न होता है। इस तरह से कितने स्थलों में उपाधि पदार्थ के अभाव रूप हेतु से अनुमान के आश्रय (पक्ष) में साध्य धर्म के अभाव का निश्चय होता है जो उस अनुमिति का प्रतिबन्धक होता है। अनुमानस्थल में यह उपाधि अनेक प्रकारों से हेतु का दूषक होती है। किन्तु यह उपाधि हेत्वाभास नहीं है क्योंकि यह हेतुरूप में नहीं प्रयुक्त होती है। इसमें हेत्वाभास का लक्षण ही नहीं घटता है। न्यायशास्त्र के अनुमानकाण्ड में इस उपाधि के लक्षण एवं प्रकारभेद आदि को लेकर बहुत विचार किये गये हैं जो दुर्बोध हैं[1]। संक्षेप में उन विचारों को कहना असम्भव है।

मूल बात यह है कि उदयनाचार्य के मत में सोपाधिक=उपाधि से युक्त हेतु का अन्यथासिद्ध तथा अप्रयोजक कहते हैं। यह गौतम के 'साध्यसम' हेत्वाभास का प्रकार विशेष है। उदयनाचार्य कहते हैं कि जिस स्थल में हेतु पदार्थ में

---

१. उपाधि के लक्षण एवं उदाहरण आदि विचार के लिए बँगला न्यायदर्शन का द्वितीय खण्ड देखिए।

साध्यधर्म के व्यभिचार संशय के निवर्तक अनुकूल तर्क नहीं रहता है उस स्थल के हेतु को अप्रयोजक कहते हैं वह सन्दिग्ध उपाधि और निश्चित उपाधि से भेद से दो प्रकार का होता है। यह उपर्युक्त असिद्ध का ही प्रकार विशेष है अतएव उसीके अन्तर्गत है पृथक् हेत्वाभास नहीं जो हेतु अनुमान के आश्रय में स्वरूपतः असिद्ध रहता है वह 'स्वरूपासिद्ध' है। इसका उदाहरण तथा भेद आदि पहले ही कहा गया है।

हेत्वाभास का पाँचवाँ प्रकार 'कालातीत' है। महर्षि गौतम इसका लक्षण कहते हैं—'कालात्ययापदिष्टः कालातीत.' १।२।९। जो हेतु अनुमान का काल बीत जाने पर प्रयुक्त होता है वह 'कालातीत' हेत्वाभास है। तात्पर्य यह है कि जबतक अनुमान के धर्मी (पक्ष) मे साध्यधर्म के अभाव का निश्चय नहीं हुआ है तब तक उस धर्मी में उस साध्यधर्म की अनुमिति हो सकती है। किन्तु पहले किसी बलशाली प्रमाण से उस साध्यधर्म के अभाव का निश्चय होने पर उस धर्मी मे उस धर्म की अनुमिति का समय नहीं रहता है अतएव अनुमान का काल बीत जाने पर जो हेतु प्रयुक्त होता है उसीको 'कालातीत' नामक हेत्वाभास कहते हैं। सारांश यह है कि बलवान् प्रमाण से बाधित हेतु कालातीत होता है। यही पश्चात् 'बाधित' तथा 'बाधितसाध्यक' शब्द से कहा जाता आ रहा है। तार्किकरक्षा मे वरदराज भी कहते हैं—'कालातीतो बलवता प्रमाणेन प्रबाधितः'।

जैसे—'वह्निरनुष्णः' इस तरह से वह्नि में अनुष्णत्व के अनुमान के लिए जिस हेतु का प्रयोग किया जाएगा वही 'कालातीत' या 'बाधित' हेत्वाभास होता है। क्योंकि वह्नि में अनुष्णत्वरूप साध्यधर्म का अभाव (उष्णत्व) पहले से ही प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। इसी तरह याग स्वर्ग का साधन है—यह पहले से ही बलशाली प्रमाण वेद से सिद्ध है। अतएव 'यागो न स्वर्गसाधनम्' अर्थात् याग मे स्वर्गसाधनत्व के अभाव के अनुमान के लिए जिस हेतु का प्रयोग होगा वह 'कालातीत' हेत्वाभास होगा। उपर्युक्त स्थल मे हेतु में व्यभिचार आदि दोष रहने पर भी 'बाध' दोष होता है। केवल बाध से युक्त बाधित हेत्वाभास का भी उदाहरण है। अतएव पाँचवाँ हेत्वाभास मानना आवश्यक है। वैशेषिक सम्प्रदाय इसे नहीं मानता है और ऐसी स्थिति में 'प्रतिज्ञाभास' कहता है। इस संप्रदाय के मत मे 'वह्निरनुष्णः' यह प्रयोग प्रत्यक्ष विरुद्ध प्रतिज्ञाभास है। बौद्धाचार्य दिङ्नाग प्रतिज्ञाभास के बहुत प्रकारों को कहे हैं। किन्तु महर्षि गौतम के मत में इस स्थिति में हेत्वाभास ही माना गया है। इसी से वे प्रतिज्ञाभास आदि को नहीं कहते हैं। जयन्त भट्ट भी विचार करके इसी मत का (गौतम मत का) समर्थन करते हैं।

हेत्वाभास के प्रकार भेद के विषय में मतभेद

वैशेषिक सम्प्रदाय के प्रसिद्ध मत में हेत्वाभास के तीन प्रकार हैं। क्योंकि अनुमान के हेतु का लक्षण उपर्युक्त पाँच नहीं हैं अपितु तीन ही हैं—पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व। इन लक्षणों में से किसी एक या दो धर्म के अभाव में वह हेतु प्रकृत हेतु (सद्धेतु) नहीं होकर अलिङ्ग अर्थात् हेत्वाभास होता है। इसी से कहा गया है—'विपरीत मतो यस्यादेकेन द्वितीयेन वा। विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्'[1]। कश्यप मुनि के पुत्र कणाद मुनि का नाम 'काश्यप' है। इनका अभिप्राय यह है कि 'सत्प्रतिपक्ष'—तुल्यबल विरोधी दो हेतुओं के प्रयोगस्थल में मध्यस्थ किसी पक्ष का निर्णयरूप अनुमिति नहीं होने से उन दोनों हेतुओं को अहेतु नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि मध्यस्थ उक्त हेतुओं के दोष को नहीं जानता रहता है। इस तरह से जितने स्थलों में बलवान् प्रमाण से साध्यधर्म के अभाव निश्चय रूप प्रतिबन्धक के कारण अनुमिति नहीं होने से उन स्थलों के हेतु में बाध नामक दोष नहीं लगता है न उसे मानना आवश्यक है। अतएव असत्प्रतिपक्षित्व और अबाधितत्व हेतु के लक्षण नहीं हैं किन्तु पक्षसत्त्व आदि तीन धर्म ही उसके लक्षण हैं।

बौद्ध नैयायिक दिग्नाग भी कहते हैं—'त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्'। न्यायबिन्दु में बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति स्पष्ट कहते हैं —'असिद्ध विरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः'। प्राचीन आलङ्कारिक भामह भी 'काव्यालङ्कार' में कहते हैं—'हेतुस्त्रिलक्षणो ज्ञेयो हेत्वाभासो विपर्ययात्'। इस आलङ्का

---

१. महर्षि कणाद वैशेषिकदर्शन में अनुमान के हेतु को अपदेश कहते हैं और पश्चात् सूत्र कहते हैं—अप्रसिद्धोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः' ३।१।१५। अनपदेश (अहेतु या हेत्वाभास) तीन प्रकार के होते हैं—अप्रसिद्ध (विरुद्ध) असन् (असिद्ध), और सन्दिग्ध (सव्यभिचार)। किन्तु व्योमशिवाचार्य कणाद के उक्त सूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द से कणाद के अनुक्त प्रकरण सम और कालातीत इन दो हेत्वाभासों को भी स्वसम्मत कहते हैं। 'उपस्कार' में शङ्कर मिश्र वृत्तिकार के मत के रूप में व्योमशिवाचार्य के मत का ही उल्लेख करते हैं। किन्तु शङ्कर मिश्र इस मत को नहीं मानते हैं। यथार्थ में प्रशस्तपाद के द्वितीय श्लोक का परार्द्ध अंश स्पष्ट प्रतिपादित करता है कि तीन प्रकार के ही हेत्वाभास होते हैं—'विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गम् काश्यपोऽब्रवीत्'। व्योमशिवाचार्य अपने मत की रक्षा के लिए अध्याहार तथा कष्ट कल्पना कर के इस कारिका आदि की जो व्याख्या करते हैं उसके लिए देखिए 'व्योमवती वृत्ति' चौखम्बा संस्कृत सीरीज ५६५-६७ पृ०।

रिक के मत में भी पक्षसत्त्व आदि तीन धर्म ही हेतु के लक्षण हैं। और प्रत्येक धर्म के अभाव में हेत्वाभास होता है। श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय—'असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक— इन तीन हेत्वाभासों को कहते हैं'[१]। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय हेत्वाभास का और एक प्रकार—'अकिञ्चित्कर' मानता है। इस मत में हेत्वाभास के चार प्रकार होते हैं।

मीमांसाचार्य गुरु प्रभाकर भी गौतम के प्रकरणसम और कालातीत को नहीं मानते हैं। इस मत में दो तुल्यबल विरोधी हेतु सम्भव ही नहीं हैं। क्योंकि ऐसी स्थिति में साध्यधर्म के विषय में कदापि संशय की निवृत्ति नहीं हो सकती है। अतएव सत्प्रतिपक्ष नामक किसी हेत्वाभास का उदाहरण भी सम्भव नहीं है, वह नहीं मानना चाहिए।

भट्ट कुमारिल के सिद्धान्त प्रतिपादक पार्थसारथि मिश्र 'शास्त्रदीपिका' के तर्क पाद में प्रभाकर की युक्तियों का खण्डन करके 'सत्प्रतिपक्ष' हेत्वाभास का समर्थन करते हैं। किन्तु इस मत में वह अनैकान्तिक का ही प्रकार विशेष है। ये कहते हैं कि किसी स्थल में सत्प्रतिपक्ष दो हेतु असम्भव नहीं हैं। क्योंकि दो हेतुओं में किसी एक हेतु का दुर्बलत्व निश्चय नहीं होने से उन दोनों हेतुओं को तुल्यबल कहा जाता है। अनिश्चित बलाबलत्व ही दोनों हेतुओं का तुल्यबलत्व होता है। किसी हेतु के दुर्बलत्व का निश्चय होने पर उन दो हेतुओं में सत्प्रतिपक्षत्वदोष नहीं होता है। इस स्थिति में दोष से रहित प्रबल हेतु से ही अनुमिति होती है। प्राचीन नैयायिक भी उक्त रूप दो हेतुओं के सत्प्रतिपक्षत्व दोष को अनित्य दोष अर्थात् सामयिक दोष कहते हैं।

गौतम के मत में 'प्रकरणसम' या 'सत्प्रतिपक्ष' हेत्वाभास अनैकान्तिक से भिन्न है। क्योंकि सत्प्रतिपक्ष से युक्त दो हेतुओं के प्रयोग में वादी और प्रतिवादी के साध्यधर्म के विषय में मध्यस्थ को पश्चात् संशय नहीं होता है। किन्तु सन्देह का निरास नहीं होने से उस विषय का जिज्ञासा होती है। भाष्यकार यही कह कर सव्यभिचार से प्रकरण सम में भेद दिखाते हैं। अन्य मत में सत्प्रतिपक्ष स्थल में मध्यस्थ गण के संशय होने पर भी सव्यभिचार से उसका भिन्नता है। क्योंकि सव्यभिचार स्थल में एक ही हेतु का प्रयोग होता है जो दुष्ट रहता है किन्तु तुल्यबलविरोधी अन्य हेतु का प्रयोग नहीं होने से सत्प्रतिपक्ष नहीं होता है। किन्तु सत्प्रतिपक्ष में दोनों हेतु दुष्ट होते हैं। अतएव वह सव्यभिचार से भिन्न है।

---

१. 'असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासः' जैनवादि देवसूरी के 'प्रमाणनय तत्त्वालोकालङ्कार' में छठा परिच्छेद पृ० ३७ को देखिए। 'हेत्वाभासा असिद्ध विरुद्धानैकान्तिका किञ्चित्कराः' परीक्षा मुखसूत्र।

प्रकरणसम और कालातीत के पृथक् हेत्वाभास मानने में गौतम की युक्ति यह है कि अन्य प्रतिबन्धक के अभाव में यथार्थ अनुमिति का प्रयोजक हेतु ही प्रकृत हेतु होता है। हेत्वाभास के अन्तर्गत प्रयुक्त हेतु शब्द का भी यही अर्थ है। किन्तु पूर्वोक्त लक्षण से युक्त प्रकरणसम हेतुओं के और कालातीत हेतुओं के प्रयोग में मध्यस्थ गण को उस हेतु से उस साध्यधर्म की अनुमिति नहीं होती है। अर्थात् सत्प्रतिपक्ष और बाधित हेतु अनुमिति के उत्पादन योग्य नहीं रहता है। अतएव उस तरह के हेतु को हेतु नहीं कहा जा सकता है। किन्तु हेतु के सभी लक्षणों से युक्त रहने पर उसे 'अहेतु' कहना भी कठिन है। अतएव असत्प्रतिपक्षत्व तथा अबाधितत्व को भी हेतु के लक्षण रूप में मानना होगा। सत्प्रतिपक्ष हेतु में असत्प्रतिपक्षत्वरूप हेतु का लक्षण नहीं घटता है और बाधित हेतु में अबाधितत्वरूप हेतु का लक्षण नहीं घटता है अतएव इन दोनों को अहेतु कहना सगत हुआ। इसी से यह भी सिद्ध हुआ कि प्रकरणसम और कालातीत हेत्वाभास को मानना आवश्यक है। इसलिए गौतम के द्वारा कहे गये हेतु के पाँच लक्षण तथा हेत्वाभास के पाँच प्रकार सिद्ध होते हैं। बहुत ग्रन्थों में अनेक मतों में हेत्वाभास के बहुत प्रकार वर्णित हैं तथा विभिन्न व्याख्याएँ इसकी मिलती है। किन्तु हेत्वाभास के सभी प्रकारों का अन्तर्भाव इन पाँच प्रकारों में होता है। महर्षि गौतम इसी को स्पष्ट करने के लिए हेत्वाभास के विभाग सूत्र को कहते हैं—'सव्यभिचार विरुद्ध प्रकरणसम साध्यसम कालातीता हेत्वाभासा'।

'छल और जाति'

जल्प और वितण्डा कथाओं में प्रतिवादी किसी समय में सदुत्तर को नहीं कह पाता है। और पराजय के भय से चुप न रहकर कितने असदुत्तरों को भी कहता है। चिरकाल से ही ऐसा होता आया है। इसी असदुत्तर विशेष का नाम है—'छल'। महर्षि गौतम इसका लक्षण और विभाग करते हैं—'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याच्छलम्'। 'तत् त्रिविध वाक्छल सामान्यच्छलमुपचारच्छलञ्च'। १।२।१०-११। वादी के अभिमत शब्दार्थ या वाक्यार्थ से भिन्न अर्थ की कल्पना के द्वारा वादी के वचन विघातक असत् उत्तर का नाम है 'छल'। इसके तीन प्रकार हैं। गौतम ने प्रत्येक छल का लक्षण किया है। जैसे—'अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्' १।२।१२। 'सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम्' ।१।२।१३। 'धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्' १।२।१४।

नाना अर्थों में बोधक किसी शब्द का प्रयोग करने पर वक्ता ने जिस अभिप्राय से उस शब्द का प्रयोग किया है उससे उससे भिन्न अर्थ को लेकर जो निषेध

किया जाता है वह वाक्छल है। जैसे नवीन कम्बल वाले व्यक्ति को देखकर किसी ने कहा—'नेपालादागतोऽय नवकम्बलवत्वात्' यह नेपाल से आया है क्योंकि यह नवीन कम्बल रखता है। किन्तु प्रतिवादी कहता है—'एकोऽस्य कम्बलः कुतो नवकम्बला.' इसे तो एक ही कम्बल है नौ कम्बल कहाँ हैं इसे ? यथार्थ में यहाँ वादी नवीन अर्थ मे 'नव' शब्द का प्रयोग किया था किन्तु प्रतिवादी इसे समझा या नहीं—यह तो दूर रहा किन्तु वह उक्त वाक्य के 'नव' शब्द मे नौ सख्या को लेकर अर्थान्तर की कल्पना करके अर्थात् वक्ता के अनभिप्रेत अर्थ को लेकर हेतु मे असिद्ध दोष दिखाता है—जो वाक्छल है। किन्तु वादी का 'नूतन कम्बलवत्व' हेतु असिद्ध नहीं है अतएव यह छल असत् उत्तर होता है। वाक्छल के और भी बहुत उदाहरण हैं जो सक्षेप में नहीं कहे जा सकते हैं।

सभाव्यमान पदार्थ के सबन्ध में अतिसामान्य योग से अर्थात् अतिव्यापक किसी सामान्य धर्म की सत्ता से वक्ता के अनभिप्रेत किसी असभव अर्थ की कल्पना से जो प्रतिषेध किया जाता है उसी का नाम सामान्यच्छल है। जैसे ब्राह्मणत्व जाति की प्रशसा के लिए किसी ने कहा—'सभवति ब्राह्मणे विद्याचरण सपत्' = ब्राह्मण के सन्तान में ही विद्या का अभ्यासरूप सपदा रहती है। प्रतिवादी तुरन्त कहता है कि ब्राह्मणत्व जाति रहने से यदि विद्याचरणरूप सपदा रहती है अर्थात् ब्राह्मण के सन्तान होने के नाते यदि विद्या-चरणरूप सपदा रहने लगती है तो शिशु और व्रात्य ब्राह्मण भी विद्याचरणरूप सपदा से युक्त होने लगेगा। यहाँ ब्राह्मणत्व धर्म विद्याचरण के पक्ष म अतिव्यापक सामान्य धर्म है। क्योंकि मूर्ख ब्राह्मण में भी ब्राह्मणत्व जाति रहती है किन्तु केवल ब्राह्मणत्व जाति ही विद्या का हेतु नहीं है और वादी का विवक्षित भी यह नहीं है। यहाँ प्रतिवादी ब्राह्मणत्व में विद्या के साधक हेतुत्व रूप असभव अर्थ की कल्पना से व्यभिचार दोष दिखाता है। अतएव यह असत् उत्तर है जो ब्राह्मणत्वरूप सामान्य धर्म के कारण हुआ है। यही 'सामान्यच्छल' है।

वादी किसी प्रसिद्ध लाक्षणिक शब्द का प्रयोग करता है और प्रतिवादी उसके मुख्य अर्थ को लेकर निषेध करता है तो इसी असदुत्तर को 'उपचारच्छल' कहते हैं। जैसे वादी कहता है—'मञ्चा. क्रोशन्ति'। मञ्च शब्द का मुख्य अर्थ है उच्च आसन। जो मञ्च पर रहने वाले पुरुषों का आश्रय है। इसी से लक्षणा के द्वारा मञ्च पद का मञ्चस्थ पुरुष अर्थ होता है। यह स्थान निमित्तक उपचार शब्द से कहा जाता है। किन्तु प्रतिवादी को इसका ज्ञान हुआ या नहीं—इस की बात तो दूर रही पहले ही उक्त शब्द के मुख्य अर्थ को लेकर प्रतिवादी कहता है—मञ्च से क्रोशन = किसी को बुलाना सभव नहीं है। क्योंकि

झुलाना क्रिया है किसी मानव में पायी जाती है और मञ्च निर्जीव पदार्थ है उसमें इस क्रिया की स्थिति सर्वथा असम्भव है। मञ्च शब्द के उपचार निमित्तक अर्थ के प्रतिषेध को उपचारच्छल कहते हैं। प्राचीनों का भी यही मत है। क्योंकि वे कहते हैं कि जहाँ प्रसिद्ध लाक्षणिक शब्द का प्रयोग होता है उस स्थल में उसके मुख्य अर्थ की कल्पना से जो प्रतिषेध किया जाता है वह 'उपचारच्छल' है। किन्तु वादी के अभिप्रेत अर्थ का निषेध उसमें नहीं होता है अतएव वह असत् उत्तर है।

वाक्छल में उपचारच्छल में भेद नहीं है—इस पूर्वपक्ष के खण्डन में गौतम कहते हैं कि उपचार छल में कुछ विशेष है। और उस विशेष को यदि नहीं माना जाए तो वाक्छल और सामान्य छल में भी कुछ भेद नहीं रहेगा। और तब छल का प्रकार भेद ही असङ्गत हो जाएगा। अतएव मानना होगा कि विशेष को लेकर ही इसके तीन प्रकार होते हैं। चरकसंहिता के विमान स्थान में (आठवाँ अध्याय में) छल के दो ही प्रकार कहे गये हैं। किन्तु यह प्राचीनतम मत है। छल की तरह जाति पदार्थ भी असत् उत्तर विशेष ही है अतएव अब उसी का लक्षण कहा जाता है।

जाति शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। किन्तु गौतम का पन्द्रहवाँ पदार्थ 'जाति' असत् उत्तर रूप है। जल्प तथा वितण्डा कथा में जो उत्तर प्रतिवादी के अपने उत्तर की भी हानि कर सकता है अर्थात् जो उत्तर समानरूप से दोनों पक्षों की हानि करता है व्याघातक है वह जाति या जात्युत्तर है। जाति शब्द इसी अर्थ में पारिभाषिक है। महर्षि गौतम इसका सामान्य लक्षण कहते हैं—'साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः' १। ।१८।

व्याप्ति की अपेक्षा नहीं करके केवल किसी साधर्म्य से या वैधर्म्य से दोष दिखाया जाता है वही जाति है। गौतम पाँचवाँ अध्याय प्रथम आह्निक में इसके चौबीस प्रकारों को कहे हैं। प्रत्येक जाति का लक्षण तथा उसके असत् उत्तर होने में युक्ति का प्रदर्शन भी किया गया है। जाति के चौबीस प्रकार ये हैं—(१) *साधर्म्यसमा*। (२) *वैधर्म्यसमा*। (३) *उत्कर्षसमा*। (४) *अपकर्षसमा*। (५) *वर्ण्यसमा*। (६) *अवर्ण्यसमा*। (७) *विकल्पसमा*। (८) *साध्यसमा*। (९) *प्राप्तिसमा*। (१०) *अप्राप्तिसमा*। (११) *प्रसङ्गसमा*। (१२) *प्रतिदृष्टान्तसमा*। (१३) *अनुत्पत्तिसमा*। (१४) *संशयसमा*। (१५) *प्रकरणसमा*। (१६) *अहेतुसमा*। (१७) *अर्थापत्तिसमा*। (१८) *अविशेषसमा*। (१९) *उपपत्तिसमा*। (२०) *उपलब्धिसमा*। (२१) *अनुपलब्धिसमा*। (२२) *अनित्यसमा*। (२३) *नित्यसमा* और (२४) *कार्यसमा*।

वादी न्याय का प्रयोग करता है और प्रतिवादी यदि उसमे केवल साधर्म्य या वैधर्म्य को लेकर उससे वादी के पक्ष मे साध्य धर्म के अभाव की आपत्ति करता है तो प्रतिवादी का यही उत्तर क्रमश साधर्म्य समा और वैधर्म्यसमा जाति है। जैसे वादी —'शब्दोऽनित्य कार्यत्वात् घटवत्' इत्यादि न्याय का प्रयोग पहले करता है जिस मे जन्यत्व हेतु से शब्द में अनित्यत्व सिद्ध करना चाहता है किन्तु प्रतिवादी सदुत्तर से उसका खण्डन नहीं कर के यदि कहता है कि जैसे शब्द मे घट का साधर्म्य जन्यत्व है उसी तरह आकाश का साधर्म्य अमूर्तत्व भी है। क्योंकि शब्द भी आकाश की तरह अमूर्त पदार्थ है। नित्य आकाश के साधर्म्य अमूर्तत्व के रहने से शब्द नित्य ही क्यो नहीं होगा। घट के साधर्म्य जन्यत्व के रहने से शब्द अनित्य होगा और आकाश के साधर्म्य अमूर्तत्व के रहने से वह नित्य नहीं होगा इसमें कुछ विशेष हेतु नहीं मिलता है। यहाँ प्रतिवादी का यह उत्तर साधर्म्य समाजाति है।

इसी उदाहरण में यदि प्रतिवादी यह कहे कि शब्द में जैसे अनित्य घट का साधर्म्य जन्यत्व है उसी तरह घट का वैधर्म्य अमूर्तत्व भी है। अतएव शब्द में घट के वैधर्म्य अमूर्तत्व के रहने से वह नित्य ही क्यों नहीं होगा? प्रतिवादी का यही उत्तर वैधर्म्यसमा जाति है।

यहाँ इन दोनों उत्तरों को सदुत्तर नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि शब्द में आकाश का साधर्म्य और घट का वैधर्म्य अमूर्तत्व है किन्तु उसके साथ नित्यत्व धर्म की व्याप्ति नहीं है—अर्थात् अमूर्तपदार्थ नित्य ही होता है—यह कोई नियम नहीं है। क्योंकि रूप आदि कितने अनित्य पदार्थों में भी अमूर्तत्व धर्म रहता है। अतएव अमूर्तत्व धर्म नित्यत्व का व्यभिचारी सिद्ध हुआ। किन्तु प्रतिवादी व्याप्ति की बिना अपेक्षा किए ही केवल साधर्म्य और वैधर्म्यरूप अमूर्तत्व को लेकर उसी के आधार पर शब्द में नित्यत्वधर्म की आपत्ति करता है। अतः यह सदुत्तर नहीं है। प्रत्युत यह स्वमत का व्याघात भी करता है अतएव असदुत्तर है। क्योंकि प्रतिवादी व्याप्ति का बिना विचार किए ही केवल साधर्म्य या वैधर्म्य को लेकर आपत्ति करता है। वादी यदि उसी युक्ति को लेकर यहाँ यह कहे कि आपका यह उत्तर मेरे मत में दोष नहीं उपस्थित करता है। क्योंकि अदूषक वचन का साधर्म्य वचनत्व अथवा प्रमेयत्व प्रतिवादी के वचन में भी है। उसी से अन्य अदूषक वचनों की तरह प्रतिवादी का यह वचन भी अदूषक क्यों नहीं होगा। इसी से प्रतिवादी का यह उत्तर अपने मत का ही व्याघात (हानि) करता है। यह कदापि सदुत्तर नहीं हो सकता है। इसी तरह अन्य जात्युत्तर भी असत् उत्तर ही होता है। इसका कारण

स्वमत का व्याघातकत्व है। उदयनाचार्य इसका सामान्य लक्षण करते हैं—स्वव्याघातक उत्तरत्व जाति होती है। छल नामक उत्तर में इस तरह का स्वमत व्याघातकत्व नहीं रहता है।

गौतम के जातिपदार्थ का लक्षण अत्यन्त कठिन है। संक्षेप में उसे कहना सम्भव नहीं है। उदाहरण के बिना इसके स्वरूप की व्याख्या भी नहीं की जा सकती है। संक्षेप के कारण प्रस्तुत पुस्तक में इन जातियों के भिन्न भिन्न लक्षण आदि नहीं कहे जाते हैं। बङ्गलान्यायदर्शन के पञ्चमखण्ड में जाति के विषय में विस्तृत आलोचना की गई है।

निग्रहस्थान

'निग्रहस्थान' गौतम का सोलहवाँ पदार्थ है। वे कहते हैं—'विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्' १।२।६१। वृत्तिकार विश्वनाथ इसकी व्याख्या करते हैं—'निग्रहस्य स्वीकारस्य स्थानम्'। प्राचीन नैयायिक उद्योतकर ने भी इस स्वीकार शब्द का प्रयोग किया है। वाचस्पतिमिश्र इस स्वीकार शब्द की व्याख्या करते हैं—'विवक्षितार्थाप्रतिपादकत्वमेव हि स्वीकारः'। तात्पर्य यह है कि जल्प तथा वितण्डाकथा में वादी अथवा प्रतिवादी के पराजय होने पर भी वादकथा में किसी का पराजय नहीं होता है। किन्तु विजय की कामना से रहित गुरु शिष्य आदि के निर्धारित विषय का अप्रतिपादकत्व ही निग्रह है। अर्थात् वे लोग यदि स्वपक्ष का स्थापन नहीं कर सके तो यही उन लोगों का निग्रह हुआ इसी की प्राचीन संज्ञा स्वीकार है। स्वीकार किसी निग्रहस्थान विशेष का नाम नहीं है।

सारांश यह हुआ कि पराजयरूप निग्रह और वादकथा में स्वीकाररूप निग्रह के स्थान = कारण को 'निग्रहस्थान' कहते हैं। वादी या प्रतिवादी की 'विप्रतिपत्ति' अर्थात् किसी विषय में विपरीत ज्ञानरूप भ्रम और जिनके स्वरूपों में 'अप्रतिपत्ति' - अज्ञता उस के निग्रहस्थान होने में मूल है। इसी तात्पर्य से उक्त सूत्र में महर्षि गौतम कहते हैं—'विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्'। वृत्तिकार का मत है कि जिनसे वादी या प्रतिवादी की विप्रतिपत्ति या अप्रतिपत्ति अनुमित होती है वही निग्रहस्थान है। गौतम के उपर्युक्त सूत्र का यही अभिप्राय है। विप्रतिपत्तिमूलक निग्रह स्थान विप्रतिपत्ति शब्द से और अप्रतिपत्ति मूलक निग्रह स्थान अप्रतिपत्ति शब्द से लक्षित होते हैं। महर्षि गौतम न्यायदर्शन के पञ्चम अध्याय द्वितीय आह्निक में निग्रहस्थान के बाइस भेदों को कहते हैं। यथा—

(१) प्रतिज्ञाहानि (३) प्रतिज्ञा विरोध
(२) प्रतिज्ञान्तर (४) प्रतिज्ञा संन्यास

(५) हेत्वन्तर	(१४) अननुभाषण
(६) अर्थान्तर	(१५) अज्ञान
(७) निरर्थक	(१६) अप्रतिभा
(८) अविज्ञातार्थ	(१७) विक्षेप
(९) अपार्थक	(१८) मतानुज्ञा
(१०) अप्राप्तकाल	(१९) पर्यनुयोज्योपेक्षण
(११) न्यून	(२०) निरनुयोज्यानुयोग
(१२) अधिक	(२१) अपसिद्धान्त
(१३) पुनरुक्त	(२२) और हेत्वाभास

वादी य प्रतिवादी पहले पञ्चावयव वाक्य के प्रयोग से अपना मत स्थापित करता है। पश्चात् प्रतिवादी के द्वारा दोष दिखाने पर उसको हटाने से असमर्थ होकर यदि पूर्वोक्त 'पक्ष' (साध्यधर्मी) आदि को छोड़ देता है तो उसे 'प्रतिज्ञाहानि' नामक निग्रहस्थान होता है। जैसे वादी पहले—'शब्दोऽनित्यः' यह प्रतिज्ञा करके पश्चात् हेतु वाक्य से अनित्यत्व की स्थापना करने पर प्रतिवादी मीमांसक शब्द के नित्यत्वपक्ष में प्रमाण दिखाकर वादी के अनुमान में दोष दिखाता है। वादी उस दोष का निराकरण नहीं कर के यदि कहता है—'पर्वतोऽनित्यः' अर्थात् शब्द को छोड़कर पर्वत को 'पक्ष' बनाता है तो वादी को प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान होता है। इसी तरह से वादी यदि पूर्वोक्त हेतु दृष्टान्त साध्यधर्म आदि तथा इनके विशेषण को छोड़ता है तो उस स्थल में भी प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान होता है।

वादी यदि प्रतिवादी के द्वारा कहे गये दोषों को हटाने के लिए पूर्वोक्त हेतु से भिन्न किसी पदार्थ में विशेषण का प्रयोग करता है तो वहाँ प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रहस्थान होता है। जैसे वादी मीमांसक—'शब्दो नित्यः' इस प्रतिज्ञा वाक्य के प्रयोग से शब्द में नित्यत्व का स्थापन करता है। और प्रतिवादी नैयायिक कहता है कि यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि ध्वन्यात्मक शब्द अनित्य ही होता है। इसलिए शब्दमात्र में नित्यत्व का साधन नहीं हो सकता है। नैयायिक इस कथा को कहकर अनुमान में अंशतः बाध दोष का उद्भावन करता है। अब मीमांसक यदि कहे कि—'वर्णात्मकः शब्दः नित्यः' अर्थात् मैं केवल वर्णात्मक शब्द को पक्षरूप से लेकर उसी में नित्यत्व का साधन करता हूँ। यहाँ वादी मीमांसक अपने पूर्व स्वीकृत शब्दरूप पक्ष में वर्णात्मक रूप विशेषण को जोड़ता है जिससे प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रहस्थान होता है। इसी तरह से उदाहरण और उपनय वाक्य आदि में भी किसी विशेषण के जोड़ने पर 'प्रतिज्ञान्तर' निग्रहस्थान होता है

प्रतिज्ञाहानि में वादी अपने पूर्वोक्त किसी पदार्थ को छोड़ता है जिससे अपने स्वीकृत पक्ष की हानि होती है। प्रतिज्ञान्तर में वादी पूर्वोक्त किसी पदार्थ को छोड़ता नहीं है प्रत्युत हेतु से भिन्न पदार्थ में अतिरिक्त विशेषण का समावेश करता है। प्रतिज्ञाहानि और प्रतिज्ञान्तर में यही भेद होता है। अभी अन्य निग्रह स्थानों का विशेष विवरण नहीं दिया जाएगा केवल प्रत्येक के स्वरूप से परिचय कराया जाएगा।

वादी अथवा प्रतिवादी की प्रतिज्ञा और हेतु यदि परस्पर विरुद्ध रहता है तो प्रतिज्ञा-विरोध नामक निग्रहस्थान होता है।

प्रतिवादी वादी के मत का खण्डन करता है और वादी यदि पुन: उस खण्डन का विरोध नहीं करता है तथा अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ देता है अथवा अस्वीकार करता है तो प्रतिज्ञासन्यास (नि०) होता है।

प्रतिवादी वादी के द्वारा कहे गये हेतु में व्यभिचार दिखाता है उस दोष से बचने के लिए वादी यदि पश्चात् उस हेतु में कुछ विशेषण जोड़ता है तो वह हेत्वन्तर (नि) होता है। प्रतिज्ञान्तर में हेतु से भिन्न पदार्थ में विशेषण जोड़ा जाता है अतएव वह हेत्वन्तर से भिन्न है।

वादी या प्रतिवादी यदि अर्थ शून्य शब्द का अर्थात् जो शब्द किसी अर्थ का वाचक नहीं है—प्रयोग करता है तो वह निरर्थक (नि०) होता है।

वादी यदि ऐसा शब्द व्यवहृत करता है जिसका अर्थ तीन बार कहने पर भी प्रतिवादी, मध्यस्थ और सभासद की समझ में नहीं आता है, वादी का वह वाक्य अविज्ञातार्थ (नि०) है।

जिस पदसमूह अथवा वाक्यसमूह में प्रत्येक पद के अर्थ होने पर भी समूह का अर्थ नहीं होता है अर्थात् जो पदसमूह या वाक्यसमूह किसी निर्दिष्ट अर्थ का बोध नहीं कराता है इस तरह के वादी का प्रयोग अपार्थक (नि) है।

वादी या प्रतिवादी यदि पञ्चावयव अथवा अन्यान्य वक्तव्य का क्रम को छोड़कर कहता है अर्थात् यथाक्रम उचित रीति से नहीं कहता है तो अप्राप्तकाल (नि०) होता है।

वादी या प्रतिवादी अपने अपने मत का समर्थन करते हुए अपने सम्प्रदाय के द्वारा स्वीकृत अवयवों में यदि किसी अवयव का उपपादन छोड़ देता है तो न्यून (नि०) होता है।

वादी या प्रतिवादी यदि अपने मत का स्थापन करते हुए बिना प्रयोजन ही हेतुवाक्य या उदाहरणवाक्य को अधिक कह देता है अर्थात् जहाँ एकबार कहना चाहिए उस स्थल में दो बार कह देता है तो अधिक (नि०) होता है।

वादी या प्रतिवादी बिना प्रयोजन ही यदि किसी शब्द के अर्थ को दो बार कहता है तो पुनरुक्त (नि०) होता है।

कथा और विवादकथा में यह नियम है कि पहले वादी अपना वक्तव्य पूरा करता है पश्चात् प्रतिवादी मध्यस्थ को इसका ज्ञान करा देता है कि मैं वादी के वक्तव्य को अच्छी तरह समझकर खण्डन करता हूं। इसके लिए उसे वादी के वक्तव्य का अनुवाद करना होता है। किन्तु वादी तीन बार अपना अभिमत प्रकट करता है और मध्यस्थ ने इस विषय को जान लिया है। किन्तु प्रतिवादी उसका अनुवाद नहीं करता है तो वहाँ अननुभाषण (नि०) होता है।

वादी अपने वक्तव्य को तीन बार कहता है। मध्यस्थ ने उसे जान लिया है। किन्तु प्रतिवादी समझ नहीं रहा है तो इसे अज्ञान (नि०) होता है।

प्रतिवादी ने वादी के वाक्यार्थ को जानकर मध्यस्थ के समक्ष में उसका अनुवाद भी कर दिया है। किन्तु उत्तर के समय में उसे उत्तर की स्फूर्ति नहीं हो रही है तो इसे अप्रतिभा कहते हैं।

वादी ने अपना पक्ष स्थापित किया है। प्रतिवादी उसी समय में अपना कुछ कह कर भी पश्चात् पराजय के भय से किसी कार्य के व्यासङ्ग से उठ जाता है और कहता है कि पश्चात् मैं इसे कहूँगा जिससे कथा समाप्त हो जाती है उसीको नाम विक्षेप (नि०) है।

प्रतिवादी अपने पक्ष में वादी के द्वारा दिए गये दोषों को नहीं हटाता है अर्थात् उन दोषों को स्वीकार कर लेता है और वादी के पक्ष में भी उसी तरह का दोष दिखाता है तो वह 'मतानुज्ञा' (नि०) है।

वादी या प्रतिवादी को निग्रहस्थान प्राप्त है किन्तु प्रतिद्वन्द्वी उनका उद्भावन नहीं करता है किसी कारण से उसकी उपेक्षा करता है तो इस स्थल में प्रतिद्वन्द्वी के पक्ष में 'पर्यनुयोज्योपेक्षण (नि०) होता है। इस निग्रहस्थान का उद्भावन पश्चात् मध्यस्थ ही करता है।

जहाँ जो यथार्थ में निग्रहस्थान नहीं है उस स्थल में उसे निग्रहस्थान मानकर वादी या प्रतिवादी यदि किसी को निगृहीत कहता है तो उस स्थल में निग्रहस्थान के उद्भावन करने वालों को 'निरनुयोज्यानुयोग' होता है।

वादी या प्रतिवादी किसी शास्त्रसम्मत सिद्धान्त को मानकर अपने मत के समर्थन के लिए यदि बाध्य होकर उस सिद्धान्त के विपरीत सिद्धान्त को मानता है तो वहाँ 'अपसिद्धान्त' (नि०) होता है।

पहले सव्यभिचार आदि पाँच प्रकारों के हेत्वाभास के लक्षण आदि कहे

गये हैं उस लक्षण से युक्त प्रत्येक हेत्वाभास निग्रहस्थान होता है। इसी से महर्षि गौतम न्यायदर्शन का अन्तिम सूत्र कहते हैं — 'हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः'।

वाचस्पति आदि अनेक प्राचीन आचार्यों ने गौतम के उस अन्तिम सूत्र के 'च' शब्द से अन्य निग्रहस्थानों की भी व्याख्या की है। तत्त्वचिन्तामणि के असिद्धि भाग की दीधिति में अन्त में रघुनाथ शिरोमणि कहते हैं—'चकारेण समुच्चितं प्रथगेव निग्रहस्थानम्'[1]।

इन बाइस प्रकारों के निग्रहस्थान में अपसिद्धान्त तथा हेत्वाभास का उद्घाटन तत्त्वनिर्णय के लिए की गई वादकथा में भी होता है। किसी-किसी मत में अन्य निग्रहस्थानों को भी वादकथा में कहा जा सकता है। किन्तु जल्प और वितण्डा में सभी निग्रहस्थानों को कहा जा सकता है। इन कथाओं में प्रतिवादी को जयलाभरूप उद्देश्य रहता है। अतएव छल तथा जाति आदि असदुत्तर का भी प्रयोग हो सकता है। इसी से महर्षि गौतम पहले ही जल्प कथा के लक्षण में कहते हैं—'छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः'। इस पंक्ति की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है। अपने अपरिपक्व तत्त्वनिश्चय की रक्षा के लिए मुमुक्षु व्यक्ति को भी जल्प और वितण्डाकथा करनी चाहिए इस विषय में गौतम की अनुमति का विवरण पहले ही दिया जा चुका है। निग्रहस्थान के विशेष ज्ञान के बिना किसी विचार का होना कठिन है। इसी से अन्यान्य नैयायिकों ने भी इस का विचार किया है। बौद्ध सम्प्रदाय गौतम के सभी निग्रहस्थानों को नहीं मानता है। बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति के 'वादन्याय' और शान्तरक्षित की उसकी व्याख्या के अध्ययन से गौतम मत के खण्डन में उनकी सभी बातों को जाना जा सकता है। बाद में वाचस्पति मिश्र और जयन्त भट्ट आदि ने धर्मकीर्ति के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। इन लोगों के द्वारा किये गये उन प्रतिवादों को अवश्य जानना चाहिए। संक्षेप में इन सभी कथाओं का कहना असम्भव था। इसलिए प्रस्तुत पुस्तक में नहीं

---

१. उक्त स्थल में रघुनाथ शिरोमणि कहते हैं कि व्यर्थ विशेषण से युक्त हेतु व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास नहीं होता है। किन्तु वह दोष वादी का है जो व्यर्थ विशेषण से युक्त हेतु का प्रयोग करता है। अतएव वह निग्रहस्थान ही है। अतएव गौतम के चरम सूत्र में अनुक्त समुच्चयार्थक 'च' शब्द से अतिरिक्त निग्रह स्थान भी गृहीत होते हैं। शिरोमणि के इस मत की व्याख्या के लिए 'विशेष व्याप्ति-दीधिति' की टीका के अन्त में इसी तात्पर्य से जगदीश कहते हैं — 'अधिकेनैव निग्रह स्थाने पुरुषो निगृह्यते।' नील धूम आदि व्यर्थ विशेषण से युक्त हेतु का प्रयोग इस के उदाहरण रूप में दिखाया जाता है।

कहा जाता है। द्वितीय संस्करण न्यायदर्शन (बङ्गलाऽनुवाद) के प्रथम खण्ड के अन्तिम अंश में तथा पञ्चम खण्ड के अन्तिम अंश में इस विषय की विस्तृत आलोचना मिलती है।

युग्माष्टद्वयेकचन्द्राब्दे (१२८२) माघस्यैकादशे दिने।
सोमवारे चतुर्दश्यां लग्ने च मिथुने शुभे॥

यशोहरप्रदेशे यो विद्वद्विप्रकुलान्विते।
ग्रामे 'तालखड़ी'नाम्नि मट्टाचार्यकुलेऽभवत्॥

पिता सुरिधरो नाम यस्य विद्वान् महातपाः।
माता च मोक्षदा देवी देवीव भुवि या स्थिता॥

सरोजवासिनी पत्नी निजमुक्त्यर्थमेव हि।
यं काशीमनयद् बद्ध्वा पूर्वं पूर्वतपोगुणैः॥

सोऽधुना कालिकातास्थो बद्धः कर्मवशादहम्।
विश्वविद्यालये वृद्धः पाठयामीश्वरेच्छया॥

अशक्तेनापि तेनाऽत्र नियुक्तेन यथामति।
न्यायदर्शनसिद्धान्त-व्याख्या सङ्क्षेपतः कृता॥

—:※:—

समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः

———

शुद्धि पत्र

पृ०	प०	अशुद्ध	शुद्ध
५	१४	विषयों के ही	विषयों के रहने पर भी
६	११	अनवरहित	अनवरहित
,,	१६	कणाद	कणाद के द्वारा
,,	१७	अदृष्ट का	अदृष्ट के
,,	,,	उसी	वहीं
,,	२०	जीवके धर्म	जीवके धर्म एव अधर्म
,,	२३	जीवों को	जीवों के
७	८	कारणों का	कारणों के
९	२६	[गणेश दयाननानि]	पृ० १० के पक्ति २० मे पहले टिप्पणी मे
१०	५	यातु यातु	याति यातु
,,	११	वनेरी	विवेकी
११	१५	अनित्य	अनित्य है
१३	११	न्यायसार मुक्ति है	न्यायसार मुक्ति है[२]
१४	१३	सर्वदर्शनसग्रह	सर्वदर्शनसग्रह म
१७	१३	महर्षि	महर्षि
१८	१२	योगाद्य	योगाद्य
,,	२०	तो उसी	उसी
,,	३१	इस विषय म आलोचन के लिए विस्तृत मन् सपादित	इस विषय म विस्तृत आलोचन के लिए मत् सपादित
१९	११	मे ही	म
२२	१	कोई	एक
२३	१९	मन्यस्तर्कः	मन्यस्तर्कः
२४	७	श्रुति ही ने	श्रुति ने ही
,,	२९	लाच का	लाच
,,	३१	एतमेवेदामिचार्य—	एतमेवेदाचार्य
२५	११	काल अथवा अन्य	काल अथवा अन्य
२६	१	के कर्ता	का कर्ता
,,	२५	जिसका तब	जिसका
,,	२८	उसका	उसका

पृ०	प०	अशुद्ध	शुद्ध
२८	१६	विशेष रूप	विशेष रूप से
,,	२६	शरीर	शरीर
२६	१५	इस	इस
,,	२९	प्रत्येक	प्रत्येक
,,	,,	सभी	सभी आत्माओं
,,	३०	किसी आत्मा का ही सभी कार्यों	किसी कार्य का
३०	६	है	है
,,	१६	कारण	करना
,,	२१	कहा जा नहीं सकता	नहीं कहा जा सकता
३१	२७	मुख	मुख
,,	३२	ज्ञाता को	ज्ञाता के
३२	१५	युक्तिओं	युक्तियों
,,	१७	महर्षि गौतम	महर्षि गौतम के द्वारा
३३	१३	गौतम	गौतम के द्वारा
३४	७	प्रमाण	प्रमाण से
३६	१	समझना	समझना
,,	१९	जन्म है	जन्म होता है
,,	२१	पतञ्जलि ने अन्त म तथा वाल्क	पतञ्जलि ने वाल्क
४०	१६	सङ्क प	सङ्कल्प
४२	१	और होगा उसी का आदि है	और होगी उसी का नाम आदि है।
,,	२४	चाप्युपलभ्यते	चाप्युपलभ्यते
४४	१०	अनुराग प्रज्ञा	अनुराग से प्रज्ञा
,,	२८	मितात्ममासः	मितात्ममासः।
५२	२६	यह विशेष रूप से	विशेष रूप से
५३	१९	पूर्व में व्याख्याकारगण	• व्याख्याकारगण के द्वारा
५८	३०	कणाद ने	कणाद
६६	१	अवस्या	अवस्था
,,	३०	समझते हैं	समझा है
६९	१	गौतम मत	गौतम के
७३	९	यह भी की	इसको भी
,,	२९	यस्मात्	यस्मात्
७६	११	अप्रुमण्डावात्	अणुमण्डावात्
,,	१९	द्रव्यों	दो द्रव्य
,,	२६	परिणाम	परिमाण
७७	१८	त्रसरेणु ही क्यों परमाणु को	त्रसरेणु को ही परमाणु क्यों
७९	२	समर्थन	समर्थन

पृ०	प०	अशुद्ध	शुद्ध
८१	१०	असन्न	असन्न
८२	५	परिणाम	परिमाण
८४	३२	घरान्त	घन्त
८६	१३	पथमोत्त	प्रथमोत्त
,,	२३	प्राग् वेकयीत. भर्तस्मटोभूत्	प्राग् वेकयीतः भरतस्ततोऽभूत्
८६	१	विसदश	निसदश
,,	२५	मन के	मन के
,,	२७	मन के	मन के
६७	८	यह	×
,,	१६	राहत	रहित
,,	,,	कुतचीन	कुतचित्
६८	१८	निमी पृथक्	पृथक्
१०५	१५	निवान की	निवाने
,,	३२	आत्मपर	आत्मा में
१०६	१४	नहती है	रहती है
,	२६	मे साथ	में
१०७	१७	अन्तर्यमन	अन्तर्गमन
१०८	५	यथार्थ में एक ही	यथार्थ रूप में
,,	१६	तात्पर्य प्रकृत	प्रकृत तात्पर्य
,,	२२	वास्तव	वास्तव
१०६	४	कहाँ पर	वहाँ पर
११०	६	के कारण	के कारण ब्रह्मपद वाच्य है
१११	२	मिश्रितारूप	मिश्रितरूप
,,	७	,,	,,
,,	२२	आज	अज
११६	१७	पार्योऽस्ति	पार्योस्ति
११८	६	२३४। ।	२।१।८३।
१२६	२३	जीवों के ससार के	ससार के
१३१	५	विशिष्ट आमा	विशिष्ट आमा है।
,,	८	समझना	समझना
१३४	१	करना	कहना
१४३	२१	वह भी	×
,,	२४	देना है	करना
,,	,,	लाम	नाम